प्राचीन भारत की दण्डनीति

ग्रन्थकार

महामहोपाध्याय डॉ० श्री योगेन्द्रनाथ बाग्ची, तर्क-सांख्य-वेदान्ततीर्थ, डी० लिट्०
दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रधान प्राध्यापक एवं दर्शनशास्त्र के
गवेषणा-विभाग के भूतपूर्व प्रधान प्राध्यापक, संस्कृत कालेज, कलकत्ता;
दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्राध्यापक, कलकत्ता विश्वविद्यालय

प्राक्कथन–लेखक

डॉ० श्री सातकड़ि मुखोपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रधान निर्देशक, नवनालन्दा महाबिहार
भूतपूर्व आशुतोष प्राध्यापक, कलकत्ता विश्वविद्यालय.

अनुवादक

श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी, शास्त्री

सम्पादक

डॉ० श्री शीतांशुशेखर बाग्ची
एम० ए०. एल-एल० बी. डी० लिट्०
प्राध्यापक, मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट्, दरभंगा



प्रथम संस्करण, जुलाई १९६१

© फार्मा. के० एल० मुखोपाध्याय,

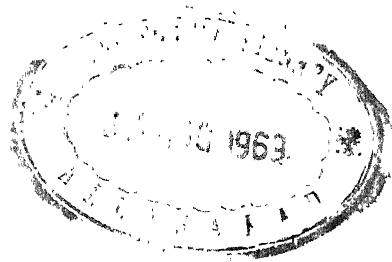
कलकत्ता १२.

260447

352-H
14

मूल्य–१०)

मुद्रक :
आर० चटर्जी
बिनानी प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड,
कलकत्ता-१



प्राक्कथन

परम पूज्यपाद महामहोपाध्याय श्रीयुत योगेन्द्रनाथ तर्कवेदान्ततीर्थ महाशय से छात्र रूप में उनके श्रीचरणों में रहकर दर्शन-शास्त्र के गूढ़तम सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों का उपदेश पाकर जैसे कृतार्थ और धन्य हो सका था, वैसे ही उनके भारतीय प्राचीन इतिहास और राजधर्म की अपूर्व व्याख्या सुनकर विस्मित और पुलकित होता था। मेरी प्रार्थना से वे राजधर्म की व्याख्या करने में प्रवृत्त हुए। और उनके अभिप्रायानुसार मैं भी इस दुरूह और विशाल अनेक गूढ़ रहस्य युक्त ग्रंथ का प्रारम्भिक वक्तव्य लिखने को तैयार हो गया। यह मेरा केवल दुःसाहस और बिना सोचे-समझे किसी कार्य को कर बैठने का प्रबल प्रमाण होगा, यह जान कर भी आचार्यचरणों के आदेश का पालन न करने के पाप से बचने के लिए अत्यन्त कातर और भीत चित्त से इसके लिए किसी तरह से तैयार हो सका हूँ।

किसी विषय की आलोचना कैसी ही क्यों न कर ली गई हो, उसका अनेक बार परिशीलन कर लेने पर भी उनके सामने उस प्रश्न के आने पर उनकी दिव्य प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि उसके रहस्योद्घाटन में एक नवीन प्रकाश डाल कर मेरे चित्त में आनन्द और आश्चर्य की हिलोरें पैदा कर देती है।

बहुत दिनों से भारतीय विद्या-समूह की आलोचनाएँ शिथिल होती जा रही हैं। इस समय भारतीय संस्कृति का कर्णधार ब्राह्मणपण्डितसमाज क्षीण प्राय हो गया है। फिर भी उनकी विद्याओं का शेष अंश जो धारण किये हुए हैं, वे भी उपयुक्त शिष्यों के अभाव में उसको नहीं दे पा रहे हैं। सन्देह होता है कि निकट भविष्य में भारतीय शास्त्रसमुदाय अबोध्य हो जायगा। और इनका पुनरुद्धार भी असम्भव हो जावेगा यदि ऐसे दुरूह ग्रन्थों को भाषा में अनुवादित और व्याख्यात करके विद्वत्समाज के समझने लायक न कर दिया जायगा।

दार्शनिक तत्वों का विचार और उनकी आलोचनाएँ आज किसी तरह किसी रूप में चल रही हैं। शिक्षित समाज और छात्र सम्प्रदाय आज कठिन तत्वों की आलोचनाओं में असमर्थ हो गया है। जो शास्त्ररहस्य बड़े परिश्रम और तीक्ष्ण बुद्धि से समझा जा सकता था, आज वह शास्त्रीय धर्म, श्रम विमुख छात्र समाज को समझना कठिन है। और भी दुःख का विषय है कि अधिकारियों में गुणों के

तारतम्य की पहचान करने की योग्यता ही नहीं रह गयी है। आज मुरमुरे और मिश्री एक भाव हैं। इतना ही नहीं, अनेक जगहों में तो मिश्री का आदर कम और मुरमुरों का आदर अधिक देखा जा रहा है। देश के पतन के जो लक्षण पहले कुछ-कुछ प्रकट हुए थे, आज वे सब स्थूल रूप से पूरे प्रकट हुए देखे जाते हैं। बहुत दिनों से भारतवर्ष में बौद्धिक और आध्यात्मिक ग्लानि शुरू हो गई है। किन्तु एक दीर्घ समय तक छै सौ वर्ष मुसलमानों के शासन में भारतवर्ष में उसकी विद्या का उत्कर्ष कम नहीं हुआ था। सच्ची बात कही जावे तो बहुत से विद्या-स्थानों का अभ्युत्थान इसी युग में संगठित हुआ था। उसका कारण यह है कि उस समय हिन्दू समाज राष्ट्रिय स्वतंत्रता से च्युत होने पर भी जातीयता और अपनी संस्कृति में गौरव-बुद्धि से भ्रष्ट नहीं हुआ था। वेद, वेदांग, वेदान्त, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, दायभाग और अलंकार शास्त्र की परिपुष्टि इस युग में ही हुई। किन्तु दण्डनीति और राजधर्म की जरा भी आलोचना इस समय में नहीं हुई, उसके अभ्युदय और परिपुष्टि की बात तो दूर रहे।

पूज्यपाद आचार्यदेव ने अनेक प्रमाणों से प्रतिपादित कर दिया है कि अन्ततः आठवीं शताब्दी से भारतवर्ष में दण्डनीतिशास्त्र की चर्चा प्रायः बन्द ही हो गई थी। राजधर्म का अनुशीलन न होने के कारण राष्ट्ररक्षा के लिए जो उपाय अपेक्षित होते हैं, वे सब उपेक्षित ही होते गये। फल यह हुआ कि उस समय के राजा लोग म्लेच्छ दस्युओं के आक्रमणों को न रोक सके और न उनको नष्ट करने के उपाय ही अपना सके। भारत छोटे-छोटे राज्यों में अनेकधा विभक्त हो गया और वे सब छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। इससे वे सभी क्षीणशक्ति हो गये। इतना ही नहीं अपितु मध्य एशिया के और प्रत्यंत देशवासी म्लेच्छ दस्युओं के अधिनायकों के आक्रमणों को विफल कर देने के लिए संघबद्ध होने की आवश्यकता भी अनुभव न कर सके। बल्कि इसके विपरीत अपने राज्य के परवर्ती शत्रुराज्य को नष्ट कराने की इच्छा से म्लेच्छ राजाओं की मदद करने लगे। उदाहरण के लिए कान्यकुब्ज और काशी के राजा जयचन्द्र के व्यवहार का उल्लेख किया जा सकता है। जयचन्द्र ने टर्की के राजा महम्मद गोरी की मदद करके पृथ्वीराज के नाश करने में सहायता दी। जयचन्द्र का यह दुर्व्यवहार ही भारतवर्ष में मुसलमानों की राज्य प्रतिष्ठा का कारण हुआ। राज-नीतिशास्त्र की मोटी-मोटी बातें भी जानने पर यह संभव न था। कामन्दक ने कहा है—

"यस्मिन्नुच्छिद्यमाने तु रिपुरन्यः प्रवर्तते ।
न तस्योच्छित्तिमातिष्ठेत् कुर्वीतैनं स्वगोचरम् ॥"

जिस शत्रु के उच्छेद करने पर उसकी जगह दूसरा शत्रु आ जमे ऐसे शत्रु को नष्ट करने की चेष्टा करना अपने ही विनाश का कारण होता है। इस दशा में

साम, दान, भेद अथवा दण्ड से उसको अपने वश में और अनुकूल कर लेना ही उचित कर्त्तव्य होता है।

कामन्दक की यह उक्ति बड़ी गंभीर तात्पर्यपूर्ण है। इङ्गलैण्ड के दूसरे महायुद्ध के समय उस समय के प्रधानमंत्री चर्चिल और प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट ने जर्मनी को बिना किसी शर्त्त के आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य करके भारी राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिचय दिया है। इसका फल हुआ कि एक तरफ तो जर्मनी की युद्ध-शक्ति का सर्वथा विनाश करने का प्रयत्न किया गया और दूसरी ओर इसी के साथ-साथ रशिया को द्विगुण शक्तिशाली बनाकर अपना भूम्यनन्तर राष्ट्र बना लिया। एक दिन दोनों ही राष्ट्रों को इस भूल का प्रायश्चित्त करना होगा।

भारतवर्ष के इतिहास की चर्चा करने पर देखा जाता है कि भारतीय राजन्य-गण क्षात्र-शक्ति और सम्पत्ति में वैदेशिक राजाओं की अपेक्षा किसी तरह भी कम न थे। यदि सब राजा लोग संघबद्ध हो म्लेच्छों का सामना करते तो म्लेच्छ कभी भी भारतवर्ष में नहीं घुस सकते थे। किन्तु दुःख का विषय है कि भारतीय राजा और प्रजा दोनों का ही राजनीतिक ज्ञान अत्यन्त संकुचित एवं संकीर्ण हो गया था, जिससे कि वे सब म्लेच्छों के आक्रमण को रोकने के लिए संगठित होने की आवश्यकता भी न अनुभव कर सके। जिस समय भारत में सार्वभौम राजाओं का शासन मौजूद था उस समय भारत पर किसी भी विदेशी राजा का आक्रमण कभी नहीं हुआ। मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य के आखिरी उत्कर्ष के समय तक भारतवर्ष विदेशीय आक्रमणों से क्षति-प्राप्त नहीं हुआ। मुगल साम्राज्य के अभ्युदय काल में और बृटिश साम्राज्य के अभ्युदय काल मे भारतवर्ष अन्य विदेशियों के आक्रमणों से बचा रहा। दुनिया की ऐसी कोई राज शक्ति नहीं जो समस्त संघबद्ध भारत पर आक्रमण करने का साहस कर सके।

इस संघबद्धता का अभाव तभी हुआ है जब सार्वभौम राज्य न रहने से भिन्न-भिन्न प्रदेशों के छोटे-छोटे राजा स्वतंत्र होकर आपस में कलह और युद्ध में प्रवृत्त हुए। आज बृटिश साम्राज्य की समाप्ति होने से शासनाधिकार भारतीयों के हाथ में सौंपा गया है। किन्तु खेद का विषय होने पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत के विभिन्न प्रदेशों में आज असन्तोष और अविश्वास की अग्नि सुलगने लगी है। यदि समय रहते इसका प्रतिकार न किया गया तो यह असन्तोष की अग्नि सारे भारतवर्ष को ग्रस लेगी और छोटे-छोटे जनपदों में विभक्त होकर भारतवर्ष फिर से विदेशियों को आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य होगा। इस भेद वृद्धि और असंतोष का कारण है—राजपुरुष और शासक वृन्द का राज-नीतिशास्त्र का अत्यल्प ज्ञान अथवा अज्ञान। एक दीर्घकाल से आठवीं शताब्दी से पराधीनता में रहनेवाला भारतीय विद्वत्समाज राजधर्म की आलोचनाओं की आवश्यकता का अनुभव करने का सुयोग नहीं पा सका। राजनीति की आलोचना

करना विदेशी शासकों का ही कर्त्तव्य समझा गया था। बृटिश शासन कालमें यूरोपीय राजनीतिशास्त्र ही पाठ्यक्रम में परीक्षा का विषय रहा। बहुतों ने इसमें विशेष योग्यता या परीक्षाओं में उसकी पूर्ण अभिज्ञता भी दिखा दी। किन्तु यह विद्या मूलतः विदेशियों की स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही उपयोगी थी। इस विद्या में भारतीयों का ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान न था और न वे इसके उपायों का प्रयोग ही कर सकते थे। इससे यह नीतिज्ञान भारतवासियों को शुभ फलप्रद न हुआ। लज्जा का विषय है कि आज वर्तमान में (स्वतंत्र भारत में) राष्ट्रनायकगण भारतवर्ष की प्राचीन राष्ट्र पालन नीति के साथ तनिक भी परिचय रखने का आग्रह नहीं कर रहे हैं। इसका फल है कि वे विदेशी शासकों की चलाई हुई नीति ही काम में ले रहे हैं और उसमें जो गलतियाँ या कमी है वे भारतीयों में शासन के प्रति विराग पैदा करके साम्राज्य पालन को एक बड़ा दुष्कर और विपत्तिजनक कार्य बना रही है। फिर भी हर हालत में उसका ही अनुसरण चल रहा है। प्राचीन ऋषि और आचार्यगणों ने भारतवर्ष की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए तथा भारत के सर्वाङ्गीण कल्याण और उन्नति के लिए चिरकाल तक खूब विचार करके शास्त्रों में उसके सिद्धान्त बनाकर रखे हैं। आज उनका अधिकांश विलुप्त हो गया है। उन सब सिद्धान्तों का सारसंग्रह रामायण, महाभारत और सब महाकाव्यों में जहाँ-तहाँ फैला हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ये सब सिद्धान्त संगृहीत हुए हैं। चिरकाल की उपेक्षा ही दण्डनीतिशास्त्र की दुर्दशा का अन्यतम कारण है। वेदान्त, न्याय, मीमांसा आदि दर्शनशास्त्रों की आलोचना नष्ट नहीं हुई। धर्म-शास्त्र का अनुशीलन भी पण्डितों के आदर का विषय रहा। किन्तु कौटिल्य का अर्थशास्त्र किसी प्रामाणिक टीका और भाष्य के अभाव के कारण अनेक स्थानों में अबोध्य और बहुत जगहों में दुर्बोध हो गया है। बहुत लोग जानना चाहते हैं कि इस शास्त्र की इतनी उपेक्षा क्यों की गई? इसका उत्तर आलोच्य ग्रंथ में ही मिलेगा।

भारतवर्ष में बहुत से निवृत्ति मार्ग के आचार्यों तथा शासकों ने पैदा होकर भारतीय जनों को संसार से विरक्त होने के लिए प्रबुद्ध किया। इसका फल हुआ कि भारतीय प्रजा वर्ग ऐहिक उन्नति और सम्पत्ति साधन में हतादर हो गया। विशेष भय का कारण तब हुआ जबकि भारत के प्रबल प्रतापी राजा लोग इस वैराग्य साधन में तत्पर हो धर्मोपदेष्टाओं के आसन को राजसिंहासन की अपेक्षा अधिक आदर का विषय समझने लग गये। सम्राट् अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य क्षीण होने लगा। जिस विशाल सेना के बल से अशोक ने कलिंग देश पर विजय पायी, उसकी मृत्यु के थोड़े दिन बाद ही राजा खारवेल ने कलिंग पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। सम्राट् हर्षवर्द्धन के बाद उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

बौद्ध धर्म का विस्तार भारतवर्ष के आध्यात्मिक साम्राज्य प्रतिष्ठित होने पर ही हुआ है, किन्तु क्षत्रियों की शक्ति नष्ट होने पर अध्यात्म शक्ति दुर्बल हो जाती है यह सत्य भारतवासियों ने आध्यात्मिक जोश में भुला दिया। उसका फल हुआ मुसलमानों के आक्रमण करने पर भारतवर्ष में बौद्ध धर्म विध्वस्त हो गया। पृथ्वी के अन्यान्य बौद्ध धर्मावलम्बी देशों ने भी मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया। उदाहरण के लिए अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, जावा द्वीप, सुमात्रा आदि का उल्लेख करना असंगत न होगा।

बौद्ध, जैन आदि एकान्त वैराग्य प्रधान, केवल निवृत्तिमार्ग परायण धर्म के विरुद्ध ब्राह्मणों को अनेक प्रकार की आपत्तियाँ थीं। उनमें सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि बुद्ध, महावीर आदि धर्म प्रवक्ताओं ने अनधिकारी जन-समूह को वैराग्य साधनों में प्रवृत्त किया। क्षात्र-शक्ति तथा ब्राह्मण शक्ति दोनों मिलकर ही ऐहिक और आध्यात्मिक अभ्युदय का कारण होती हैं। भगवान् मनु ने कहा है कि :

"नाब्रह्म क्षत्रमृघ्नोति नाक्षत्रं वर्द्धते तपः।"

क्षात्र शक्ति को नष्ट करने वाला होकर बौद्ध धर्म अपने ही विनाश का कारण बन गया। जैन धर्म राजपूताने में क्षत्रिय राजाओं की छत्रछाया में अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सका। इसका कारण यह था कि इन सब राज्यों में मुसलमानों का प्रभाव नहीं पड़ सका था।

हिन्दू लोग धर्म प्राण हैं—धर्म का विरोध या विनाश करके उन्नत्ति प्राप्त करना हिन्दुओं के आदर्श से बाहर है। किन्तु वेद मार्गानुयायी आचार्यों ने जो धर्म का स्वरूप बतलाया है वह एकदेशिकता दोष से दुष्ट नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के साधन का उपयोगी, समाज सुव्यवस्था और राष्ट्रिय सुव्यवस्था का ध्यान करके ऋषिगण एवं आचार्यगणों ने वैदिक धर्म से भारतवर्ष को चारों तरफ फैलने वाली सम्पत्तियों का अधिकारी बना दिया। इस सर्वतोमुखी धर्म की व्यवस्था में आदर न रखने के कारण और थोड़े ही मे परम-पुरुषार्थ मोक्ष की दुराकांक्षाओं से अभिभूत हो भारतवासी ऐहिक, पारलौकिक दोनों ही सम्पत्तियों से भ्रष्ट हो गये। उनका ऐहिक अभ्युदय धूल में मिल गया और आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग कण्टकाकीर्ण हो गया। भारतवर्ष के ऋषियों ने कहा है कि आध्यात्मिक मुक्ति ऐहिक सम्पत्तियों का अतिरेक मात्र है। क्षत्र और ब्रह्म का समन्वय नष्ट हो जाने से सारा पुरुषार्थ ही भ्रष्ट हो गया। इस प्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में "भारतीय दण्डनीति और उसकी उपयोगिता" का प्रतिपादन करने में पूज्यपाद ग्रंथकर्त्ता ने भीष्म की उक्ति उद्धृत करके यह प्रमाणित कर दिया है कि जो धर्म को केवल पारलौकिक अभ्युदय का कारण समझते हैं, और राष्ट्र रक्षा एवं समाज रक्षा से सर्वथा उदासीन रहना ही जिनके मत में धर्म की

सबसे उत्कृष्ट सीढ़ी है, उन्होंने ही इस दण्डनीतिशास्त्र की सर्वथा उपेक्षा की, जिसका फल हुआ कि विदेशी दस्युधर्मी, परराष्ट्रलोभी, परकीर्तिमत्सरी जातियों से पीड़ित होकर भारतवासी निःसीम दुर्दशा के भागी हो गये। वेद और वेद-मूलक शास्त्रों में ऐसे एकदेशी धर्म का समादर कहीं देखने में नहीं आता।

बौद्ध और जैन धर्म के प्रवक्ता बुद्ध और महावीर ने राजधर्म की निन्दा नहीं की और वर्ण तथा आश्रमों की व्यवस्था एवं राजधर्म में निरत राजा लोग आपस में युद्ध विग्रहादि व्यापार में भी सर्वथा उदासीन न थे। किन्तु परवर्ती काल में भारतीय जनता के चित्त में असामयिक वैराग्य पैदा हो गया, जिससे देशवासी जन सांसारिक सम्पत्ति सम्पादन एवं उसकी रक्षा करने में हतोत्साह हो गये। इसी से तो प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग का समुच्चय वेदोक्त धर्म का विशिष्ट लक्षण है। एकान्त धर्मपरायणता ही भारतवासियों के लौकिक पतन का कारण है, यह जो सोचते हैं वे नितान्त भ्रान्त और वास्तविकता को न समझने वाले हैं। यह बात सत्य की खोज करने वाले व्यक्ति इस आलोच्य ग्रंथ को पढ़कर स्वयं समझ सकेंगे।

वर्तमान इस ग्रंथ से दण्डनीतिशास्त्र के अवश्य ज्ञातव्य विषयों का परिज्ञान हो सकेगा। इस विषय में हमें जरा भी संदेह नहीं। और इसके अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीति आदि ग्रन्थों में जो राजधर्म के सूक्ष्म तत्व सूत्र रूप में हैं एवं आख्यान और आख्यायिका तथा ऐतिहासिक दृष्टान्तों को छोड़ कर प्रतिपादित हुए हैं, उन सबको सुस्पष्ट समझने के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होगा। उक्त ग्रन्थों में राष्ट्रनीति के विषय नीरसता से आलोचित हुए हैं। वर्तमान इस ग्रंथ में रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र, काव्य आदि से राजधर्म की सरस, सजीव और चित्ताकर्षक आलोचना का आश्रय ले साधारण पाठक भी अच्छी तरह समझ सकें, इस तरह सब बातें प्रदर्शित की गई हैं। ग्रंथकार ने अपनी प्रतिभा से दण्डनीतिशास्त्र की उपेक्षा और उसकी अनभिज्ञता कहाँ तक अकल्याण का कारण हो सकी है, यह इसमें दिखा दिया है। इन्होंने केवल युक्ति सम्पन्न बुद्धि की सहायता से ही राजधर्म समझा और समझाया हो, ऐसा नहीं है, अपितु हार्दिक अनुभव द्वारा इन शास्त्रों के प्रमेय समूह को रसयुक्त कर दिया है। हम आशा करते हैं कि देश का शिक्षित समाज इस ग्रंथ की आलोचना करके व्यक्तिगत कल्याण का मार्ग जानने में समर्थ हो सकेगा। इस ग्रंथ की आलोचना करने पर सहृदय पाठक समझ सकेंगे कि रामायण और महाभारत के रचना काल में देशवासी ऋषि-मुनि कितने मनीषी और साधारण प्रजा वर्ग राज्य परिचालन में तथा राज्य संरक्षण में और उसके अभ्युदय साधन में कितना सावधान था। राज्य और राज्य परिचालक अधिकारी वर्ग राज्य रक्षा के विषय में विशेष सावधान था। राज्य रक्षा का प्रधान अंश गुप्तचरों द्वारा

अन्दर बाहर के सभी राष्ट्रों का सारा समाचार ज्ञात होता रहता था। ग्रंथकार ने बड़े दुःख के साथ वर्तमान राष्ट्र के "डिटेक्टिवों" के कार्यो की समालोचना की है। प्रजा रक्षण की अपेक्षा प्रजा पीड़न ही इस विभाग के अधिकारी पुरुषों का अधिक कर्त्तव्य मालूम होता है। इस समय जिसको International Politics कहा जाता है, उसका यथार्थ स्वरूप द्वादश राजमण्डल की व्यवस्था के अनुरूप ही है। राजकार्यों में जिनको नियुक्त किया जाय, वे सभी निरालस्य स्वभाव, तीव्र बुद्धि और विशुद्ध चरित्र होने चाहिए। इस विद्या की शिक्षा और साधना में जिनकी आवश्यकता है, इस ग्रंथ में विस्तार से और सरल भाषा में प्रतिपादित की गई है। वर्तमान भारतीय शासन व्यवस्था यदि हमारी ऐसी बुद्धि और चरित्र सम्पत्ति की आवश्यकता का अनुभव करे तो देश की यह दुर्नीति और चोरबाजारी की अबाध गति रुक जावेगी, इसमें सन्देह नहीं।

ग्रंथकार किसी राजपद के चाहने वाले नहीं हैं। पहले समय में त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्त्ति ऋषि मुनि गण राजा और प्रधान पुरुषों को कल्याणकारी उपदेश दिया करते थे। जो लोग राष्ट्र के उन्नत पदों पर अवस्थित हैं, जो लोग सारी सम्पत्ति एवं सैन्य बल के अधिकारी हैं, छोटे विचार रखने वाले लोग ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उनकी खुशामदी बातों से उनका मनोरंजन किया करते हैं। जो लोग सांसारिक उच्चाकांक्षाओं को छोड़ चुके है, वे ही ऐसे शक्ति-शाली पुरुषों को उनकी भूल और कमी को दिखा सकते हैं। अपना मतलब सिद्ध करने के लिए प्रशंसा करने वाले लोग राजाओं के अधःपतन का कारण होते हैं। सर्वदा प्रिय बातें सुनने के अभ्यस्त राजा या प्रधान राजकर्मचारी लोग अप्रिय एवं हित बातें सुनना नहीं चाहते हैं। भारतवर्ष से आज विदेशियों का शासन उठ गया है उनके स्थान पर जो आज देश का शासन सूत्र अपने हाथों में ले चुके हैं, उनमें से प्रायः सभी दण्डनीति विषयक शिक्षा और उसके ज्ञान से बहुत ही कम परिचय रखते हैं। इस पर भी उनको अपनी बुद्धि और विवेकशीलता पर इतनी आस्था और विश्वास है कि उनको साधारण व्यक्तियों के हित अनहित की, सुख-दुःख की बात सोचने का अवसर ही नहीं है। जो व्यक्ति अँग्रेजी शासन के विरोध में पकड़े गये या जेल जा चुके हैं वे ही सब आज राजपदों के अधिकारी हुए हैं। जो लोग पदाधिकार पाने से वंचित रह गये है वे भी अनेक हथकण्डों से—जैसे मूल्य-नियंत्रण (कण्ट्रोल) या व्यापार के अधिकार की अनुमति का पत्र (लाइसेंस) आदि की सहायता से अपना पेट भरने में भी अयोग्य स्वजन पोषण में लगे हुए हैं। देश प्रेम आज नाममात्र को रह गया है और यह एक बहानामात्र हो गया है। दुःशासन से पीड़ित जनता आज आर्तनाद कर रही है। इस अना-चार और दुर्नीति का कारण क्या है? आज इस पर विचार करने का समय आ गया है। जनता को भुला कर उनके समर्थन (वोट देना) की सहायता से प्रधान

पद प्राप्त कर देश को प्रवंचित करना ही आज नीति हो गई है। इसका प्रतिकार तभी संभव है जबकि देश का शिक्षित सम्प्रदाय और साधारण जनता राजनीति के मूल सिद्धान्तों को जान सकेगी। इस ग्रंथ को पढ़ने से उनको यह परिज्ञान प्राप्त हो सकेगा ऐसी आशा की जाती है।

इस तरह का ग्रंथ पहले नहीं रचा गया। शिक्षित समाज की जो आज यह धारणा हो गई है कि प्राचीन भारत केवल धर्म कर्मानुष्ठान और विवेक वैराग्य की आलोचना में ही निरत था। इस धारणा के अनेक कारण हैं। जिनमें पहला यह कारण है कि जो समाज पहले विद्या और संस्कृति का धारक और वाहक था वही ब्राह्मणपण्डित समाज राजधर्म की आलोचनाओं से विमुख हो गया। संस्कृत एसोसियेशनों में भी काव्य, व्याकरण, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विषय परीक्षणीय रूप में स्वीकार किये गये। किन्तु अर्थशास्त्र भी कोई आलोचनीय और ज्ञातव्य विषय है इसको अधिकारी-वर्ग बिलकुल भूल ही गया। ब्राह्मणपण्डित मण्डली राजनीति से अनभिज्ञ होने के कारण उपेक्षित हो गयी। संस्कृत भाषाभिज्ञ व्यक्ति इहलौकिक उन्नति के लिए किसी तरह भी उपयुक्त हो सकते हैं, यह आज विश्वास करना असंभव हो गया है। इसका कारण है कि पण्डित समाज ने पूर्ण विद्याओं और धर्म के आधारभूत दण्डनीति ज्ञान में उपेक्षा दिखाई। आशा की जाती है कि अतः पर विद्यालयों में दण्डनीति पहले की तरह गौरवमय स्थान पा सकेगी। और इसका परिशीलन करके नवीन और प्राचीन परिस्थितियों के सामंजस्य पैदा करने में शिक्षित समाज प्रबुद्ध और अग्रणी बन सकेगा। इस आलोच्य ग्रंथ के "अर्थशास्त्र के अनादर का कारण" नामक चतुर्थ परिच्छेद का अध्ययन करने पर जाना जा सकेगा कि भारतवर्ष में राष्ट्रिय चेतनाओं के ह्रास के फलस्वरूप ही विदेशी दस्युभावापन्न राजाओं के द्वारा भारत जीत लिया गया। सबसे ज्यादा भय का कारण तब हुआ है जबकि मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर भट्टारक जैसे विज्ञ व्यक्ति राजधर्म को अर्थशास्त्र की कोटि में रख कर धर्मशास्त्र के साथ अर्थशास्त्र का विरोध होने पर अर्थशास्त्र को दुर्बल्ल और हीन मानने लगे। बड़े आनन्द का विषय है कि इस दुरूह प्रश्न पर अच्छी तरह विचार करके पूज्यपाद ग्रंथकार ने मिताक्षराकार के इस सिद्धान्त का शास्त्र विरोध और युक्ति विरोध दिखा कर इसकी असारता और असत्यता प्रमाणित कर दी है। मैं ब्राह्मणपंडित समाज से विशेषकर धर्मशास्त्र के अध्यापकों से इस चतुर्थ परिच्छेद को निर्मत्सरता पूर्वक श्रद्धान्वित चित्त से अध्ययन करने का निवेदन करता हूँ। अस्वाभाविक वैराग्य चर्चा करते रहने से ऐसा चित्त विकार पैदा हो गया है। वर्तमान शास्त्रों में मीमांसा सम्मत न्याय और बुद्धि के द्वारा सिद्धान्त निरूपण करने की आवश्यकता मालूम होने लगी यह विशेष रूप से अपेक्षित है। आशा करता हूँ कि इस विषय में कुशाग्रबुद्धि, तत्व जिज्ञासु और देश हितैषी विद्वत्समाज नई प्रेरणा दे सकेगा।

उस भावी पंडितवर्ग में सबसे प्रथम पूज्यपाद ग्रंथकार अग्रणी हुए हैं। उन्होंने दार्शनिक ज्ञान-धारा से परिष्कृत और निर्मल बुद्धि के प्रकाश में अन्धकारमय मार्ग में प्रकाश परम्परा प्रवृत्त की है। उनके दिखाये मार्ग का अवलम्बन कर हम सब तरह के पुरुषार्थ साधन में प्रवृत्त हो सकें यही भगवान् से प्रार्थना करते हैं।

जो लोग यूरोपीय राजनीति की ही आलोचना करते हैं उनके पक्ष मे भी इस ग्रंथ की विवेचना करना अत्यन्त आवश्यक है। दण्डनीतिशास्त्र के निगूढ़ रहस्य जो एक मात्र अपरोक्ष ज्ञान और प्रयोगों द्वारा अवगत किया जा सकता है, वह केवल भारत के ऋषियों तथा आचार्य गणों ने अत्यन्त उदारचित्त से हमारे सामने प्रकट कर दिया है। केवल कल्पना या थियोरी ज्ञान से हमारा कल्याण नहीं होगा। जैसे जड़ विज्ञान की थियोरी मात्र ज्ञात होने से हमारे वैज्ञानिक उपायों से हम देश के कल्याण साधन में असमर्थ रहते हैं वैसे ही राजनीति की थियोरी मात्र का फल केवल मनोविनोद मात्र ही होगा। दृष्टान्त रूप में एक दो बातों के रहस्य का उल्लेख कर देना यहाँ संगत है। अर्थशास्त्र में "शत्रु मित्र विवेक" एक प्रधान विचारणीय विषय है। शत्रु प्रायः तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। कृत्रिम, सहज और प्राकृत। किसी अपकार के द्वारा बिगड़ा हुआ व्यक्ति कृत्रिम शत्रु होता है। शत्रु का अपकार ही इसे शत्रु बनाता है। अंग्रेज भारतीयों के कृत्रिम शत्रु थे। स्वार्थ सिद्धि के लिये ही अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार किया था। आज से शायद फिर अंग्रेज हमारे मित्र भी हो सकते हैं। यदि अंग्रेज और भारतवासी स्वार्थ सिद्धि के अनुरोध से आपस में एक दूसरे का हित साधन करने लगें तो अंग्रेज हमारे मित्र होंगे। उपकार अर्थात् स्वार्थसिद्धि के अनुकूल व्यवहार करना ही मित्र का लक्षण होता है। अपकार करना ही शत्रु का लक्षण है। ऐसे शत्रु या मित्र कृत्रिम शत्रु और कृत्रिम मित्र होते हैं। अन्तरंग और जन्म से ही अपकार करते रहने वाले व्यक्ति सहज शत्रु होते हैं। जो व्यक्ति या उनका समुदाय या जाति अथवा एक संघ अपनी जाति या संघ की प्रधानता जमाने के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं, और किसी उपकार या हित साधन करने से भी जिनका चित्त नहीं जीता जा सके, वे सहज शत्रु होते हैं। ज्ञाति (गोती) शत्रु इसका उदाहरण है। नार्मन गण इंगलैण्ड को जीत कर वहाँ रहने से स्याक्सन जाति के सहज शत्रु कहलाने लगे। विदेशी मुसलमान भारत को जीत कर भारत में रहने लगे इससे भारतवासी हिन्दू लोगों के वे सहज शत्रु गिने जाने लगे। समय के प्रभाव से कुछ दिनों में नार्मन और स्याक्सन एक जाति हो गये इससे उनकी वह शत्रुता जाती रही। इसका कारण नार्मन और स्याक्सन नाम से कोई अलग जाति आज इंग्लैण्ड में मौजूद नहीं है।

तीसरा शत्रु-प्राकृत या स्वाभाविक शत्रु होता है। अपने राष्ट्र से मिला हुआ राष्ट्र (भूम्यनन्तर राष्ट्र) या राष्ट्रवासी प्राकृत शत्रु होता है। पड़ोसी राज्य

चिरकाल से ही शत्रु होने को बाध्य हुआ है। यदि वह आपत्ति के समय साधारणतया शत्रु के भय से मित्र हो भी जावे तो वह मैत्री अपना मतलब निकालने तक ही स्थायी होगी। फ्रांस और इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की सीमा मिलने से ये भूम्यनन्तर राष्ट्र होते हैं। अतः उनकी शत्रुता स्वाभाविक है। जर्मनी के आक्रमण के भय से अंग्रेज और फ्रांसीसी जाति मैत्री के बन्धनों से बंध गई किंतु युद्ध समाप्त होने पर उनकी शत्रुता गुप्त रूप से और प्रकाश रूप से प्रकट हो गई है। पड़ोसी राष्ट्र को जो उपकार द्वारा मित्र बनाने का प्रयास करते हैं, उस प्रयास का धान के ऊपर की भूसी के रूप में परिणत होना (व्यर्थ होना) अनिवार्य है। आज हमारे राष्ट्रनायकों ने राजनीति का ज्ञान न रहने के कारण और अंग्रेजों की कूटनीति से प्रवंचित हो भारतवर्ष में पाकिस्तान की रचना कर दी। इसका फल है, एक स्वभाव शत्रु राज्य और जाति का निर्माण हो गया, यह बात वे न समझ सके। आज अनेक तरह से भाई चारा दिखा कर और धन तथा युद्ध की चीजें देकर पाकिस्तान को खुश करने में लगे हैं। किन्तु इसका फल विपरीत देख कर वे आश्चर्य कर रहे हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि का थोड़ा भी ज्ञान होने पर इस प्रकार आश्चर्य करने का कोई कारण न होता। वे कहते हैं कि लड़ाई रोकने की वजह से ही हमने यह व्यवस्था स्वीकार की थी। किन्तु लड़ाई में जो बुरी दशा होती वह न टल सकी। कई लाख हिन्दू और सिख देश से निकाले गये, उनकी सारी सम्पत्ति और धन छीन लिया गया, और लाखों स्त्रियों को धर्मच्युत किया गया, और उनका सतीत्व नष्ट किया गया। म्याकियाभेलि कहते हैं कि "लड़ाई रोकी नहीं जा सकती उसमें काल विलम्ब किया जा सकता है।" किन्तु इसमें देर करने से शत्रुपक्ष परिपुष्ट होने का सुयोग पा सकता है। राजनीतिक क्षेत्र में भूल का फल बड़ा भयानक होता है। पृथ्वीराज चौहान ने यदि बन्दी किये हुए मुहम्मद गोरी का सिर काट लिया होता तो भारतवर्ष का इतिहास और ही तरह का होता। इस भूल का ही फल है कि भारतवर्ष एक दीर्घकाल आठसौ वर्ष तक पराधीनता के नागपाश में बंधा रहा और अन्त में आज दो भागों में बँट गया। जर्मन राष्ट्र नायक हिटलर यदि रूस देश पर आक्रमण न करता तो आज जर्मन जाति का अस्तित्व लुप्त प्राय नहीं होता। जो राजनीतिशास्त्र में निपुण हैं और गंभीर ज्ञान सम्पन्न तथा धीर और मंत्र को सुगुप्त रखने में कुशल है—उनको ही प्रधान पद पर बैठना उचित है।

बहुत दिनों से भारतवासी किसी सम्प्रदाय विशेष या जाति विशेष के कल्याण की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। सम्प्रदाय के हितों से ही व्यक्ति का भला हो सकता है यही नीतिशास्त्र में जगह जगह प्रतिपादित हुआ है। मिल, बेन्थम आदि इंग्लैण्ड के Utilitarian या हितवादी नीतिज्ञ जन—"The greatest good of the greatest

number" बहुत आदमियों की भलाई को ही व्यक्तिगत भलाई का कारण सिद्धान्त रूप से मानते हैं। अंग्रेज जाति की अस्थि मज्जा तक में यह तत्व समाया हुआ है। प्राचीन भारत में नीति शास्त्रकारों तथा धर्मशास्त्रकारों ने बारबार यही तत्व प्रतिपादन किया है। धर्मपरायणता भारत की राष्ट्रिय अवनति का कारण है, जो यह कहते हैं वे अतत्त्वदर्शी हैं अथवा देशवासियों को झूठे प्रचार द्वारा व्यामोहित करके एक दलबन्दी का उद्देश्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भारतवासी अति प्राचीन काल से अहिंसा धर्म के गौरव और कल्याण कारिता का प्रचार करते रहे हैं। वेद, उपनिषद् से लेकर पुराण, इतिहास, काव्य, साहित्य, सभी में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, (चोरी न करना) आदि धर्मों की महिमा अकुण्ठ कण्ठ से भारतवर्ष के कोने कोने में प्रचारित हुई है। वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा और सत्य की नींव पर भारतवर्ष की स्वतन्त्रता निर्माण करने का प्रयास किया है। किन्तु बहुत-सी जगहों में अहिंसा और सत्य का स्वरूप सहज बुद्धि से निरूपण करना कठिन हो जाता है। साधारण जनता के सामने ऊँचे आध्यात्मिक तत्वों के प्रचार करने में विपत्तियाँ भी बहुत हैं। इन सब तत्वों को विकृत रूप में समझ लेना अनेक अनर्थों का कारण हो जाता है। महात्मा गांधी ने जो राष्ट्र के स्वरूप का स्वप्न देखा था उसमें सैन्य, रक्षक पुरुष और बाहुबल के प्रयोग का अवकाश न था। महाभारत में कहा है कि अत्यंत प्राचीन सत्य युग में किसी शासन की व्यवस्था की जरूरत न थी—सब ही धर्मपरायण, क्रोध, लोभ वर्जित और जैसा मिल सका उसी अन्न वस्त्र से संतुष्ट थे। किन्तु समय के प्रभाव से अधर्म का प्रादुर्भाव हुआ। और तब "मात्स्यन्याय" (बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है इसी को मात्स्यन्याय कहते हैं) पैदा हो जाने पर राज-निर्वाचन और राजधर्म बनाने की आवश्यकता हुई। जो कुछ भी हो, अब फिर ऐसा समय आना संभव नहीं मालूम होता। जब तक मनुष्यों के चित्त काम, क्रोध, लोभ आदि निकृष्ट वृत्तियों से प्रभावित होते रहेंगे, और जब तक मनुष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये दूसरों को ठगते रहेंगे, अहिंसा और चोरी, प्रवंचकता और छल कपट का आश्रय लेने में कुण्ठित न होंगे, तब तक दुर्बल मनुष्यों के हित साधन के लिए तथा दुराचारों को रोकने के लिए दण्ड व्यवस्था की जरूरत रहेगी। वर्तमान कांग्रेसी शासन संस्था भी देश के शासन के लिये बाहु बल का प्रयोग करने के लिये बाध्य हो रही है। इसमें लज्जा और संकोच का कोई कारण नहीं। अहिंसा के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान न होने से ही इस तरह के संदेह पैदा हुआ करते हैं। यदि आध्यात्मिक या दैवी शक्ति के प्रभाव से आततायी के मन में सत्वगुण के उद्रेक से प्रेम रस पैदा किया जाना संभव हो, अथवा अपनी उस दैवी शक्ति से शारीरिक दण्ड बिना दिये ही आततायी को अधीन किया जाना संभव हो तो इस दशा में बाहु बल का प्रयोग अनावश्यक है।

किन्तु आज तक ऐसा संभव नहीं हुआ। भगवान् श्री कृष्ण, बुद्ध, महावीर और यीशु प्रभृति महापुरुषों ने योग प्रभाव से पाशविक शक्ति का प्रतिरोध नहीं किया और न वे आततायी के चित्त को प्रेम रस परिप्लुत ही कर सके, यह इतिहास से प्रमाणित हो चुका है। महात्मा गांधी ने राजनीति क्षेत्र में बाह्य और आभ्यंतर अहिंसा की सर्वतोमुखी स्थापना करने का मरण पर्यन्त प्रयत्न किया, किन्तु वे उसमें सफलता न पा सके। विश्वनियन्ता जगदीश्वर भी जब भूकम्प विद्युत्पतन आदि आधिदैविक उपायों के द्वारा शारीरिकदण्ड विधान करने में कुण्ठित नहीं होते, एवं कदाचित् इस तरह का दण्ड विधान जीव के लिये कल्याणकारी समझते हैं, तब भावविलास में और अपने मनुष्यत्व के अभिमान में ऐसा अस्वाभाविक कार्य करने में कोई लगे, यह उनकी इच्छा के बाहर मालूम होता है।

हिंसा के बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकाश होते हैं। राग, द्वेष, लोभ आदि अंतः शत्रुओं के द्वारा प्रेरित होकर जीवहिंसा करना सच्ची हिंसा है। यह घोरतर पाप है। बाहरी शरीरच्छेद आदि उसका बाह्य प्रकाश है। जैन दार्शनिकगण अहिंसा धर्म का एकान्त पक्षपाती हैं। किन्तु उन्होंने भी द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के भेद से हिंसा के स्वरूप का निर्वचन किया है। जो क्रोध, लोभ, मान और मोह से प्रेरित न हो ऐसी हिंसा को द्रव्य-हिंसा कहा है---यह यथार्थ हिंसा नहीं है। इसलिये दैवागत कीट पतंगों का वध अपरिहार्य हो जाता है, इस दशा में संयतात्मा साधु लोग चेष्टा करने पर भी इसका परिहार न कर सकें तो यह द्रव्य-हिंसा उनके दोष का कारण न होगी। भाव-हिंसा अर्थात् जो कलुषित चित्त का परिणाम है वही पाप का हेतु होता है। इसलिये वैदिक यज्ञादिकों में पशुहिंसा राग द्वेषादि के द्वारा प्रेरित न होने के कारण अधर्म का हेतु नहीं होती यह मीमांसकों का सिद्धान्त है। धर्म युद्ध में हिंसा जैनियों की परिभाषा में भी द्रव्य-हिंसा कह कर परिगणित होगी। यदि दूसरे का राज्य अपहरण करने या दूसरे के धन को छीनने, दूसरे को मारने की इच्छा को चरितार्थ करने के उद्देश्य से हम प्रवृत्त नहीं हुए हैं, तो युद्ध में वधच्छेद आदि हिंसा के रूप में परिगणित न होंगे। क्षात्र धर्म का आदर्श कालिदास ने एक ऋषि के मुख से प्रकट किया है। "आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि" हे महाराज! आर्त व्यक्तियों की रक्षा के लिये क्षत्रियों का शस्त्र धारण करना विहित है। निर-पराध जीवों को सताने के लिये अस्त्र धारण करना गर्हित है। आर्य शास्त्रों में ऐसे क्षत्रियों का धर्मयुद्ध से उपरत हो जाना अधर्म का कारण होता है। जिस जगह युद्ध धर्म रक्षा के लिये असंख्य स्त्री पुरुषों तथा बच्चों, गौ, ब्राह्मण, देवमंदिर आदि की रक्षा के लिये ही हो; जो व्यक्तिगत सुख दुःखादि, भोगों की उच्चाकांक्षा से प्रेरित होकर न हो वह युद्ध ही धर्म युद्ध है। धर्म युद्ध में शत्रु का वध करना धर्म ही गिना जाता है। आततायियों को मारने में कोई दोष नहीं, यही

शास्त्रकारों का सिद्धान्त है। मिताक्षराकार ने धर्म युद्ध को भी अर्थशास्त्र का विषय समझने में भूल की है। इस ग्रंथ के चतुर्थ परिच्छेद में इस पर जो सुदृढ़ विचार किये गये हैं वे अदृष्ट पूर्व हैं। हमारे ध्यान से इन विचारों को विशेष रूप से अच्छी तरह जान लेने पर हिंसा और अहिंसा का झगड़ा सदा के लिये मिट जायगा।

इस ग्रंथ को पढ़ने पर राजधर्म के सम्बन्ध में निर्मल ज्ञान प्राप्त हो जायगा, इतना ही नहीं, बल्कि अधिक समय से जो भारतीयों में राजधर्म की उपेक्षा के कुसंस्कार और भ्रम पैदा हो चुके हैं, वे दूर हो जायेंगे। और देश रक्षा के विषय में देशवासियों की नवीन चेतना स्वस्थ और समाहित होगी। आज भारतवर्ष की नवीन परिस्थिति में भारत रक्षा और प्रजापालन का भार देशवासियों पर ही निर्भर है। क्या नवीन क्या प्राचीन सभी पद्धतियों में शिक्षित विद्वत्समाज के काव्य, नाटक, दर्शन आदि में पूर्ण व्युत्पत्ति प्राप्त कर लेने पर भी अनेकों का अर्थशास्त्र में अपरोक्ष या प्रत्यक्ष कैसा भी ज्ञान कुछ भी नहीं है। इस ग्रंथ को पढ़ कर नीति के सभी ग्रंथों के अनुशीलन में सुधी समाज प्रेरणा प्राप्त करेगा और इससे देश के कल्याण का मार्ग खुल जायगा। इति—

सं० १३५६, ७वाँ आषाढ़। श्रीसातकड़ि मुखोपाध्याय

भूमिका

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में "दण्डनीति" शब्द से किस व्यवहार का निर्देश किया गया है, दण्डनीति शब्द का क्या अर्थ है ? आज इसकी हमारी कोई स्पष्ट निश्चित धारणा नहीं हो पाई है। इसलिये हम उचित समझते हैं कि, "प्राचीन भारत की दण्डनीति" कहने पर हम क्या समझें, इस बात को स्पष्ट रूप से दिखादें। वर्तमान समय में अदालतों में विचारक लोग वादी और प्रतिवादी का वक्तव्य सुनकर साक्षी और प्रमाण की सहायता से वादी या प्रतिवादी के प्रतिकूल जो सम्मति देते हैं, उसको ही हम "दण्डविधान" के नाम से व्यवहार करते हैं। इसलिये दण्डनीति शब्द का प्रयोग करने पर साधारणतः लोग प्रचलित विचारालयों की विचार व्यवस्था को ही समझते हैं। किन्तु वास्तविक इस दण्डनीति शब्द के कहने पर विचारालयों की विचार व्यवस्था मात्र ही समझी जाय ऐसा नहीं है। विचारक लोग जो दण्ड की व्यवस्था करते हैं, वह तो भारतीय दण्डनीति-शास्त्र का एक बहुत छोटा अंश मात्र है। माता पिता जो अपने बच्चों-लड़के-लड़कियों का लालन-पालन और पोषण करते हैं, उसमें भी दण्डनीति शब्द ही काम मे लिया जाता है। बुरे काम में लगे हुए बच्चे को प्रिय वाक्यों द्वारा जब उसके माता पिता उसको उस बुरे काम से नहीं हटा पाते हैं तब वे उसको झिड़कियाँ देकर उस बुरे काम से हटाने की चेष्टा करते हैं। इस सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर बात नीतिशास्त्रकारों ने कही है। एक बालक को उसका पिता या पितृ-स्थानापन्न अन्य कोई व्यक्ति जब पढ़ाने लगा तब उसने बड़ी मीठी बातों से और अत्यन्त स्नेहमय सुकोमल व्यवहार से बच्चे के चित्त को अध्ययन में प्रवृत्त करने का पूर्ण प्रयास किया। इसी व्यवहार को दण्डनीतिशास्त्र में "साम" उपाय का प्रयोग कहा गया है। बालक जब मीठी बातों तथा स्नेह प्रचुर व्यवहार से अध्ययन में प्रवृत्त न हो सका तब उसके पिता आदि ने अनेक तरह के प्रलोभन देकर उसके चित्तको अध्ययन में लगाने का प्रयास किया—जैसे-वत्स ! तुमको बड़े अच्छे-अच्छे खिलौने देंगे, अच्छी अच्छी चीजें खाने को देंगे; बड़ी सुन्दर तसवीरों वाली पुस्तकें देंगे। ये सब बातें कहकर ही वे नहीं रह गये, बल्कि ये सब चीजें उसको ला भी दीं। इसी को दण्डनीतिशास्त्र में "दान" उपाय का प्रयोग

बताया है। जब इससे भी बालक का चित्त अध्ययन मे न लगा, तब उसके पिता आदि ने बालक को अध्ययन में प्रवृत्त करने के लिये बालक के मनोरंजन की वे सभी चीजें बच्चे के सामने लाकर रखदीं और उसके सामने ही वे चीजें उसको न देकर उसके भाई या उसके समान किसी दूसरे बच्चे को देने के लिये तैयार हो उक्त बच्चे को अध्ययन मे लगाने का प्रयत्न किया। सभी खिलौने आदि चीजें दूसरा लेलेगा यह सोचकर बालक अक्सर पढ़ने लग जाता है। इस व्यवहार को दण्डनीति मे "भेद" उपाय का प्रयोग बताया है। इससे भी जब बालक अध्ययन में प्रवृत्त नहीं होता तब बच्चे को डर दिखाकर अध्ययन में प्रवृत्त किया जाता है। इसको दण्डनीति में "दण्ड" उपाय का प्रयोग कहा है। सुतरां देखा जाता है कि, बच्चे के पिता आदि भी बच्चे के साथ व्यवहार करने में पूरी तरह से दण्डनीति का उपयोग करते है। इस सम्बन्ध मे नीतिकारों की यही उक्ति है—

अधीष्व पुत्रकाधीष्व तुभ्यं दास्यामि मोदकान् ।
यद्वान्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाटयामि ते ॥

(मिताक्षरा—याज्ञवल्क्य-आचाराध्याय ३४६ श्लोक)। इसका अर्थ पूर्वोक्त उपाख्यान से गतार्थ है। सुतरां दण्डनीति का प्रयोग व्यवहार मात्र में ही परि-व्याप्त है। जो सोचते हैं कि विचारालयों में साक्षी और प्रमाण पाकर विचारक लोग जो वादी या प्रतिवादी के प्रतिकूल सम्मति (दण्ड विधान) देते हैं वहाँ "दण्ड" नाम से कहा जाना उचित है। यह उनका दुराग्रह है, कारण विचारक-गण कभी कहीं अर्थदण्ड (जुर्माना) कभी कहीं देहदण्ड (कैद आदि) की व्यवस्था करते हैं। इसलिये इस दण्ड की व्यवस्था के प्रतिपादक शास्त्र को ही "दण्डनीतिशास्त्र" कहना संगत एवं समुचित है। परन्तु केवल दण्ड विधान मात्र को दण्डनीति माननेवाले यह नहीं सोचते हैं कि विचारक ने जिस व्यक्ति के लिये दण्ड विधान किया है, यदि वह व्यक्ति विचारक के इस दण्ड विधान को स्वीकार नहीं करता या उसकी उपेक्षा करता है तब विचारक उसकी क्या व्यवस्था करेगा? और उस दण्डार्ह व्यक्ति को दण्ड के लिये कौन बाध्य करेगा? इसका उत्तर एकमात्र यही तो हो सकता है कि, विचारक के दण्ड विधान को यदि दण्डार्ह व्यक्ति स्वीकार नहीं करता है तो राजा उसको दण्ड भोगने के लए बलप्रयोग से उक्त विधान को मंजूर करने के लिये वाध्य करे। यदि राजा का बलप्रयोग भी उसको दण्ड भोगने के लिये बाध्य नहीं कर सकता तो दण्डार्ह को कोई दण्ड ही न दे सकेगा। दण्डार्ह व्यक्ति राजा के बलप्रयोग का उल्लंघन नहीं कर सकता यही समझ कर तो विचारक की दण्ड व्यवस्था मानने को बाध्य होना पड़ता है। यदि राजा का बल न हो तो विचारक की विचार व्यवस्था निष्फल होगी। इसलिये अदालतों की विचार व्यवस्था और तदनुरूप विचारकों की दण्ड व्यवस्था दोनों ही जिस दण्ड

का आश्रय लेकर चलती हैं, उसको दण्ड न कहकर मात्र विचारालयों के विचारकों की व्यवस्था को दण्ड कहना और उसके प्रतिपादक शास्त्र को नीतिशास्त्र कहना, अपूर्ण एकदेशमात्र में दण्डनीति शब्द का प्रयोग होगा। इसलिये भारतीय शास्त्र में विशेष व्यापक अर्थ में दण्डनीति शब्द का प्रयोग किया गया है। एक ही बात से सब तरह के व्यवहार जिसके द्वारा नियन्त्रित हो सके उसी को दण्ड कहा है। दण्ड के बिना कोई व्यवस्था कार्यान्वित नहीं हो सकती। जहाँ दण्ड शिथिल होता है वहीं दुर्नीति प्रवेश कर पाती है।

यद्यपि दण्ड बहुत तरह के हैं तथापि उसको दो ही विभागों में विभक्त किया गया है। आन्तर दण्ड और बाह्यदण्ड। दण्डनीतिशास्त्रकारों ने बृद्धसंयोग और इन्द्रिय जय के द्वारा आन्तरदण्ड की व्यवस्था की है। बृद्धसंयोग और इन्द्रियजय के द्वारा आप ही अपने को काबू में रखने में समर्थ होता है। जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये बाह्यदण्ड की व्यवस्था की गई है। भारतका दण्डनीतिशास्त्र भी अध्यात्म विद्या का विरोधी नहीं है। अध्यात्मसम्पत्ति बिना हुए दण्डनीति भी यथार्थ रूप से काम में नहीं लाई जा सकती। यह बात केवल भारत की आर्य जाति ही जानती है। इसी लिये दण्डनीतिशास्त्रकारों ने उसके प्रयोगों के लिये बृद्धसंयोग और इन्द्रियजय की व्यवस्था दण्डनीतिशास्त्र में प्रथम की है। अध्यात्म विद्या का भी प्रारम्भ और परिसमाप्ति इन्द्रियजय ही है। अजितेन्द्रिय पुरुष जैसे अध्यात्म विद्या का अधिकारी नहीं होता इसी तरह वह दण्डनीति के प्रयोगों में भी अधिकारी नहीं हो सकता। वर्तमान समय में हमारे ध्यान से अध्यात्मविद्या मात्र वागाडम्बर में ही समाप्त हो जाती है। अध्यात्म-विद्या का स्थान बड़ी बड़ी सभा सोसाइटियाँ, और अनेक प्रबन्ध पुस्तकें ही रह गई हैं। आज जो अध्यात्मवेत्ता पुरुष हैं उनका चरित्र यही तो है न, कि वे बड़ी बड़ी सभाओं में या प्रबन्ध ग्रन्थों में आध्यात्मिकता प्रकाशित करते रहें। दण्डनीति के प्रयोगकर्त्ताओं के सम्बन्ध में भी हमारी यही धारणा है।

वाह्यदण्ड—वाग्दण्ड, धनदण्ड, देहदण्ड आदि के भेद से अनेक तरह का होता है। वास्तविक बात यह है कि, आभ्यन्तर दण्ड की महत्ता बताकर वाह्यदण्ड देने की व्यवस्था कम करना कभी भी उचित नहीं। यही बात भगवान् मनु ने अपनी संहिता के सातवें अध्याय के २३वें श्लोक में कही है।

सर्वोदण्डजितो लोको दुर्लभोहि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते॥

यही बात महाभारत में शान्तिपर्व के १५वें अध्याय के ३४वें श्लोक में कही गई है। स्वर्गीय भरत शिरोमणि महाशय ने पूर्वोक्त मनु के श्लोक की व्याख्या में कहा है कि सारी दुनिया दण्ड के भय से ही सुपथ पर चलती है, नहीं तो स्वाभाविक विशुद्ध स्वभाववाले पुरुष तो संसार में अत्यन्त विरल हैं। केवल

दण्ड के भय से ही सारा संसार आवश्यक भोजनादि का उपभोग करने में समर्थ होता है। शान्तिपर्व के १५वें अध्याय के ११वें श्लोक से लेकर १३वें श्लोक तक दण्डनीतिशास्त्र का परिचय दिया गया है। वहाँ अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा है कि श्यामवर्ण और रक्तनेत्र वाला दण्ड सन्नद्ध होकर जिस राष्ट्र में घूमता है उस राष्ट्र की प्रजा कभी दुःखी नहीं होती, यदि राष्ट्र का नेता सम्यक् दर्शी हो। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और भिक्षुक चारों आश्रमों के मनुष्य दण्ड के भय से ही अपने-अपने कर्त्तव्य-पथ में स्थित रहते हैं। केवल इस लोक का व्यवहार ही नहीं पारलौकिक व्यवहार भी दण्ड के भय से ही सम्पादित होता है। अर्जुन कहता है कि दण्ड का भय न हो तो कोई यज्ञ न करे, दण्ड से भीत न हो तो कोई दान न करे, दण्ड से न डरे तो कोई पुरुष मर्यादा में न रहे। इसके बाद इस अध्याय के ३३वें श्लोक में कहा है कि, जो अनार्य है, नास्तिक हैं, और वेदनिन्दक हैं वे भी दण्ड के भय से अपनी अपनी मर्यादा में रहते हैं। पशु-पक्षी पर्यन्त सभी दण्ड से भीत होकर ही अपनी-अपनी मर्यादा में अवस्थित हैं। यदि दण्ड का भय न हो तो कौए, कुत्ते आदि मांसाहारी प्राणी पशु, मनुष्यों को कभी का खाले। यज्ञ का चरु, पुरोडास आदि कौए कुत्ते ही खा जायं, यदि दण्ड का भय न हो तो। ब्रह्मचारी अध्ययन न करें, गौएँ न दुही जायं, कोई भी कन्या विवाही न जायं, यदि दण्ड इनका नियमन न करे। विश्व-पालक दण्ड न होने पर सारी मर्यादाएँ नष्ट हो जायेंगी, सभी व्यवस्थाएँ उच्छिन्न हो जायेंगी, किसी का किसी चीज पर अपना कहने का अधिकार न रहे। महा-भारत की ये सभी बातें मनुसंहिता में भी सातवें अध्याय के १८वें श्लोक से २५वें श्लोक तक कही गई हैं। मनुसंहिता में भी दण्ड को श्यामवर्ण और रक्तनेत्र बताया गया है। इस श्लोक के भाष्य में मेधातिथि ने कहा है कि, मनु ने रूपका-लंकार के वहाने से दण्ड की स्तुति की है। दण्ड दो प्रकार का है—दुःखप्रद और भयप्रद। दण्ड भय का कारण है इससे उसको श्यामवर्ण कहा है। एवं दुःख का कारण है इस कारण दण्ड को रक्तनेत्र कहा है। महाभारत के शान्तिपर्व के ५९वें अध्याय में कहा है—

'दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयतिवापुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीन्लोकानभिवर्तते ।।' ७८ श्लोक

जिसके प्रभाव से जगत् पुरुषार्थ पाने में समर्थ होता है, उसको दण्ड कहते हैं। दण्ड द्वारा ही जगत् पुरुषार्थ में प्रवृत्त होता है, यही कारण है कि इसको दण्डनीति कहते हैं। अथवा जिस नीति के द्वारा दण्ड काम में लिया जाता है उसको दण्ड-नीति कहते हैं। शान्तिपर्व के १२१वें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा है कि—"कोदण्डः कीदृशोदण्डः किंरूपः किंपरायणः" इत्यादि वाक्यों द्वारा दण्ड के सम्बन्ध में ११ प्रश्न किये हैं, एवं इन ११ प्रश्नों का उत्तर इसी अध्याय

में भीष्म ने दिया है। इस अध्याय को ठीक ध्यान से पढ़ने पर प्राचीन भारत की दण्डनीति के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा पैदा हो सकेगी। पहिले दण्ड को जो श्याम वर्ण और रक्तनेत्र बताया है इस अध्याय के १५-१६वें श्लोक में उसको विस्तार से समझा दिया गया है। इस अध्याय के २३वें श्लोक में कहा है कि,

'दण्डोहि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभु।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महापुरुष उच्यते ॥'

यह दण्ड ही विष्णु है, यह दण्ड ही नारायण है, यह दण्ड ही महापुरुष है। मनुसंहिता के सातवें अध्याय के १७वें श्लोक में कहा गया है कि यह दण्ड ही राजा है, यह दण्ड ही नेता है, यह दण्ड ही ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमों का और धर्म का प्रतिभू है। इस दण्ड को महाभारत में महापुरुष कहा गया है और मनुने इसको पुरुष कहा है। इस श्लोक के भाष्य में मेधातिथि ने कहा है कि, इस जगत् में दण्ड ही एकमात्र पुरुष है, और कोई पुरुष नहीं है। सब स्त्री हैं क्योंकि दण्ड के प्रभाव से बलवान् पुरुषों को भी स्त्रियों की तरह अनायास ही वश में किया जा सकता है। भारतीय कोई सम्प्रदाय (वैष्णव) कहता है कि, एकमात्र श्रीकृष्ण ही पुरुष हैं अन्य सब स्त्री हैं। भगवान् मनु कहते हैं दण्ड ही एकमात्र पुरुष है और सब स्त्री हैं।

दण्डनीति और अर्थशास्त्र दोनों ही शब्द एक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। भगवान् कौटिल्य ने दण्डनीति का अर्थशास्त्र के नाम से व्यवहार किया है। कौटिल्य ने कहा है कि, "पृथिव्यालाभे पालनेच यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि" इत्यादि; इसका अर्थ है कि पृथिवी के लाभ के लिए एवं लब्ध पृथ्वी के पालन के लिए जो अर्थशास्त्र पूर्ववर्ती आचार्यों ने बनाये हैं प्रायः उन सब शास्त्रों का संकलन करके यह एक अर्थशास्त्र बनाया गया है। और फिर, विद्यासमुद्देश प्रकरण में कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार विद्याएँ बताई हैं। इससे जाना जाता है कि कौटिल्य दण्डनीति को ही अर्थशास्त्र के नाम से व्यवहृत करते हैं। दण्डनीति को अर्थशास्त्र क्यों कहा? किस अभिप्राय से अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग हुआ है इसकी खोज करने पर जाना जा सकेगा कि अपने-अपने व्यवहारों में स्थित रहना ही मनुष्य का मुख्य अर्थ अर्थात् प्रयोजन है। मनुष्य की स्थिति द्वारा मनुष्य की आधारभूत पृथिवी को ही अर्थशब्द लक्षणा द्वारा प्रतिपादन करता है। इसलिए इस जगह मनुष्योंवाली पृथिवी अर्थ शब्द का अर्थ है और अर्थशास्त्र कहने पर मनुष्यवती पृथिवी में रहने वाले मनुष्यों की वृत्ति या स्थिति का प्रतिपादक शास्त्र ही समझा जाता है। मनुष्यों की निरुद्वेगपूर्वक पृथिवी में अवस्थिति और वृद्धि के लिए सारी व्यवस्था जिस शास्त्र में प्रतिपादित हुई है उसको "अर्थशास्त्र" कहते हैं।

अर्थशास्त्र की आलोचना में प्रवृत्त होने का कारण

प्राचीन भारत की दण्डनीति या अर्थशास्त्र की आलोचना में हम क्यों प्रवृत्त हुए? भारतीय पण्डित समाज जिस शास्त्र की आलोचना से बहुत दिनों से विरत हो चुका है आज अकस्मात् उस शास्त्र की आलोचना में हमारी प्रवृत्ति क्यों हुई? मैं अर्थशास्त्र का कोई अगाध पण्डित नहीं हूँ। अर्थशास्त्र की आलोचना न करके किसी दार्शनिक विषय की आलोचना करना मेरे पक्ष में अच्छा होता। भारत का साधारण जन-समाज भी अर्थशास्त्र की बातें सुनने का अभ्यस्त नहीं है। जिस शास्त्र में मेरी भी पूर्ण योग्यता नहीं, जन-साधारण की भी जिसके सुनने में अभिरुचि नहीं है, ऐसे विषय की आलोचना में क्यों प्रवृत्त हुआ? इस तरह का प्रश्न स्वभावतः मेरे मन में पैदा हो जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में यही वक्तव्य है कि, चारों तरफ से दुःख दुर्दशा भारत को ग्रस रही है, अनेक रास्तों से दुर्नीति का प्रवाह बड़े वेग से यहाँ दौड़ रहा है, भारतीय हिन्दू जनता में सारे कार्यों में ही घोर खेद दीख पड़ रहा है—इन सारे दुःखों का मूल कारण राष्ट्रिय चेतनाओं का अभाव समझ कर ही मुझे दृढ़ निश्चय पैदा हो गया है कि राष्ट्रिय चेतनाओं के न रहने पर मनुष्य केवल व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए समुदायगत स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर सारे कामों में अग्रसर होता है। विशेषकर चिरकाल की पराधीनता के फलस्वरूप स्वभाव से ही मानव प्रकृति में नीचता, भीरुता, क्लीवता, (हीजड़ापन) कायरता आदि दुर्गुण प्रकट हो जाते हैं। भारतवर्ष का भी वही हुआ है। इस खेद निवारण का एकमात्र उपाय है राष्ट्र-नीति का प्रचार। राष्ट्रिय चेतना न होने से सामूहिक स्वार्थ को नष्ट करके व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए जिस समय हम दौड़ते हैं उस समय हम यह नहीं समझ सकते कि, हम अपने और अपने परिजनों के सर्वनाश को कैसे बुला कर ला रहे हैं। बुद्धिमान् विद्वान् व्यक्ति हमारे देश में बहुत हैं। किन्तु राष्ट्रिय चेतना न रह जाने के कारण वे भी यह नहीं समझ पाते हैं कि समुदाय का स्वार्थ रक्षित न होने पर व्यक्तिगत स्वार्थ भी रक्षित नहीं रह सकता। जो व्यक्ति सामूहिक स्वार्थ रक्षा के कामों में तत्पर हो व्यक्तिगत स्वार्थ के लोभ से किसी हालत में भी सामूहिक स्वार्थ को नष्ट नहीं करते हैं वे ही राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न हैं। मनुसंहिता के ८वें अध्याय के २१६ श्लोक में कहा गया है कि—

यो देशग्रामसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरोलोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ।।

इसका अभिप्राय यही है कि—जो व्यक्ति ग्राम या देश या किसी संघ की स्वार्थ-रक्षा के लिए शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा करे कि—मैं इस देश या ग्राम, या संघ की भलाई के लिए यह कार्य करूँगा और बाद में वह यदि व्यक्तिगत स्वार्थ के लोभ से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा को तोड़कर ग्राम या देश अथवा संघ के प्रतिकूल आचरण करने लगे तो ऐसे स्वार्थान्ध व्यक्ति को राष्ट्र से निकाल दिया जाय। राष्ट्रिय भलाई

के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्ति को उस राष्ट्र में रहने का अधिकार नहीं है। आज हम व्यक्तिगत अपने स्वार्थ के लिए या स्वार्थपरायण लोगों को प्रसन्न करने के लिए राष्ट्रिय भलाई के प्रतिकूल जो सब काम कर डालते हैं, उसमें हमारी विवेक बुद्धि को जरा भी ठेस नहीं लगती। इस तरह की निःसार शिक्षा ग्रहण करने में हम अभ्यस्त हो गये हैं, जिसके प्रभाव से हम सामूहिक भलाई के काम को नष्ट करने में जरा भी कुण्ठित या दुःखी नहीं होते। भगवान् मनु की पूर्वोक्त उक्ति को ध्यान में रखने पर हम मन ही मन में समझ सकेंगे कि हम भी इस अपराध के अपराधी हैं कि नहीं। समुदाय की भलाई के लिए भारतीयों की दृष्टि आकृष्ट हो सके, चिरकाल से अभ्यस्त जो व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए राष्ट्र की भलाई को नष्ट करने की हमारी प्रवृत्ति दृढ़ हो गई है, उसको रोकने के अभिप्राय से ही मैं इस दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। भारतीय जनता के स्वार्थान्ध व्यवहार से अत्यन्त दुःखी होकर ही मैं दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना में लगा हूँ, अपनी योग्यता के विचार का कोई अवसर न था। इस शास्त्र की आलोचना से भारतीय जनता की पूर्वोक्त कमजोरियों का इसी तरह प्रतिकार हो सकेगा यह मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है। यद्यपि मैं जानता हूँ मेरे इस प्रबन्ध से ही लोक प्रबुद्ध न हो सकेगा, तथापि बुद्धिमानों की दृष्टि इधर आकृष्ट होने पर उनके रचे अनेक प्रबन्धों से भारतीय जनता के हृदय का परिवर्तन हो सकेगा, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय जनता के हृदय परिवर्तन के अतिरिक्त इस दुःख दशा का कोई प्रतिकार सम्भव नहीं। भारतीय दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना से प्रत्येक भारतीय व्यक्ति के हृदय में एक नई चेतना अवश्य पैदा होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जैसे विद्वत्समाज बचपन से ही साहित्य, गणित, भूगोल, इतिहास आदि शास्त्रों को अवश्य अध्येतव्य समझता है, वैसे ही प्रत्येक बालक-बालिकाओं के हृदय में राष्ट्रिय भावनाओं को उद्बुध करने के लिए भारतीय दण्डनीतिशास्त्र अवश्य पाठ्य होना उचित है। खेती से जीवन निर्वाह करने वाले, शिल्प से जीवन-यात्रा चलाने वाले, चिकित्सा से जीविका सम्पादन करने वाले, व्यापारोपजीवी, भारत का कोई कैसा भी व्यक्ति क्यों न हो, अपने को भारतवासी मानता है; वह कहीं भी क्यों न हो उसको पूरे ध्यान से यह बात मन मे रखनी होगी। प्राचीन भारत के राष्ट्रतन्त्र के सम्बन्ध में अनभिज्ञ होकर "मैं भारतवासी हूँ" उसका यह कहना केवल परम्परा से कहने की ही बात होगी इसमें उसका अपनत्व कुछ न होगा।

मात्र विदेशियों के अनुकरण से ही कोई राष्ट्र अपनी मर्यादा को स्थिर नहीं रख सकता। हम केवल दूसरों की नकल करते हैं इतना ही नहीं बल्कि हमारे आँख, कान आदि रह ही नहीं गये हैं। हम दूसरों की आँखों से देखते हैं, दूसरों के कानों से सुनते हैं। दूसरों के हृदय से विचार करते हैं। हम ऐसे

अन्धे और बहरे हो गये हैं कि यदि दूसरा हमको न दिखा दे तो हम अपनी आँखों के सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं देख पाते हैं, सुन भी नहीं पाते हैं। केवल देख या सुन नहीं पाते इतना ही नहीं, अपितु दूसरा दिखा न दे तो स्वयं देखना अपराध समझते हैं। दूसरा सुना न दे तो स्वयं सुनना पाप समझते हैं। इससे भारतवासियों के आँख, कान आदि भारतवर्ष में नहीं है। वे तो पाश्चात्य सुदूर देशों में रह गये हैं। ऐसी दुर्दशा किसी जाति वा देश की कभी हुई है कि नहीं—मालूम नहीं।

बहुत से लोग सोचते हैं कि, प्राचीन भारत के दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना से वर्तमान में क्या लाभ है? यह तो बहुत पुरानी बात है। मानव समाज में कितना परिवर्तन हो गया है, इस समय और पुराने भारत की दण्डनीति की आलोचना से कुछ कल्याण न हो सकेगा। जो ऐसा सोचते या कहते हैं उनसे हमारा यही नम्र-निवेदन है कि जो वस्तु सत्य है वह कभी भी असत्य नहीं हो सकती, सत्य वस्तु सदा सत्य ही रहती है। परिवर्तनशील सिद्धान्तों को सत्य सिद्धान्त नहीं कहा जाता। हमको बड़े दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि अत्यन्त प्राचीन कल्पना के अनुसार बने हुए इस मानव शरीर की अस्थि संख्या जो वेदों में बताई गई है, आयुर्वेद में भी वही बतायी गयी है, धर्मशास्त्र में भी वही संख्या देखने में आती है, यहाँ तक कि संगीतशास्त्र में भी वैसी ही संख्या बताई गयी है और वर्तमान में भी वही है। वैसी ही मांसपेशियाँ, नाड़ियाँ, स्नायु आदि की भी संख्या है, अँगुलियों की संख्या भी वैसी ही है। शरीर के अन्दर के यन्त्रों की संख्या भी वैसी ही है। आँख, कान आदि बाहरी इन्द्रियों की संख्या भी वही पाँच है। यह सभी तो अति प्राचीन कल्पना है। हमने आज वर्तमान में सुशिक्षित होकर इन्द्रियों की प्राचीन संख्या में कोई न्यूनाधिक्य नहीं किया। अनेक नये आविष्कारों के फलस्वरूप भी पुरानी वही पाँच इन्द्रियाँ हैं सात, आठ या दस नहीं हो गई। आँखों से ही पहले भी रूप ग्रहण किया जाता था इस समय भी वह रूप आँखों से ही देखा जाता है, ज्ञात होता है कि भविष्यमें भी यही रहेगा। अति प्राचीन कल्पना के अनुसार बने हुए इस मानवदेह की अनेक तरह की चिकित्साएँ की गईं। जिस समय में जैसी चिकित्सा प्रचलित रही उस समय उसी तरह की चिकित्सा द्वारा प्राचीन कल्पना के अनुसार बने हुए इस मनुष्यदेह की चिकित्सा की गई। मानवदेह प्राचीन कल्पना के अनुसार बना हुआ है यह बोलकर नवीन रीति से चिकित्सित होने योग्य नहीं है, ऐसा नहीं समझा गया। नवीन रीति की चिकित्सा के लिए नये प्रकार के शरीर की आवश्यकता नहीं होती। इस तरह कितनी प्राचीन वस्तुएँ वर्तमान समय की नवीन सभ्यता के सहारे चल रही हैं। चन्द्र, सूर्य, जल, वायु सभी तो प्राचीन कल्पनानुसारी हैं। नवीन रीति के लिए ये सभी चीजें नयी तो नहीं बनायी गयी हैं। जो कुछ

नया है—सभी तो प्राचीन के सहारे से ही प्रकाशित हुआ है। पुरानी कोई चीज छुएँगे ही नहीं और नवीन बनावेंगे, ऐसी उद्भट कल्पना तो समझदार पुरुष कभी भी नहीं कर सकता। नयी सभ्यता में पुराना कुछ न चलेगा—ऐसा जो भारत-वासी वर्तमान समय में कहते हैं, उनका विशेष अभिप्राय है कि जो बात पाश्चात्य देशों से यहाँ नहीं आई उसका व्यवहार हम न करेंगे। एक दिन यही नीति यहाँ विशेष कार्यकरी थी। अपने को भुलाकर पाश्चात्य जाति को सन्तुष्ट कर व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त कर लिया गया। आज भी यह नीति कुछ व्यक्तियों के हृदय से नहीं हट रही है। भारतवासी अन्धे और बहरे होकर पाश्चात्य जाति का अनुकरण कर रहे हैं। भारत के एक-दो व्यक्ति समझ पाये हैं कि—इस अन्ध परम्परा के फल से भारत का कुछ कल्याण न होगा। इसलिए यदि किसी को भी भारतीय सभ्यता और भारतीय राष्ट्रनीति जानने की इच्छा हो सके तो उसको प्राचीन काल के सभ्य भारत के ऐसे सब असाधारण आदर्श देखने को मिलेंगे जो पृथिवी में कहीं भी संभव नहीं।

हमारे इस क्षुद्र प्रबन्ध द्वारा यदि किसी के भी हृदय में भारतीय सभ्यता जानने की इच्छा प्रबुद्ध हो सकेगी तो हम अपना यह प्रयास सार्थक समझेंगे।

भारतीय सभ्यता की असाधारण सम्पत्ति—आध्यात्मिकता है। इस सम्पत्ति की और तुलना नहीं है। इस आध्यात्मिकता के मूल में सुनिर्मल और निर्व्याज त्याग मौजूद है। हमने जो दण्डनीतिशास्त्र में भारत का बाहरी आवरण दिखाया है उसके अन्दर में निर्मल त्याग द्वारा सुमार्जित अखण्ड अध्यात्म सम्पद् विद्यमान है। प्राचीन भारत के जो सारे राष्ट्रनायकगण बड़े प्रयत्न से राष्ट्र को सुसमृद्ध बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं, वे सभी वृद्धावस्था में राजमुकुट त्याग कर अरण्यवासी हुए हैं। घर में शय्या पर पड़के मृत्यु के जैसी हीनमृत्यु उनमें से किसी ने भी नहीं सोची। सर्वस्व त्यागकर के वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर जीवन का अन्त कर दिया। अखण्ड त्याग द्वारा ही राष्ट्रनेता लोग इस विशाल ऐश्वर्य को धारण करते रहे हैं। यह दृष्टि पृथिवी की सभी सभ्यताओं में स्वप्न के भी बाहर की चीज है। भारत की इस अध्यात्म सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए ही दण्ड-नीति रूप बाहरी आवरण की जरूरत थी, समाज रक्षा की व्यवस्था न होने से यह सम्पत्ति रक्षित नहीं रह सकती थी। हम शास्त्रों में देख पाते हैं कि, वीत-राग मुनिवर अक्षपाद आन्वीक्षिकी रूप अध्यात्मविद्या की परिपुष्टि के लिए न्याय-शास्त्र की रचना कर गये हैं। महर्षियों ने वीतराग होकर इस अध्यात्मविद्या की रक्षा के लिए जल्प, वितण्डा रूप परपक्ष को जीतने वाली बातों की सुव्यवस्था की है। इस जल्प वितण्डा की बातों के लिए ही छल, जाति, निग्रहस्थान आदि कथांगभूत पदार्थों का निरूपण किया है। सामान्य दृष्टि से वीतराग पुरुषों के लिए इन सब छल, जाति आदि का निरूपण करना असंगत जान पड़ने पर भी जो

परिपक्व बुद्धि के हैं वे अनायास ही समझ सकते हैं कि अध्यात्मविद्या को परिष्कृत रखने के लिये ही ऋषियों ने यह आयोजन किया है। भगवान् अक्षपाद ने स्वयं कहा है—तत्वाध्यवसाय से रक्षणार्थ "जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टक-शाखावरणवत्" अक्षपादसू ४।२।५०।

इस दृष्टि को लेकर ही भारतीय तीर्थों में बड़े बड़े विशाल मन्दिरों का निर्माण हुआ है। जैसे श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर, भुवनेश्वर का मन्दिर, रामेश्वर का मन्दिर आदि। देवमूर्तियाँ वृक्षों के नीचे स्थापित होने पर वे किसी अल्प समय में ही लुप्त हो सकती हैं। अर्जित वस्तु की रक्षा की व्यवस्था न होने पर केवल अर्जित करना नितान्त निष्फल होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। दण्डनीति की आलोचना से अध्यात्म सम्पद् जरा भी खराब न होगी प्रत्युत अध्यात्म सम्पद् की रक्षा के लिये ही दण्डनीतिशास्त्र का अनुशीलन और तदनुसार कार्य में प्रवृत्त होना बहुत जरूरी है।

भारत की सब तरह की सभ्यता का आदि उत्पत्ति स्थान वेद है—केवल भारत का ही क्यों सारी पृथिवी की सभ्यता का आदि उत्पत्तिस्थान वेद ही है। इसलिये प्राचीन भारत की दण्डनीति का भी उत्पत्ति स्थान वेद ही है। वेद में जो संक्षेप में कहा गया है वेद के अङ्गों और उपाङ्गों में वही विस्तार से व्याख्यात हुआ है। ऋक्संहिता के ८वें अष्टक के ८वें अध्याय में ३१ और ३२ वर्ग में दो सूक्त कहे गये हैं। प्रथम सूक्त के आङ्गिरस ध्रुव द्रष्टा हैं। दूसरे के आङ्गिरस अभीवर्त द्रष्टा हैं। पहले सूक्त में छः ऋक् मन्त्र हैं, एवं द्वितीय में पाँच ऋक् मन्त्र हैं। ये दोनों ही सूक्त अभिषिक्त राजा की स्तुति के प्रतिपादक हैं। स्तुति के बहाने राजा का कर्त्तव्य, राजा के साथ प्रजा का सम्बन्ध, राजा से प्रजावर्ग के स्नेह करने का कारण आदि बतलाये गये हैं। ध्यान से इन दोनों सूक्तों को पढ़ने पर दण्डनीतिशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों के बहुत से संकेत पाये जाते हैं। हम उल्लिखित प्रथम सूक्त का पहला मन्त्र यहाँ उद्धृत करते हैं।

आत्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठा विचा चलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाच्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ ऋक् सं ८।८।३१।

इस मन्त्र के भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं कि, हे राजन्! हमने हमारे राष्ट्र के स्वामी—अधिपति होने के लिये तुमको लाया है। तुम हमारे स्वामी होओ एवं तुम स्थिर होकर राष्ट्र के अधिपति होओ। राष्ट्र की सारी प्रजा तुम्हारी इच्छा करे "ये ही हमारे राजा हों" सारी प्रजा इस तरह की कामना करे। तुमसे यह राष्ट्र भ्रष्ट (वियुक्त) न हो। सारी प्रजा ही एक राजा को राष्ट्र के अधिपति रूप में कामना करेगी, यही भारतीय राजनीतिशास्त्र की विशेषता है। राष्ट्र का एक प्रबल दल राजा के अनुकूल होने पर राष्ट्र के दूसरे विरोधी दलों को राजा अपनी राजशक्ति से रोककर रख सकता है साधारणतया लोग यही समझते हैं।

राष्ट्र की सारी प्रजा ही हृदय से एक राजा को चाहे इस तरह की किसी नीति की साधारण लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। किन्तु ऋक् मन्त्र में कहा है—राष्ट्र की सारी ही प्रजा जिससे तुमको चाहे। जिस नीति का अवलम्बन करने पर राष्ट्र की सारी प्रजा राजामे अनुरक्त हो सके, ऐसी नीति का प्रदर्शन और उसका विश्लेषण भारतीय दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। पूर्व प्रदर्शित मन्त्र में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि राजा के मर जाने पर राजा का पुत्र या पुत्र के न होने पर पुत्र स्थानीय कोई राजवंशीय पुरुष राष्ट्र के प्रजा वर्ग की सम्मति हो या न हो वही राजा होगा। साधारणतः लोक यही समझता है, किन्तु ऋक् मन्त्र कहता है कि—तुमको हम ने आहरण किया है, योग्यतम व्यक्ति को ही लोक राजपद पर अभिषिक्त करने के लिये आहरण करता है। इच्छापूर्वक मन से लाने को ही "आहरण" कहा जाता है। प्रजावर्ग की इच्छा के प्रतिकूल जो व्यक्ति राजपद पर अधिकार करता है उसको राजपद ग्रहण करने के लिए "आहरण" किया है ऐसा नहीं कहा जाता।

सूर्यवंशीय सम्राट् सगर का ज्येष्ठ पुत्र असमंजस प्रजापीडक था। इसी कारण से वह राजपद का अधिकारी न हो सका। इसी तरह चंद्रवंशीय सम्राट् महाराज प्रतीप का ज्येष्ठ पुत्र देवापि प्रजागणों को अभीष्ट न था, इसी से देवापि राजपद का अधिकारी न हो सका। राजा जैसी योग्यता होने पर राष्ट्रवासी प्रजा-पुंज राजपद पर अभिषिक्त करने के लिये जिसका आहरण करे। तथा जो योग्यता होने पर ही राष्ट्र की सारी प्रजा जिसके राज्य की कामना करे। यही बोल कर वह राजा कभी राज्यसे भ्रष्ट नहीं होता। उस योग्यता की परिचायक गुणराशि और कर्मसमुदाय का विश्लेषण करके भारतीय राजनीति शास्त्र या दण्डनीति-शास्त्र प्रणीत हुआ है।

स्वेच्छाचारी, उच्छृङ्खल, प्रजापीड़क, धर्मद्रोही, राजनीति से अनभिज्ञ, दुर्जन कापुरुष को राजपद पर अभिषिक्त करने के लिये किसी भी राष्ट्र की प्रजा उसका आहरण नहीं करती और न उसके राजत्व की स्थिरता ही चाहती है।

शान्तिपर्व के ५६ वें अध्याय के ४४।४५वें श्लोक में बहुत संक्षेप में जो राजवृत्त कहा गया है वही आशय ऋग्वेद के उक्त मन्त्र का है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि—जैसे गर्भिणी स्त्री अपनी इच्छित वस्तुओं को छोड़कर निरन्तर गर्भस्थ बच्चे की भलाई का ही विचार करती रहती है, इसी तरह राजा भी अपने भोग विलास में निमग्न न होकर अपने गर्भस्थानापन्न राष्ट्र की सतत हित चिन्तन करता रहे। वही राजा राजपद के लिये राष्ट्रवासियों के आहरण-योग्य होता है। वही सारी प्रजा को वाञ्छनीय होता है। आगे शान्तिपर्व के ९२वें अध्याय में वामदेव गीता में कहा गया है कि, जो राजा अधर्मदर्शी और प्रजा की इच्छा के विरुद्ध कार्य करता है उसके धर्म और अर्थ दोनों ही नष्ट हो

जाते हैं। जिस राजा के मन्त्री दुर्जन और पापी होते हैं वह धर्मघाती राजा सब जनों का बध्य होता है। जो राजा अपना कर्तव्य कर्म न करके अपनी इच्छानुसार कर्म करता है, कहता बहुत है करता कुछ नहीं और अपनी ही प्रशंसा करता रहता है ऐसा राजा सारी पृथिवी का मालिक हो जानेपर भी बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है। आगे कहा है कि, राजा धर्म, अर्थ, बुद्धि और मित्र इनके वर्धन और परिपालन में सदा प्रयत्नशील रहे। राजा कभी भी धर्म, अर्थ, बुद्धि, और मित्र के संचय में तृप्तिलाभ न करे। (८।१२ श्लो०)।

वेद से लेकर सभी आर्यशास्त्रों में दण्डनीति का स्वरूप और उसकी आवश्यकता विस्तृत रूप से दिखाई गई है। इस छोटे से ग्रन्थ में उन सब बातों का प्रदर्शन एकान्त असंभव है। जिस दृष्टिकोण को लेकर मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ यदि वही दृष्टि रखकर भारत के मनीषीवर्ग में से और कोई प्रवृत्त हो सके और इस तरह दण्डनीतिशास्त्रों का संकलन करे, जिससे भारतीय जनता का चित्त अनायास ही दण्डनीति के प्रति आकृष्ट हो सके; इसी परम्परा से दण्डनीतिशास्त्र के अनेक ग्रन्थ प्रणयन कर विद्वत्समाज भारतीयों को उद्बुद्ध करने के लिये प्रयत्न करें तो मेरा यह क्षुद्र प्रयत्न सफल होगा, ऐसी मेरी धारणा है। और एक विशेष बात यह है कि, जो लोग भारतीय दण्डनीतिशास्त्र के उत्तमोत्तम ग्रंथों का परिशीलन करना चाहते हैं—जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक नीतिशास्त्र आदि—वे हमारे इस प्रबन्ध को पढ़कर भारतीय दण्दनीतिशास्त्र की आलोचना में विशेष सहायता पा सकेंगे और उन कौटिल्य-अर्थशास्त्र आदि के वास्तविक रसास्वादन में समर्थ होंगे। इसलिये इस प्रबन्ध को ही भारतीय दण्डनीतिशास्त्र की भूमिका रूप में समझा जा सकता है। इससे दण्डनीतिशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में उनकी एक स्पष्ट धारणा पैदा हो सकेगी।

इस ग्रन्थ के पढ़ने से एक विशेष लाभ और होगा। भारतीय दण्डनीतिशास्त्र के असाधारण ग्रन्थ कौटिल्य-अर्थशास्त्र प्रभृति वर्तमान में सर्वत्र प्रचलित और समादृत हो रहे हैं। इनके गौरव को न सह सकने के कारण आज कुछ एक-दो पाश्चात्यदेशीय पण्डित इनके विषय में विरुद्ध प्रचार करते हुए कहते हैं, कौटिल्य-अर्थशास्त्र कुछ नहीं, यह केवल एक व्यक्ति विशेष का वाग्विलासमात्र है और मनोरंजन का साधन मात्र है। इन सब बातों को प्रमाणित करने के लिये वे अनेक तरह की असम्बद्ध बातें भी बताते हैं और वे समझते हैं कि भारतीय दण्डनीतिशास्त्र के विषय में केवल कौटिल्य ने ही कुछ बातें कही हैं, वस्तुतः भारतवर्ष में दण्डनीतिशास्त्र के रूप में कुछ न था। भारत के मित्र इन सब पाश्चात्य पण्डितों की असम्बद्ध उक्तियों का समुचित उत्तर इस प्रबन्ध से पा सकेंगे।

आर्यसभ्यता और म्लेच्छसभ्यता में यही असाधारण वैलक्षण्य है, कि म्लेच्छ

राजा जब किसी देश को जीत लेते हैं तब "इस देश की कुछ सभ्यता नहीं है, इस देश में कभी कोई मनस्वी पुरुष पैदा ही नहीं हो सका", इस बात का प्रतिपादन करने के लिये उस विजित देश की जनता को यह अच्छी तरह समझा देने के लिये नितान्त मिथ्या बातों का प्रचार करने में जरा भी कुण्ठित नहीं होते। किन्तु आर्यसभ्यता सर्वथा इसके विपरीत है। आर्य राजा जब किसी देश को जीत लेते हैं तब उस विजित देश के राजा के जो विशेष गुण रहते हैं, उनकी अपेक्षा अधिक गुणों के सम्पादन में वे विशेष प्रयत्नशील होते हैं और उस विजित देश के सद्‌गुणों को भी बढ़ाने में विशेष उद्योग करते हैं। वे अपने सद्‌गुणों के परिवर्धन में उदासीन होकर केवल जितदेश की बदनामी का प्रचार करने के लिये कभी प्रयत्न नहीं करते। हमारे इस प्रबन्ध में "किरातार्जुनीय काव्य में दण्डनीति" नामक अष्टम परिच्छेद को पढ़कर पाठक यह बात अनायास समझ सकेंगे कि—दुर्योधन ने युधिष्ठिर के राज्य को अपने आधीन करके युधिष्ठिर की बदनामी फैलाने के लिये कभी जरा भी प्रयत्न नहीं किया। बल्कि युधिष्ठिर के सद्‌गुणों की अपेक्षा अपने सद्‌गुण बढ़ाने के लिये ही महाराज दुर्योधन ने विशेष प्रयत्न किया। महाभारत का परिशीलन करने पर यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आ सकेगी।

बहुत दिनों पूर्व इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार हो चुकी थी। किन्तु अर्थाभाव के कारण इसका मुद्रण सम्भव न हो सका। सन् १९४८ में कलकत्ता राजकीय संस्कृत कौलिज के उस समय के अध्यक्ष विद्योत्साही, हमारे स्नेहभाजन डाक्टर यतीन्द्र विमल चौधुरी महाशय के प्रस्तावानुसार प्रयत्न करने पर संस्कृत कौलिज की गवर्निङ्ग बडी (परिचालक मण्डली) के सदस्यों ने इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिये पश्चिम बंगाल की सरकार के पास प्रस्ताव भेजा। गवर्निङ्ग बडी के सभापति कलकत्ता हाईकोर्ट के बड़े वकील असाधारण पण्डित श्रीयुत अतुलचन्द्र गुप्त महाशय की विशेष प्रेरणा से बङ्गाल सरकार ने इस ग्रन्थ के मुद्रणार्थ एक हजार रुपया दिया। इसके अतिरिक्त, स्वाभाविक विरोध छोड़कर जिनमें लक्ष्मी और सरस्वती सर्वदा एकत्र वास करती हैं, उन विद्वद्वरेण्य डाक्टर श्रीयुत नरेन्द्रनाथ लाहा महाशय ने इसके मुद्रण व्यय के लिये पाँच सौ रुपये दिये। मैं भगवान के चरणों में इन सब की मंगल कामना करता हूँ।

स्नेहभाजन श्रीमान् अम्बिकाप्रसाद चक्रवर्ती ने अनेक अपने कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी बड़े परिश्रम से पूर्ण उत्साह के साथ इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के लेखन का कार्य किया। इसके अतिरिक्त हमारे छात्र श्रीमान् सोमनाथ भट्टाचार्य तथा छात्री श्रीमती वासना सेन, श्रीमती उमा सान्याल ने भी इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में मदद की है। मैं भगवान् से इनकी मंगलकामना करता हूँ। अन्त में मेरा विशेष निवेदन है कि मेरा शरीर अस्वस्थ रहता है। इससे इस ग्रन्थ

का "प्रूफ" संशोधन अच्छी तरह न कर सका। इसलिये बहुत जगहों में त्रुटि और क्रमच्युति दिखाई देगी। आशा है सहृदय पाठकवर्ग मेरी अनिच्छाकृत त्रुटियों के लिए क्षमा करेंगे।

२६ आमहार्ष्ट ष्ट्रीट, कलकत्ता
प्रथम वै० १३५६ बंगाब्द

श्री योगेन्द्रनाथ वाग्ची

सम्पादकीय निवेदन

'प्राचीन भारत की दण्डनीति' का बंग-भाषा में आज से बहुत पहले 'प्राचीन भारतेर दण्डनीति' नाम से स्वयं पूज्यपाद ग्रन्थकार के सम्पादकत्व में प्रकाशन हुआ था। ग्रन्थ की अनन्य साधारण गम्भीरता और उपादेयता से अत्यधिक आकृष्ट होकर ग्रन्थकार के प्रिय शिष्य बिजनौर निवासी श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी शास्त्री ने हिन्दी में अनूदित करने की अनुमति माँगी थी और सम्मति पाकर ग्रन्थ का साङ्गोपाङ्ग हिन्दी अनुवाद किया था। उस समय ग्रन्थ के प्रकाशन की कोई व्यवस्था न हो सकने के कारण वे पाण्डुलिपि ग्रन्थकार को अर्पित कर इससे चिन्तामुक्त हुए। पाण्डुलिपि ज्यों की त्यों पड़ी रही। इस बीच ग्रंथकार और अनुवादक दोनों दिवंगत हुए। स्वर्गीय त्रिपाठी ने न केवल ग्रन्थ के मूल विषय के सुव्यवस्थित रूपान्तरण में प्रवीणता दिखलायी है अपितु मूल ग्रन्थ की भाषा और भाव की सजीवता और मार्मिकता की विवृति में भी दक्षता और विदग्धता का परिचय दिया है। उन्हें इस कार्य में कहाँ तक सफलता मिली है, सुधी-सुविज्ञ पाठक स्वतः इसका निर्णय करेंगे। मेरे प्रिय शिष्य श्री नविकान्त झा, एम. ए., रिसर्च स्कालर, श्री सोमेश्वर मिश्र, एम० ए० (द्वय) रिसर्च स्कालर, मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट और प्रो० छविनाथ मिश्र एम० ए० (द्वय), सेन्ट कोलम्बस कालेज (हजारीबाग) ने प्रूफ संशोधन में पूर्ण सहयोग दिया है। इस ग्रन्थ के सूची-पत्र और निर्घण्ट-पत्र (Index) प्रो० छविनाथ मिश्र के द्वारा तैयार किये गये हैं। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य-भार वस्तुतः बड़ा कठिन था। किन्तु इनके सहयोग ने इसको सर्वथा सरल कर दिया। मैं इनके निरामय दीर्घ-जीवन और प्रतिष्ठा के लिए भगवान् से निरन्तर प्रार्थना करता हूँ। बिनानी प्रिण्टर्स के कर्मचारी, जिनकी श्रम-साधना से ग्रन्थ का इतनी शीघ्रता में स्वच्छता से मुद्रण हुआ, धन्यवाद-भाजन हैं।

—शीतांशुशेखर बाग्ची

प्राचीन भारत की दण्डनीति के आधारभूत ग्रन्थों की सूची

वेद--

ऋक्संहिता, छान्दोग्य उपनिषत्--
वृहदारण्यकोपनिषत्
रामायण
महाभारत
श्रीमद्भागवत

स्मृति--

मनुसंहिता
मेघातिथिभाष्य
कुल्लूककृत टीका
याज्ञवल्क्य-संहिता
वालक्रीड़ा
मिताक्षरा
अत्रि-स्मृति
विष्णु-स्मृति
गौतम-धर्म-सूत्र,
पराशर-स्मृति
शुक्रनीतिसार
कामन्दकीयनीतिसार
कौटिल्य-अर्थशास्त्र

काव्य--

दशकुमारचरित
कादम्बरी
भट्टि-काव्य
किरातार्जुनीय
शिशुपालबध

सूची-पत्र

(अंक पृष्ठ-संख्या द्योतित करते हैं।)

तृतीय अध्याय

महाभारत में दण्डनीति—नारद का अनुशासन

(३०—४३)

चतुर्थ अध्याय

अर्थशास्त्र के अनादर का कारण

(४४—७२)

पञ्चम अध्याय

पैतामहतन्त्र

(७३—८२)

वैशालाक्षतन्त्र

(८२—८३)

बार्हस्पत्यतन्त्र

(८३—९६)

भरद्वाजनीति

(९६—१०६)

औशनसतन्त्र (शुक्रनीति)

(१०७—११०)

शाम्बरनीति

(११०—१११)

मातंगनीति

(१११)

कालकवृक्षीयनीति

(१११—११७)

परिचय, वायसी विद्या-प्रचार के व्याज से कालकवृक्षीय का कोशलराज्य में भ्रमण, राजा क्षेमदर्शी को मुनि का उपदेश : ११२–११४; सरल नीति और वक्र-नीति (कूटनीति) का प्रयोग : ११५–११७।

प्राचेतस मनु की नीति

(११७—११८)

परिचय

कणिकनीति

(११८—१२३)

भारद्वाजनीति और कणिकनीति, कणिक का परिचय, धृतराष्ट्र को कणिक का उपदेश ११८–१२३; शेर, चूहा, भेड़िया, नेवला और गीदड़ का उपाख्यान : १२०।

षष्ठ अध्याय

विदुलानुशासन

(१२४—१३५)

विदुलानुशासन का महत्त्व, पराजित सौवीरराज संजय को महारानी विदुला का उद्बोधन : १२४–१३२; संजय के द्वारा पूछने पर विदुला के द्वारा जय-प्राप्ति के उपायों का कथन : १३३–१३५;

महारानी गान्धारी का अनुशासन

(१३५—१४०)

श्री कृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव का दुर्योधन द्वारा प्रत्याख्यान, धृतराष्ट्र के प्रति गान्धारी की उक्ति : १३६; दुर्योधन को गान्धारी का उपदेश : १३७–१४०।

महाराज धृतराष्ट्र का अनुशासन

(१४०—१५२)

विषय-प्रवेश, युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र का उपदेश, अष्टांग राज्य : १४१; पाँच उपधा, मन्त्रणा, चार-नियुक्ति और पाँच प्रकार के गुप्तचर १४२–१४३;

मन्त्रणागृह और मन्त्रणा-स्थान का वर्णन : १४४; शत्रुमण्डल का चार भागों में विभाजन—द्वादश राजमण्डल के साठ अङ्ग : १४६–१४७; शत्रु के साथ व्यवहार : १४८; पांच प्रकार की सेना, छः प्रकार के बल और आठ आपत्तियाँ : १५०–१५२।

रामायण में राजनीति

(१५२—१५५)

राक्षसराज रावण के द्वारा लंका में मन्त्रणा-सभा का आयोजन, मन्त्रणा का महत्त्व, राक्षसराज का मन्त्रियों से इतिकर्त्तव्यता-निर्धारण के लिए निवेदन : १५२–१५३; विभीषण के विचार : १५४–१५५।

सप्तम अध्याय

भट्टिकाव्य में दण्डनीति

(१५६—१७३)

राक्षसराज रावण का प्रस्ताव, सेनापति प्रहस्त आदि की उक्ति : १५६–१५७; विभीषण के द्वारा राजनीति का वर्णन, परिस्थिति की गम्भीरता का उद्घाटन, सन्धि का प्रस्ताव, युद्ध होने पर रावण के विनाश की सम्भावना, खर, दूषण, त्रिशिरा, और बाली आदि के निधन से रावण की हानि, राम-पक्ष में भेद डालना असम्भव आदि विषयों पर विभीषण के द्वारा विस्तृत विवेचन : १५७–१६७; माल्यवान। का मत : १६८; कुंभकर्ण का मत : १७०; उपसंहार : १७०–१७३।

अष्टम अध्याय

किरातार्जुनीय काव्य में दण्डनीति

(१७४—१९२)

काव्य-शास्त्र और दण्डनीतिशास्त्र पर एक दृष्टि : १७४—१७६; भीष्म, द्रोण, कर्ण, प्रभृति के युद्ध में निहत होने के बाद कृपाचार्य का सन्धि प्रस्ताव : १७७; दुर्योधन का प्रत्याख्यान : १७८; वनवासी युधिष्ठिर के द्वारा गुप्तचर की नियुक्ति, द्वैतवन—सरस्वती नदी का एक तीर्थ-विशेष : १७९; काव्य में राजनीति : १७९; गुप्तचर के द्वारा युधिष्ठिर के सामने दुर्योधन के राज्यकार्य का विस्तृत वर्णन : १८०–१८४; पर्यालोचन १८४–१८५; युधिष्ठिर के द्वारा द्रौपदी से गुप्तचर कथित वृत्तान्त का उद्घाटन, द्रौपदी के द्वारा युधिष्ठिर को उद्बोधन : १८६;

नवम अध्याय

शिशुपालवध काव्य में दण्डनीति

(१९३—२०७)

दशम अध्याय

प्राचीन भारत में आदर्श राष्ट्र का स्वरूप

(२०८—२११)

राष्ट्रवासी जनों की आपस में सहायता

(२११—२१३)

दुर्बल की रक्षा

(२१३—२१४)

कर-ग्रहण की नीति

(२१४—२१५)

शस्त्रग्रहण
(२१६—२१७)

नागरिकों को शस्त्र रखने का अधिकार, विष्णुस्मृति का निर्देश, शस्त्र की आवश्यकता, भाष्यकार मेधातिथि का मत, महाभारत में शस्त्र-चर्चा।

धनिक-निर्धन-समस्या
(२१७—२१९)

प्रभुजाति और शोषणीय जाति, संविभाग बिना किये जो धन-संचय करता है वह कदर्य और राष्ट्र का कण्टक है, उपभोक्ता और उपभोग्य वस्तुएँ, जो वस्तु एक भोग-योग्य नहीं, उसको दूसरों को न भोगने देना दुराग्रह मात्र है : २१९।

प्रथम अध्याय

दण्डनीतिशास्त्र की रूपरेखा

प्राचीन भारत के साहित्य में दण्डनीति, अर्थशास्त्र और राजनीति आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यह शास्त्र किस रूप से भारतवर्ष में प्रकट और प्रचलित हुआ इसका विवरण महाभारत के राज-धर्मानुशासन पर्व के ५९वें अध्याय में विशेष रूप से वर्णित हुआ है। महाभारत का यह अध्याय सूत्राध्याय नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि प्राचीन भारतीय साहित्य में इस दण्डनीतिशास्त्र का पूर्णांग सुविशद विवरण मिलता है, तथापि राष्ट्रिय चेतना के अभाव के कारण भारतीय विद्वत्समाज इन सब विषयों की आलोचनाओं में बहुत दिनों से शिथिल-समादर होता चला आ रहा है। राष्ट्रिय भावनाओं का ह्रास भारत में कैसे हुआ, यह हम इस प्रबन्ध में आगे चल कर दिखावेंगे। किन्तु यह सुनिश्चित है कि जिस देश में दण्डनीति की उपेक्षा की गई हो उस देश की सर्वांगीण अवनति अवश्यम्भावी है। राजधर्मानुशासन की ५९वें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर ने कहा है कि "समस्त जीवलोक राजधर्म के ही आश्रित है। धर्म, अर्थ आदि चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) राजधर्म में ही केन्द्रित है। जैसे घोड़े को लगाम और हाथी को अंकुश सुपथ पर चलाने में समर्थ है ऐसे ही 'राजधर्म' सारे संसार को सुपथ पर चलाने में समर्थ होता है। इस राजधर्म की उपेक्षा से किसी तरह भी लोकमर्यादा स्थिर नहीं रह सकती, इसके अभाव में सब लोक-संस्थाएँ अव्यवस्थित हो जाती हैं। सूर्य का उदय होने पर जैसे घोर अन्धकार को दूर कर देता है इसी तरह 'राजधर्म' समस्त जीवलोक की अशुभ गति को अवरुद्ध कर देता है।" महाभारत के राजधर्मानुशासन पर्व के ६३वें अध्याय में भीष्म ने कहा है कि "जैसे हाथी के पद-चिह्नों में सब प्राणियों के पद चिह्न समा जाते हैं इसी तरह सब धर्म और उपधर्म राजधर्म में अन्तर्भूत हो जाते हैं। दण्डनीति की उपेक्षा से वेदों का और वेदविहित सब धर्मों का विनाश एवं सब आश्रमधर्मों का उच्छेद हो जाता है।" वेद से लेकर प्राचीन भारतीय साहित्य के जिस किसी भी ग्रन्थ में दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना दिखाई देती है। यह अवश्य है कि अर्वाचीन ग्रंथों में दण्डनीति की सर्वथा उपेक्षा की गई है। राष्ट्र के संगठन, परिपालन आदि का क्रम एवं स्वरूप इस शास्त्र में अत्यन्त सूक्ष्मता और निपुणता से आलोचित हुआ है। किन्तु इस शास्त्र की

विवेचना दीर्घकाल से भारतीय विद्वत्समाज में उपेक्षणीय होकर विलुप्त हो रही है। प्राचीन साहित्य में काव्य दर्शन आदि का नाम अनेक भारतीय जन जानते हैं और उनकी थोड़ी-बहुत आलोचना भी कुछ लोगों के द्वारा हो ही जाती है। किन्तु प्राचीन साहित्य में दण्डनीति भी पूर्णांग विशद रूप से वर्णित है इस पर प्रायशः लोगों का विश्वास ही नहीं है। अतः इस शास्त्र के पर्यालोचन की बात उठ ही कैसे सकती है। भारतवर्ष की राजनीति के अन्तिम कर्णधार कौटिल्य (चाणक्य) हैं। उन्होंने जो अर्थशास्त्र संकलित किया है उसकी विवेचना करने पर मनुष्य मात्र की ही राष्ट्रिय चेतनाएँ अवश्यमेव जागृत हो उठती हैं। पक्षपात को छोड़ कर इस अर्थशास्त्र की आलोचना करने पर मनुष्य मात्र का हृदय इसकी युक्ति-युक्त एवं गम्भीरार्थक वाणी से विस्मय सागर में निमग्न हो जाता है। बड़े खेद की बात है कि आज इस शास्त्र की चर्चा प्रायः न होने के समान ही है। मनु, याज्ञवल्क्य आदि धर्म-शास्त्रों के व्यवहार प्रकरण में जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है और जो वर्तमान में दीवानी, फौजदारी न्याय या दण्ड-विधान के नाम से सुपरिचित है, वे सभी बातें इस कौटिल्य अर्थशास्त्र के धर्म-स्थीय प्रकरण में अत्यन्त असाधारण निपुणता से विस्तृत व्याख्या के साथ आलोचित हुई हैं। अति प्राचीन नारद-स्मृति में मानवधर्मशास्त्र के व्यवहार प्रकरण की विस्तृत व्याख्या तथा विशद आलोचना हुई है। इसी शास्त्र से यत्किंचित् अंशमात्र उद्धृत करके याज्ञवल्क्यसंहिता की मिताक्षरा नामक प्रसिद्ध टीका लिखी गई है। अत्यन्त प्राचीन आचार्यप्रवर 'असहाय' ने इस नारदस्मृति का भाष्य प्रणयन किया है। जिस समय भारत की राष्ट्रिय चेतना जागृत थी उस समय इस तरह के अनेक ग्रंथ प्रणीत हुए तथा उनका अत्यधिक समादर भी हुआ। आठवीं शताब्दी की रचना याज्ञवल्क्यसंहिता की टीका 'बालक्रीड़ा' तथा नौवीं शताब्दी में बना मनु-संहिता का मेधातिथि भाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थ इस राष्ट्रनीति की आलोचना से परिपूर्ण हैं। किन्तु हमारी राष्ट्रिय भावनाओं के लुप्त होने के साथ ही साथ इन सब ग्रन्थों की आलोचना भी लुप्त हो गई।

महाभारत के सूत्राध्याय में कहा गया है कि अति प्राचीन काल में राज्य, राजा, दण्ड, दण्डी आदि कुछ न था। प्रजावर्ग धर्म के प्रभाव से आपस में एक दूसरे की रक्षा करते थे। नारदस्मृति में भी इस महाभारतीय उक्ति का समर्थन किया गया है। दीर्घकाल तक इस प्रकार परस्पर रक्षित होते रहने के अनन्तर प्रजावर्ग में अनेक विभ्रामक भावनाएँ उठने लगीं, इसका फल यह हुआ कि प्रजा-गण खिन्न एवं विमुग्ध रहने लगा। उस समय विमुग्ध प्रजावर्ग लोभग्रस्त होकर अत्यन्त राग-द्वेष युक्त होने लगा एवं अनेक प्रकार के अकार्यों में उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इस क्रम से प्रजा में घोर क्षोभ उत्पन्न होने पर विद्या, धर्म आदि सभी उत्तमोत्तम संस्कार नष्ट हो गये। उस समय देवताओं के प्रार्थना-

नुसार पितामह भगवान् ब्रह्मा ने सारे संसार के कल्याणार्थ एक लाख अध्यायों का एक सुविशाल ग्रंथ निर्माण किया। इस ग्रन्थ में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और वृहत्तम परिमाण में दण्डनीति ये चार प्रकार की विद्याएँ प्रतिपादित हुई थीं। यह ब्रह्मा जी द्वारा निर्मित सुविपुल ग्रंथ ही आगे चल कर 'पैतामहतन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राष्ट्र संगठन और उसकी रक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ आवश्यक था, वह सब कुछ इस ग्रंथ में अति विशद रूप में व्याख्यात हुआ था। इस ग्रंथ के सभी आलोच्य विषयों का अति वृहत् सूची-पत्र महाभारत के सूत्राध्याय में प्रदर्शित हुआ है। मात्र इस सूचीपत्र के पठन और मनन से ही प्राचीन भारत की दण्डनीति के सम्बन्ध में सुस्पष्ट धारणा हो सकती है। इस दण्डनीति-शास्त्र की चिरकाल तक विवेचना न हो सकने के कारण अनभ्यस्तता दोष आ जाने से महाभारत के टीकाकारों ने भी इसका पूर्ण रहस्य न जान पाया। इसी से इस विषय की वास्तविक रहस्य विवृति में उन्होंने असफलता ही नहीं पाई प्रत्युत कहीं कहीं अर्थ का अनर्थ भी कर डाला। इसके लिए पाठक वर्ग से सनिर्वध अनुरोध है कि वे एक बार राजधर्मानुशासन के सूत्राध्याय को अवश्य पढ़ कर देखें। इससे उक्त कथन की सत्यता उनको ज्ञात हो सकेगी। यह 'पैतामहतन्त्र' अतिविशाल है, यह हम पहले ही कह आये हैं। इसके एक लाख अध्याय हैं। यदि प्रत्येक अध्याय में २० श्लोक भी मान लिये जावें तो इसकी श्लोकसंख्या २० लाख होती है। ऐसे विशाल ग्रंथ का अध्ययन सर्वसाधारण के सामर्थ्य से बाहर है। इसी कारण भगवान् विशालाक्ष (महादेव जी) ने पैतामहतन्त्र का सार संग्रह कर दस हजार अध्यायों का एक अलग ग्रंथ बनाया जिसका नाम 'वैशालाक्षतन्त्र' हुआ। इस 'वैशालाक्षतंत्र' के कितने ही सिद्धान्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हुए हैं।

नीतिशास्त्र में भगवान् उमापति शंकर का ही नाम 'विशालाक्ष' बताया गया है। इसको न जान सकने के कारण ही कौटिल्य अर्थशास्त्र के सम्पादक वर्ग ने विशालाक्ष के परिचय देने में असमर्थता प्रकट की है। याज्ञवल्क्य की टीका 'बालकीड़ा' में इस वैशालाक्ष-तन्त्र से अनेक वाक्य उद्धृत किये गये हैं। इस वैशालाक्ष-तन्त्र का सार संकलन कर भगवान इन्द्र ने ५ हजार अध्यायों का एक अलग ग्रंथ रचा जिसका नाम 'वाहुदन्तकतन्त्र' हुआ। कौटिल्य अर्थशास्त्र में जो सिद्धान्त इस तन्त्र से उद्धृत किये गये हैं उनमें देवराज इन्द्र को वाहुदन्ती का पुत्र कह कर निर्देश किया है। इसके बाद बाहुदन्तकतन्त्र से सार संकलन कर भगवान् वृहस्पति ने ३ हजार अध्यायों का एक अन्य तन्त्र रचा। इस तन्त्र का नाम 'वार्हस्पत्यतन्त्र' हुआ। इसके बाद वार्हस्पत्यतन्त्र से सार संग्रह कर भगवान् उशना (शुक्र) ने एक अन्य ग्रंथ एक हज़ार अध्यायों का प्रणयन किया जिसका नाम 'औशनसतन्त्र' हुआ। इन समस्त तन्त्रों से अनेक सिद्धान्त कौटिल्य अर्थशास्त्र में संगृहीत हुए हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही आचार्य कौटिल्य ने कह दिया है कि "पृथ्वी का स्वामित्व प्राप्त करने तथा उसके परिपालन आदि के लिए पूर्वाचार्यों ने जो समस्त अर्थशास्त्र रचे हैं प्राय: उन्हीं समस्त ग्रंथों का एकत्र संकलन करके यह अर्थशास्त्र (दण्ड-नीतिशास्त्र) संकलित हुआ है।

जैसे विशालाक्ष, उशना प्रभृति महानुभावों ने अलग अलग दण्डनीतिशास्त्र रचे, इसी तरह प्राचेतम मनु, भगवान् भरद्वाज, एवं गौरशिरा मुनि प्रभृति आचार्यों के द्वारा भी दण्डनीतिशास्त्र ग्रन्थ रचे गये। यह दण्डनीतिशास्त्र प्रणेता सभी आचार्य ब्रह्मण्य एवं ब्रह्मवादी थे (राजधर्मपर्व, अध्याय ५८ श्लोक २–३)। प्राचीन समय में ब्रह्मवादी ऋषिगण ही राष्ट्रतन्त्र के प्रणेता तथा परिचालक थे। इससे उनकी ब्रह्मविद्या तनिक भी म्लान नहीं हुई। वर्तमान समय में हमारी यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि राष्ट्रतन्त्र की आलोचना दुर्जनों का कार्य है, यह सज्जन धार्मिकों का काम नहीं। राष्ट्रिय चेतना के अभाव जनित हमारा दारुण अध:पतन ही हमारी इस धारणा का मूल कारण है। दुर्जनों के राष्ट्रतन्त्र प्रणेता एवं परि-चालक होने से किसी प्रकार भी प्रजा का कल्याण संभव नहीं।

भगवान् स्वायम्भुव मनु जिस तरह धर्मशास्त्र के प्रणेता हैं इसी तरह प्राचेतस मनु दण्डनीतिशास्त्र के प्रणेता हैं। भारताचार्य द्रोण जब कौरव सेना के सेनापति पद पर नियुक्त हुए तब उन्होंने अपने अभिभाषण में कहा था कि "मुझे जैसे षडंग वेद अवगत है ऐसे ही मानवीय अर्थशास्त्र भी यथार्थ रूप से ज्ञात है (द्रोण पर्व ७ अ० १ श्लोक)। द्रोणाचार्योक्त यह मानवीय अर्थशास्त्र प्राचेतस मनु का निर्माण किया हुआ है। बहुत लोग प्राचेतस मनु और स्वायम्भुव मनु का भेद न जान सकने के कारण स्वायम्भुव मनु को ही अर्थशास्त्र का प्रणेता बतलाते हैं। हमारे विचार में दक्ष प्रजापति ही महाभारत में प्राचेतस मनु के नाम से पुकारे गये हैं। महाभारत के राजधर्मपर्व के ५७वें अध्याय में प्राचेतस मनु प्रणीत राजधर्म का उल्लेख है एवं उसी ग्रंथ से दो श्लोक भी वहाँ उद्धृत किये गये हैं। महाभारत के अन्यान्य स्थलों में भी प्राचेतस मनु के ग्रंथ से कई सिद्धान्त उद्धृत हुए हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि, भीष्म कौणपदन्त, तथा यदुवंशियों के प्रधानमंत्री उद्धव जो वातव्याधि के नाम से पुकारे गये हैं, भी दण्डनीति के प्रणेता है। इस समय 'कामन्दक नीतिसार, 'शुक्र नीतिसार', आदि जो नीति ग्रंथ उपलब्ध होते हैं ये सब पूर्वाचार्यों के ग्रंथों से ही सार रूप में सामान्य सिद्धान्तों को लेकर संकलित हुए हैं। 'कामन्दक नीतिसार', कौटिल्य अर्थशास्त्र से संकलित हुआ है यह बात कामन्दक नीति में ही सुस्पष्ट कह दी गई हैं। महा-भारत में कई स्थानों पर असुर राज शम्बर को भी राष्ट्रनीति का प्रणेता कहा गया है। हमारा विचार है कि शुक्राचार्य द्वारा ही असुरगणों में इस दण्डनीति-

शास्त्र का प्रसार हुआ। उद्योगपर्व के ७२वें अध्याय के २२वें श्लोक में शाम्बर सिद्धान्त उद्धृत हुए हैं।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड के ७७वें अध्याय में मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, आदि महर्षियों का राजकार्य निर्वाहक ब्राह्मण कह के निर्देश किया गया है। येही सब ऋषिगण सम्राट् दशरथ के राज्य के परिचालक थे। रामायण में अयोध्या काण्ड के सौवें अध्याय में भगवान् श्री रामचन्द्र ने भरत को अति विस्तृत रूप में राष्ट्रनीति बतलाई हैं। इस अध्याय का अनुशीलन करने पर राष्ट्रनीति के सम्बन्ध में बहुत-सी नई बातें ज्ञात होती हैं। रामायण के इस अध्याय के अनुरूप एक अध्याय महाभारत के सभापर्व में है। महाभारत के सभापर्व के पञ्चम अध्याय में देवर्षि नारद ने महाराज युधिष्ठिर के सामने राष्ट्रतन्त्र का विशद वर्णन किया है। रामायण के अयोध्या काण्ड के सौवें अध्याय के सभापर्व के इस पंचम अध्याय के अनुरूप होने पर भी रामायण से तुलना करने पर महाभारत की गवेषणा गम्भीर एवं विस्तृत प्रमाणित होती है। महाभारत के उक्त अध्याय के पठन से देवर्षि नारद के विषय में हमारी धारणा कुछ परिमार्जित हो जाती है। हम लोग वर्तमान परिस्थिति के अनुसार देवर्षि नारद को मात्र भक्तिवाद का ही परमाचार्य समझते हैं। किन्तु महाभारत के पूर्वोक्त स्थल का अध्ययन करने पर उनके विषय में इसके विपरीत धारणा (अर्थात् देवर्षि नारद राष्ट्रतन्त्र के प्रणेता विशिष्ट आचार्य हैं) हो जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् के ७वें अध्याय में देवर्षि नारद का जैसा विज्ञान सम्पन्न कह कर निर्देश किया गया है, महाभारत के उक्त अध्याय में भी देवर्षि नारद का स्वरूप उस उपनिषद् के वर्णनानुरूप ही दिखाया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी नारद प्रणीत राष्ट्रतन्त्र (नारदस्मृति) से बहुत से सिद्धान्त संगृहीत हुए हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में नारद को 'पिशुन' कह कर निर्देश किया गया है। अर्थ-शास्त्र के प्रणेतागणों के नाम निर्देशन के सम्बन्ध में कुछ विचित्रता है। जैसे भग-वान् विष्णुगुप्त 'कौटिल्य' नाम से अभिहित हुए हैं इसी तरह देवर्षि नारद 'पिशुन' के नाम से पुकारे गये हैं। पितामह भीष्म 'कौणपदन्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्थशास्त्र प्रणेता आचार्य गणों के नाम विपर्यास का कारण खोजने पर और भी कुछ गूढ़ रहस्य अवगत हो सकेगा। इस अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आलोचना करने के पूर्व उसकी भूमिका स्वरूप हम आचार्यगण के परिचय के बारे में यहाँ एक-दो बातें कह देना उचित समझते हैं।

राष्ट्रिय चेतना के अभाव से हमको दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना अत्यन्त नीरस और अकिंचित्कर-सी जान पड़ती है। किन्तु भारतवर्ष के अभ्युदय का एकमात्र अवलम्बन यही राष्ट्रतन्त्र (राजधर्म) का परिज्ञान है क्योंकि राष्ट्रिय भावनाओं के जागृत हुए बिना राष्ट्र की उन्नति सर्वथा असम्भव है। किन्तु राष्ट्र के जन-

साधारण में इस राष्ट्र चेतना को जागृत करना ही वर्तमान दुःसमय का एकमात्र प्रतीकार है। बचपन से ही बच्चों को इस राष्ट्रतन्त्र की शिक्षा की परमावश्यकता है। गणित, विज्ञान आदि विषयों की तरह राष्ट्रतन्त्र का अनुशीलन भी बच्चों को बचपन से ही होना आवश्यक है। इससे जनसाधारण को कर्म करने का उत्साह, कर्म करने का सामर्थ्य, दक्षता आदि बातें अधिक मात्रा में प्राप्त हो सकेंगी। इसके पढ़ने मात्र से ही कर्तव्य समाप्त न होगा किन्तु शास्त्रानुसार कार्य सम्पादन की चतुरता भी प्राप्त करनी होगी। इस लिये शिक्षा तथा शिक्षकों में विशेष परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

जिस राष्ट्र की साधारण प्रजा उसकी राष्ट्रनीति में कुशल नहीं है उस राष्ट्र की उन्नति असम्भव हो जाती है। हम इस प्रबन्ध के पाठकों से अनुरोध करते है कि चिरकाल से अनालोचित और उपेक्षित हुए इस शास्त्र का रसास्वादन कराने के लिये भारतीयों को प्रबोधित करें। यह शिक्षित समाज का आवश्यक कर्तव्य है। हमारी क्षुद्र बुद्धि में तो यही दृढ़ धारणा है कि भारत का वास्तविक स्वरूप अवगत होने से राष्ट्रिय भावनाएँ प्रबुद्ध हो सकेंगी। इस लिये अति अभिनिविष्ट बुद्धि से महाभारत तथा बाल्मीकिरामायण का पर्यालोचन आवश्यक है। सामान्य दृष्टि से उक्त पुस्तकों के पाठ द्वारा उस प्रकार के कल्याण की सम्भावना नहीं की जा सकती। इस प्रबन्ध में प्रदर्शित क्रम से इन ग्रंथों की आलोचना करने पर प्राचीन भारत की राष्ट्रनीति का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकेगा एवं वर्तमान में उसका उपयोग कहाँ तक समुचित होगा यह बात भी स्पष्ट रूप से अवगत हो सकेगी। जिन व्यक्तियों का यह विचार है कि प्राचीन भारत में हमारी राष्ट्रनीति थी ही क्या, उनसे हमारा यही निवेदन है कि वे रामायण, महाभारत, मनुसंहिता, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों का परिशीलन करें फिर वे अपना सिद्धान्त स्थिर करें और दूसरों को सयुक्तिक उसकी उपयोगिता बतावें। भारत का स्वरूप जाने बिना कोई भी नीति भारत में प्रयुक्त होने पर वह कल्याण-जनक न होकर अकल्याणकर ही सिद्ध होगी। अतः किस नीति से उसका कल्याण हो सकेगा और किस से अकल्याण होगा इसका निर्णय करना आवश्यक है। आज हमको सर्वत्र ही खेद ही खेद दिखाई पड़ रहा है विशेषतः शिक्षा पद्धति में। क्या आज ऐसा कोई भारतबन्धु नहीं जो इस समस्त शास्त्र की आलोचना करके भारत का यथार्थ स्वरूप और उसकी समुचित नीति का प्रकाश कर तदनुसार कार्य सम्पादन द्वारा हमको प्रबुद्ध कर सके? हमने इस प्रबन्ध में ऐसे ही भारतबन्धु वर्ग की दृष्टि इधर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है।

हम बाल्मीकि रामायण में देखते हैं कि, अर्धरात्रि में राजा दशरथ की मृत्यु हो जाने पर अगले दिन प्रातःकाल सम्पूर्ण राज्य परिचालक ब्राह्मण वर्ग राज्य की सुव्यवस्था के लिये राज सभा में एकत्रित होता है। महाराज दशरथ की मृत्यु

हो जाने और राजकुमारों के राजधानी में उपस्थित न होने से यह राज्य आज अराजक दशा में है। अराजक राज्य का विनाश अनिवार्य है यह बात सोच कर ही राज्य को सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित रखने के लिये विचार करना आवश्यक है यही विचार कर यह ब्राह्मण वर्ग राज सभा में उपस्थित हुआ है। इसमें मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम, जावालि और वशिष्ठ के नाम देखे जाते हैं। यह समस्त ब्रह्मविद् ब्राह्मणगण अन्यान्य राजमंत्रियों के साथ मिल कर भगवान् वसिष्ठ को प्रधानन् पद पर नियुक्त कर अयोध्या की राजसभा में राष्ट्र रक्षा के लिये जो विस्तृत आलोचना तथा मन्त्रणा करते हैं उसका मनोयोग पूर्वक परिशीलन करने से ज्ञात हो सकेगा कि यह ब्रह्मवादी ऋषि वर्ग और सज्जन धार्मिक गण ही राष्ट्रतन्त्र के परिचालक थे। दुर्जनों को राष्ट्रतन्त्र का अधिकार ही न था (रामायण अयोध्याकाण्ड ६७ अध्याय)। इस अध्याय को अच्छी तरह पढ़ने पर और भी जाना जा सकता है कि यह ऋषिमण्डल राष्ट्र को किस आत्मीयता से देखता था। राष्ट्र के साथ उसका क्या सम्बन्ध था और राष्ट्र की सम्पत्ति तथा विपत्ति उनके हृदयों को कितना सुखी तथा दुःखी बना देती थी। इस अध्याय के ८ वें श्लोक में कहा गया है कि "हमारा यह सुसमृद्ध राज्य राजा के अभाव में नष्ट न हो जाय।"

रामायण के इस अध्याय में—राजसभा में सम्मिलित हुए मार्कण्डेय आदि ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि "सम्राट् दशरथ तो आज स्वर्गत हो गये और महाराज के चारों पुत्रों में से राम और लक्ष्मण १४ वर्ष के लिए बनवासी हो गये हैं, दूसरे दो पुत्र भरत और शत्रुघ्न सुदूरवर्ती केकय देश में अपन नाना के यहाँ हैं, इस दशा में आज राजपद शून्य है, हमारा यह समृद्ध राज्य राजा के विना नष्ट न हो जाय इस लिये इक्ष्वाकुवंशीय किसी भी एक अधिकारी योग्य व्यक्ति को आज ही राजपद पर अभिषिक्त कर देना चाहिये।" इस जगह विशेष ध्यान देने लायक यह बात है कि मार्कण्डेय आदि ऋषिगण अयोध्या के राज सिंहासन पर इक्ष्वाकुवंश के एक योग्य व्यक्ति को अभिषिक्त करना चाहते हैं। किन्तु राजा दशरथ के योग्यतम चार पुत्रों के जीवित रहते केवल सुदूरवर्ती होने मात्र से ही ऋषिगण अपनी इच्छा से अन्य व्यक्ति को अभिषिक्त करना चाहते हैं। राज्य में मंत्रिमण्डल का कितना अधिक अधिकार होने पर यह प्रस्ताव रखना संभव हो सकता है यह सब ही के विचारने की बात है। और भी विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इक्ष्वाकुवंशीय और किसी भी योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाने के पक्ष में ऋषियों ने यह कारण दिखाया है कि हम अपना यह समृद्ध राज्य केवल मात्र राजा के अभाव में नष्ट होने देना नहीं चाहते। हम जानते हैं कि राज्य पर राजा दशरथ का और उसके बाद उनके पुत्रों का अधिकार है। किन्तु ऋषिगण कहते हैं कि राज्य हमारा है और किसी भी योग्य व्यक्ति को राजा

बनाकर हम राज्य की रक्षा करेंगे। यही प्राचीन भारत के राजतन्त्र शासन का एक स्वरूप है—यह आधुनिक गणतन्त्र शासन नहीं है। गणतन्त्र राज्य में भी राज्य का प्रजापुंज राज्य को अपना समझ कर ऐसी भावना नहीं कर सकता। गणतन्त्र राज्य की रचना ही ऐसी चमत्कारी है जिसमें किसी तरह भी राज्य की प्रजा राज्य को अपना नहीं समझ सकती। किन्तु प्राचीन भारत के राजतन्त्र की व्यवस्था ऐसी थी कि, जिसमें प्रजावृन्द राष्ट्र को अपना तो समझता ही था साथ ही राष्ट्र के लिए राजा का निर्वाचन भी प्रजा के ही हाथ में था। यदि ऐसा न होता तो मार्कण्डेय आदि ऋषिगण इस तरह का प्रस्ताव करने का साहस ही न कर सकते। इस अध्याय के १८ वें श्लोक में कहा गया है कि राजा के रक्षक न होने पर राष्ट्र ही नष्ट हो जावेगा—रक्षक शून्य राष्ट्र की दुर्गतियों में से सबसे बड़ी दुर्गति यह है कि, बहुधन सम्पन्न कृषक लोग और धनवान् पशुपालक गण राजा से सुरक्षित न होने के कारण अपने मकानों के दरवाजे खोल कर सुख से नहीं सो सकते। नृपशून्य राज्य की यह दुर्दशा होती है। किन्तु हम तो प्रबल पराक्रमशाली राजाओं की संरक्षणता में भी खुले दरवाजे मकानों में नहीं सो सकते। दरिद्र भी खुले दरवाजे नहीं सो सकते धनिकों की तो बात ही क्या है। कृषकगण धनवान् है, यह तो हमारे स्वप्न से भी परे की बात हो गई है। नृपरहित राज्य की जो असुविधायें कही गई हैं. हम राजा से सुरक्षित राज्य में भी उससे सौ गुनी अधिक असुविधायें भोग रहे हैं। कुछ मूर्ख लोग प्राचीन भारतीय परम्परा का कोई ज्ञान न रखने के कारण ही भारतीय राजतंत्र शासन को बहुत बुरा बताने का प्रयत्न करते आ रहे हैं।

रामायण के इस अध्याय के १७ वें श्लोक में कहा गया है कि अराजक राज्य में कुमारीगण सुवर्णालंकारों से भूषित होकर खेलने के लिए सायंकाल बगीचों में नहीं जा सकतीं। हम प्रबल पराक्रमी राजा के द्वारा रक्षित राज्य में भी यह दृश्य देखते हैं कि अलंकार रहित कुमारीगण घर के दरवाजों को बन्द करके उन बन्द घरों में रहती हुई भी दिन में ही अपना सम्मान और जीवन रक्षा करती हुई नहीं रह सकती है। कुछ कूपमण्डूक समालोचक अत्यन्त मूर्खों की तरह प्राचीन भारत की सभ्यता के विरुद्ध टीका टिप्पणी करके सर्वसाधारण में उस सभ्यता के विरुद्ध भ्रान्त धारणा उत्पन्न करते हैं। रामायण के इस अध्याय के १९ वें श्लोक में कहा गया है कि अराजक राज्य में विलासी लोग तेज चलने वाली सवारियों में बैठ स्त्रियों के साथ जंगलों में घूमने के लिए नहीं जा सकते। रामायण के इस अध्याय में इस तरह की और भी बहुत सी बातें हैं जिनकी आलोचना करने पर प्राचीन भारत के राजाओं के राज्य में रक्षा का स्वरूप समझा जा सकता है। इस जगह विशेष ध्यान देने की बात यह है कि हमारी इन उद्धृत उक्तियों के प्रवक्ता मार्कण्डेय, मौद्गल्य प्रभृति ऋषिगण ही हैं।

हम महाभारत में स्पष्ट देखते हैं कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण सन्धि का प्रस्ताव करने के लिए उपलव्य नगर से हस्तिनापुर जा रहे थे उस समय उनको ब्रह्मतेज से दीप्यमान ऋषिगण अपने गन्तव्य मार्ग के दोनों ओर खड़े दिखाई दिये। तेजस्वी ऋषिगण को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण अपने रथ से उतर कर अत्यन्त विनीत भाव से उपस्थित ऋषि वृन्द से पूछने लगे कि आप लोग किस कार्य के लिए कहाँ जा रहे हैं? और मैं आप लोगों के लिए क्या कर सकता हूँ? इसके उत्तर में ऋषिमण्डल कहने लगा कि हस्तिनापुर में कौरव तथा पाण्डवों के बीच सन्धि के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एक महती सभा का अधिवेशन होगा। जिस सभा में पितामह भीष्म, आचार्यप्रवर द्रोण, महामति विदुर आदि उपस्थित होंगे। और जिस सभा में सम्मिलित होने के लिए हे कृष्ण! आप स्वयं जा रहे हैं; उस सभा में आप का तथा द्वितीय पक्ष का विचित्र आलोचन-प्रत्यालोचनात्मक अभिभाषण सुनने के लिए हम लोग हस्तिनापुर जा रहे हैं। इस सभा में यथार्थ सत्य और राष्ट्र की सर्वथा हितकारक बहुत सी समस्याओं की आलोचनायें होंगी। इस सभा में बहुत से बहुश्रुत ब्राह्मण, देवर्षिगण और राजर्षि-गण सम्मिलित होंगे (महाभारत—उद्योगपर्व ८३ अध्याय)।

इस अध्याय का अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा कि उस समय का ऋषिसमाज राष्ट्र की अच्छी बुरी व्यवस्थाओं की उपेक्षा करता हुआ भारतवर्ष में नहीं रहता था। आज हम क्या यह कल्पना भी कर सकते है कि किसी भी राष्ट्रिय योजना में योग देने के लिए हमारे देश का अध्यात्मवादी समाज सम्मिलित हो सकता है? सम्मिलित होने के प्रयोजन का भी क्या अनुभव वह कर सकता है? अथवा राष्ट्रिय आलोचनाओं में भाग लेने की योग्यता भी क्या उसमें है? सम्मि-लित होने पर भी अपनी राष्ट्रिय चेतनायुत दक्षता का परिचय देकर क्या वह अपने सुयश को अक्षुण्ण रख सकता है?

प्राचीन भारत की राष्ट्रिय आलोचनाओं का उच्चतम आदर्श आज हमारे लिये स्वप्नातीत हो गया है। चिर-काल से भारत का सज्जन धार्मिकगण राष्ट्र-तन्त्र की आलोचनाओं से अपने को अलग रखना ही श्रेष्ठ कर्त्तव्य मानकर इससे सर्वथा उपरत हो गया है। यह बात नहीं कि केवल मुसलमान और अंग्रेजों के शासन काल में ही यह रीति अपनाई गई हो, बल्कि इसके पूर्व हिन्दू राजाओं के शासन काल में ही इस नीति का अनुसरण होने लगा था।

इस समय के हिन्दू राजाओं की सभा में श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्रिगण भी किसी अंश तक धर्मशास्त्र की आलोचना कर लेते थे किन्तु दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना को उचित नहीं समझते थे। मन्त्री हेमाद्रि प्रणीत "चतुर्वर्गचिन्तामणि" आदि ग्रन्थों को देखने पर हमारे इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी। उनके ग्रन्थों में दण्डनीतिशास्त्र के अन्तर्गत धर्मस्थीय अधिकरण अर्थात् व्यवहार (दीवानी

फौजदारी) कण्टक शोधन, संक्षिप्त राजवृत्त आदि किसी अंश तक विवेचित होने पर भी सम्पूर्ण दण्डनीतिशास्त्र आलोचित नहीं हुआ और न कोई उसका निदर्शन आज हमें प्राप्त ही है। दण्डनीतिशास्त्र की जो यत्किंचित् आलोचना हुई भी है वह भी धर्मशास्त्र की आलोचना के प्रसंग में ही हुई है। दण्डनीति का जो यत्किंचित् अंश व्याख्यात भी हुआ वह धर्मशास्त्र से एकान्त सम्बद्ध था। दण्डनीति के उतने ही अंश की आलोचना परवर्ती हिन्दू राजाओं के शासनकाल में किसी किसी मनीषी के ग्रन्थ में मिलती है। यह आलोचना भी नौवीं दशवीं शताब्दी में जितने विस्तृत रूप से हुई है चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में उसका और भी संक्षिप्त रूप हमें दिखाई पड़ता है। परवर्ती पण्डित समाज की इस दण्डनीतिशास्त्र की आलोचनाओं से रुचि हट जाना ही इस कमी का एकमात्र कारण है। महाभारत के शान्तिपर्व के ६३वें अध्याय के २८वें श्लोक में कहा गया है कि, 'मज्जेन्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः। सर्वेधर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे'॥ इसका अर्थ है—शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे महाराज! यह अनादि सिद्ध राजधर्म परित्यक्त होने पर दण्डनीति के उच्छेद हो जाने से समस्त वेद विलुप्त हो जायेंगे, सारी विवृद्ध धर्मराशि नष्ट हो जायगी एवं समस्त आश्रम धर्मों का उच्छेद हो जायगा। शान्तिपर्व के ६३वें अध्याय में ही यह भी कहा गया है कि, हमको वेद से यही ज्ञात हो सका है कि समस्त धर्म तथा उपधर्म राजधर्म द्वारा ही रक्षित होते हैं और उसी के अन्तर्गत हैं। सभी धर्म राजधर्म में सूक्ष्म रूप से विलीन रहते हैं। सब धर्मों में राजधर्म ही प्रधान है; इसलिए समस्त प्राणि वर्ग राजधर्म के द्वारा ही प्रतिपालित होता है। समस्त त्याग ही राजधर्म में विद्यमान है; और त्याग ही पुरातन श्रेष्ठ धर्म है। सारी विद्याएँ राजधर्म से युक्त हैं तथा सारा लोक राजधर्म में ही प्रविष्ट है। राजधर्म से अलग होकर कोई भी धर्म स्थिर नहीं रह सकता। यद्यपि रामायण और महाभारत में दण्डनीतिशास्त्र की बहुत प्रशंसा की गई है, और जिस शास्त्र की उपयोगिता सब ही सर्वदा सर्वथा अनुभव करते हैं, फिर भी उस दण्डनीतिशास्त्र से हमारी विमुखता हमारे एकान्त दुर्भाग्य का ही फल है। आज भारतवर्ष में अनेक विद्याओं में परम प्रवीण और यशस्वी अनेक व्यक्तियों के रहते हुए भी राजनीतिशास्त्र में प्रवीण एक दो व्यक्ति भी मिलना कठिन हैं। भारतीय जनता का अखण्ड दुर्भाग्य का ही उदय हुआ है जो आज हमारी यह शोचनीय दशा उपस्थित हुई है।

स्वायम्भुव मनु प्रणीत धर्मशास्त्र को जो मनुसंहिता के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें दण्डनीतिशास्त्र का किन्हीं अंशों तक विवेचन रहने पर भी दण्डनीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र नहीं कहा जा सकता। नारदस्मृति के प्रारम्भ में मानवधर्मशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में की गयी आलोचना देखी जाती

है। इस आलोचना को नारदस्मृति की भूमिका स्वरूप कहा जा सकता है। इस भूमिका में कहा गया है कि भगवान् मनु ने समस्त प्राणियों के अनुग्रहार्थ आचार स्थिति का हेतु-भूत शास्त्र प्रणयन किया है। इस शास्त्र में २४ प्रकरण हैं। १—लोक सृष्टि, २—प्राणियों का विभाग, ३—अच्छे देश का प्रमाण, ४—पर्षत्-लक्षण, ५—वेद निरूपण, ६—वेदांग निरूपण, ७—यज्ञ विधान, ८—आचार, ९—व्यवहार, १०—कण्टक शोधन, ११—राजवृत्त, १२—वर्ण विभाग, और आश्रम विभाग, १३—विवाह निर्णय, १४—स्त्री पुरुष सविकल्प, १५—दायानुक्रम, १६—श्राद्ध विधान, १७—शौचाचार विकल्प, १८—भक्ष्याभक्ष्य लक्षण, १९—विक्रेयाविक्रेय मीमांसा, २०—पातक भेद, २१—स्वर्ग-नरक का वर्णन, २२—प्रायश्चित्त, २३—उपनिषद्, २४—रहस्य स्थान। पूर्व प्रदर्शित इन २४ प्रकरणों में से नवम प्रकरण में व्यवहार निरूपण है। मनुप्रोक्त नवें प्रकरण के व्यवहार के आधार पर ही देवर्षि नारद ने "व्यवहारमातृका" की रचना की थी। इस व्यवहारमातृका का नाम ही "नारदस्मृति" प्रसिद्ध है। दीवानी फौजदारी न्यायविचार को ही व्यवहार कहा जाता है। नारदस्मृति में जैसा विस्तृत व्यवहार निरूपण हुआ है ऐसा विस्तृत व्यवहार निरूपण और किसी स्मृति ग्रंथ में नहीं देखा जाता। याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय की टीका मिताक्षरा, नारद-स्मृति के आश्रय से ही इतना विस्तार पा सकी है। नारदस्मृति के प्रारम्भ में जिस भूमिका का उल्लेख किया गया है वह देवर्षि नारद प्रणीत है या नहीं इस विषय में स्वभावतः ही सन्देह होता है। हमारे विचार से नारदस्मृति के भाष्य-कार आचार्यप्रवर असहाय ने यह भूमिका लिखी है। वर्तमान समय में जो मनुसंहिता हमको प्राप्त है, उसमें २४ प्रकरणों का विभाग न होकर केवल १२ अध्यायों में वह विभक्त है। मनुसंहिता के प्रथम अध्याय के १११ श्लोक से लेकर जो अनुक्रमणिका दिखाई गई है, उसमें जो उक्त २४ प्रकरण कहे हैं, उनमें बहुत कुछ न्यूनाधिकता दीख पड़ती है। मनुसंहिता की अनुक्रमणिका में भी मनु-संहिता को १२ अध्यायों में विभक्त नहीं किया गया है। केवल प्रकरणों का उल्लेख मात्र किया गया है। नारदस्मृति की भूमिका में कहा है कि मनुसंहिता की श्लोक संख्या एक लाख है और उसकी अध्याय संख्या एक हजार अस्सी (१०८०) है। भगवान् मनु ने इस सुवृहत् ग्रन्थ का प्रणयन करके देवर्षि नारद को दिया और देवर्षि नारद ने इसे एक हजार श्लोकों में संक्षिप्त करके महर्षि मार्कण्डेय को दिया। महर्षि मार्कण्डेय ने भी इसको ८ हजार श्लोकों में संकलित करके सुमति भार्गव को दिया। सुमति भार्गव ने ४ हजार श्लोकों में इस शास्त्र का संकलन किया है। यह ४ हजार श्लोक संख्या समन्वित सुमति भार्गव की संकलित संहिता ही मनुसंहिता के नाम से लोक में प्रचलित है। इस मनुसंहिता का आद्यश्लोक

आसीदिदं तमोभूतं न प्राज्ञायत किंचन।
ततः स्वयम्भूर्भगवान् प्रादुरासीच्चतुर्भुजः॥

यही एक श्लोक उक्त मनुसंहिता का प्रथम श्लोक कह कर नारदस्मृति की भूमिका में उल्लेख किया गया है। किन्तु वर्तमान समय में जो मनुसंहिता मिलती है उसमें यह पंचम श्लोक है और उसमें भी उक्त श्लोक का प्रथम चरण तो मिलता है, परन्तु शेष ३ चरण भिन्न रूप में है। वर्तमान समय में प्राप्त मनुसंहिता में उक्त श्लोक इस रूप में मिलता है :

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

वर्तमान मनुसंहिता की श्लोक संख्या भी २६८४ है। नारदस्मृति की भूमिका में कहा गया है कि सुमति भार्गव की संकलित मनुसंहिता की श्लोक संख्या चार हजार है। सुमति भार्गव ने जो चार हजार श्लोकों में मनुसंहिता का संकलन किया था, उसके भी बहुत से श्लोक वर्तमान समय में लुप्त हो गये हैं। मनुसंहिता के भाष्यकार मेधातिथि ने नारदस्मृति का उल्लेख करके मनुसंहिता के सम्बन्ध में जो कुछ बातें कही हैं वे नारदस्मृति की भूमिका से विरुद्ध पड़ती है। मेधातिथि के भाष्य में देखा जाता है कि यह मानवधर्मशास्त्र एक लाख श्लोकों में निबद्ध है एवं प्रजापति रचित है। प्रजापति प्रणीत यह धर्मशास्त्र मनु आदि ऋषियों ने क्रमशः संक्षिप्त किया है (मनु सं० १ अ० ५८ श्लोक)।

मेधातिथि ने नारदस्मृति की उक्तियों को उद्धृत करके ही ऐसा कहा है। किन्तु नारदस्मृति में जो वर्णन मिलता है, उसका रूप मेधातिथि प्रदर्शित नारदस्मृति के वर्णन से भिन्न है। नवीं शताब्दी में विद्यमान मेधातिथि ने मनुसंहिता के भाष्य में मनुसंहिता के चार हजार श्लोकों का उल्लेख नहीं किया है। २४ प्रकरणों की बात भी नहीं कही है। मनुसंहिता १२ अध्यायों में कैसे विभक्त हुई यह भी नहीं कहा है—केवल मनुसंहिता की अनुक्रमणिका में जिन जिन विषयों का उल्लेख हुआ है, उन विषयों में से कौन-कौन किस अध्याय में है, यही केवल बताया है। मनुसंहिता का नवम प्रकरण "व्यवहार" है और इसी व्यवहार का आश्रय ले नारद ने "व्यवहारमातृका" लिखी है; यही बात नारदस्मृति की भूमिका से ज्ञात होती है। किन्तु वर्तमान में उपलब्ध मनुसंहिता की अनुक्रमणिका में "व्यवहार" नवम प्रकरण नहीं है।

मनुसंहिता के प्रतिपाद्य विषयों की आलोचना करने पर इसको आचार स्थिति हेतुभूत धर्मशास्त्र ही कहा जा सकता है। इसको दण्डनीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र नहीं कहा जा सकता। महाभारत में जो मानव अर्थशास्त्र का उल्लेख मिलता है वह स्वायम्भुव मनुप्रणीत धर्मशास्त्र नहीं है। अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता के कारण ही हम धर्मशास्त्र को अर्थशास्त्र कह दिया करते हैं। अर्थशास्त्र और

धर्मशास्त्र दोनों के एक होने पर "अर्थशास्त्रात्तुबलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः" (याज्ञवल्क्य स्मृति व्यवहाराध्याय २१ श्लोक) यह नहीं कहा जाता।

इस श्लोक की टीका मिताक्षरा में अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय अर्थ है, यह जो कहा गया है वह भी असंगत है। टीकाकार ने 'अर्थ' शब्द का अर्थ समझने में ही गलती की है। टीकाकार जिसको "अर्थ" समझते हैं वह तो वार्ता-शास्त्र में व्यवहृत हुआ "अर्थ" है। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि को वार्ता कहते हैं। इस वार्ता के द्वारा ही सोना, चाँदी, धान्य, पशु, ताँबा, लोहा आदि 'अर्थ' प्राप्त किया जाता है।

धन को अर्थ कहने पर अर्थशास्त्र, धनशास्त्र या वार्ताशास्त्र होगा, किन्तु दण्डनीतिशास्त्र नहीं होगा। धन लाभ के उपायों को बताने वाले शास्त्र को जो अर्थशास्त्र समझते हैं उनका भारतीय अर्थशास्त्र से परिचय नहीं है। धनोपार्जन के उपायों को बताने वाले शास्त्र को पाश्चात्य रीत्यनुसार अर्थशास्त्र कहने पर भी भारतीय रीति के अनुसार उसको वार्ताशास्त्र ही कहा जाता है। अलब्ध भूमिका लाभ और लब्ध भूमिका परिपालन और परिपालित का विवर्द्धन और विवृद्ध वस्तु का योग्य पात्रों में प्रतिपादन (योग्य कार्यो में विनियोग) ही भारतीय अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। भूमि के लाभ पालन आदि के उपायों को बताने वाले शास्त्र को ही "अर्थशास्त्र' कहा गया है। और इस अर्थशास्त्र का नाम ही दण्डनीति है। इसलिए मिताक्षरा टीका में जो धन लाभ के उपाय बताने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र समझा गया है वह संगत नहीं कहा जा सकता। आजकल हमारे देश के अनेक व्यक्ति कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, कल-कारखाना आदि स्थापन द्वारा धनोपार्जन प्रक्रिया को ही अर्थशास्त्र का आलोच्य विषय कहते तथा समझते हैं। किन्तु यह पाश्चात्यों के मत से संगत होने पर भी भारतीय मतानुसार नितान्त असंगत है। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही कह दिया है कि भमि लाभ तथा उसके परिपालन आदि के लिए जो अर्थशास्त्र पूर्वाचार्यों ने प्रणयन किया हैं, इत्यादि। इन वाक्यों से स्पष्ट है कि 'अर्थशास्त्र' का प्रयोग दण्डनीतिशास्त्र में ही होता है। इस अर्थशास्त्र को ही दण्डनीति-शास्त्र कहते हैं और यही हमारे देश में राजनीति के नाम से पुकारा जाता है। वर्तमान समय में जिसको अर्थशास्त्र कहते है वह प्राचीन भारत का 'वार्ता-शास्त्र' है। दण्डनीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र संपूर्ण विद्याओं का रक्षक शास्त्र है, यह बात हम पहले ही महाभारत की उक्ति उद्धृत करके प्रमाणित कर चुके हैं। त्रयी विद्या का प्रतिपाद्य विषय है धर्म और अधर्म, इसलिए समस्त धर्मशास्त्र त्रयी विद्या के अन्तर्गत हो जाता है। एवं अर्थ (धन) और अनर्थ (धनाभाव) 'वार्ताशास्त्र' का प्रतिपाद्य विषय है। धान्य, पशु, सोना आदि यहाँ अर्थ शब्द से पुकारे जाते हैं। नीति और अनीति दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। आवश्यकतानुसार

संधि, विग्रह आदि नीति तथा अनीति शब्द से भी पुकारे जाते हैं। जैसे प्रबल शत्रु के साथ संधि करना नीति है और प्रबल शत्रु के साथ विग्रह करना अनीति है। सुतरां वार्ताशास्त्र एवं दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय सर्वथा भिन्न है। दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है नय और अनय। महाभारत शान्तिपर्व में अध्याय ५७ के ३४वें श्लोक में कहा गया है—जिस राजा के राज्य वासी प्रजा जन को नय और अनय का विशेष ज्ञान है वही राजा श्रेष्ठ राजा कहलाता है। भारतवर्ष के ऐसे भी सुदिन थे जिस समय राष्ट्रवासी प्रजागण नय तथा अनय के विशेषज्ञ होते थे। प्रजावर्ग को नीतिज्ञ और अनीतिज्ञ बनाना राजा का प्रधान कर्त्तव्य होता था। अनीति का जानकार होने से प्रजा अनायास ही दुर्नीति से बच सकती है एवं प्रजा के नीतिज्ञ होने से वह राष्ट्र के अशेष कल्याण का कारण हो सकती है। महाभारत का आदर्श चिरकाल से भारतवर्ष मे लुप्त हो गया है। एक दिन भारत का वह था जब भारत का सम्पूर्ण प्रजा वर्ग नय अपनय का जानकार था। आज वह दिन आ गया है जब कि हम नीतिशास्त्र या अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है, यह भी नहीं जान पा रहे हैं। हम ही नहीं जान रहे हैं यही नहीं, बल्कि हम जिनको विशिष्ट पण्डित या विद्वान् कहते या मानते है वे भी नहीं जानते। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि दण्डनीतिशास्त्र के अपरिज्ञान से राष्ट्र का उच्छेद अवश्यंभावी है। राष्ट्र उच्छिन्न हो जाने पर अभ्युदय तथा निःश्रेयस कुछ भी न हो सकेगा और किसी भी शास्त्र की आलोचना न हो पायगी। यद्यपि मन्वादि धर्मशास्त्रों में आंशिक रूप में अर्थशास्त्र की बातें देखी जाती हैं और उन समस्त अर्थशास्त्र के उपदेशों से धर्मशास्त्र के उपदेश ही प्रबल हैं, ऐसी व्याख्या की जा सकती है। फिर भी धर्मशास्त्र के अन्तर्गत एक किसी अंशमात्र को अर्थशास्त्र' शब्द से ग्रहण करना उचित नहीं। विद्योद्देश प्रकरण में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति (अर्थशास्त्र) ये चार विद्याएँ बतलाई गई हैं। धर्मशास्त्र त्रयी विद्या के अन्तर्गत है दण्डनीति के अन्तर्गत नहीं। इसी तरह दण्डनीतिशास्त्र भी त्रयी के अन्तर्गत नहीं है। पूर्वोक्त चारों ही विद्याएँ अलग अलग अपना स्थान रखती हैं, और इन चारों विद्याओं का प्रतिपाद्य विषय भी भिन्न है। एक विद्या को दूसरी विद्या के अन्तर्गत मान लेने पर विद्याओं का चतुर्विधत्व उपपन्न नहीं होता। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी होगी कि आर्यशास्त्रों में जितने मनु प्रख्यात हैं वे सभी राजधर्म के प्रवर्तयिता हैं। इसलिए वैवस्वत मनु प्रभृति भी राजधर्म के प्रवर्त्तयिता ठहरते हैं—किन्तु प्रणेता नहीं। जितने व्यक्ति मनु नाम से प्रख्यात हैं उनमें से एक प्राचेतस मनु ही राजधर्म प्रणेता हैं, तथा स्वायंभुव मनु ही एकमात्र धर्मशास्त्र के प्रणेता हैं। सुतरां अर्थशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र का विरोध कहने पर दो पृथक् शास्त्रों का ही विरोध ग्रहण किया जाना उचित है किन्तु स्वगत विरोध (अपने में अपना विरोध) ग्रहण करना

उचित नहीं कहा जा सकता। एक और भी विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मनुसंहिता के सप्तम अध्याय के प्रथम श्लोक के भाष्य में मेधातिथि ने कहा है कि राजधर्म प्रतिपादक इस सप्तमाध्याय में जो समस्त राजधर्म कहे गये हैं वे सब ही वेदमूलक नहीं हैं, किन्तु प्रमाणान्तर मूलक धर्म भी इस राजधर्म प्रतिपादक सप्तमाध्याय में कहे गये हैं। प्रमाणान्तरमूलक राजधर्म कहने पर भी इसका धर्म-शास्त्र से विरोध नहीं होता, यही बात मनु के सप्तमाध्याय में कही गई है। सुतरां स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि मेधातिथि के मत में मनु प्रोक्त राजधर्म के साथ धर्मशास्त्र का विरोध ही असम्भव है। यहाँ मेधातिथि ने जो कुछ कहा है वह संगत है कि नहीं यह हम आगे स्पष्ट करेंगे।

भारतीय विद्वत्समाज की अर्थशास्त्र में अरुचि होने का फल यह हुआ कि आज हमारे सामने मानवधर्मशास्त्र का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी मानव अर्थशास्त्र का सर्वथा उच्छेद ही हो गया। प्राचीन अर्थशास्त्रों का लोप क्यों हुआ? तथा भारतीय विद्वत्समाज अर्थशास्त्र के प्रति वीत-श्रद्ध क्यों हो गया? इस प्रश्न का उत्तर हम आगे विशेष रूप से देंगे। भारतीय संस्कृत साहित्य भंडार में आज भी दार्शनिक साहित्य की प्रचुरता देखी जाती है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पातञ्जल, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा अनेक तरह के शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन, नानाविध बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन आदि बहुत से दर्शन ग्रंथ इस समय भी दिखलाई पड़ते हैं। और इन समस्त ग्रन्थों की आलोचना भी भारतवर्ष में थोड़ी-बहुत होती ही है। सर्वथा नष्ट नहीं हो गई है। यद्यपि पूर्व मीमांसा के बहुत से प्राचीन ग्रंथ तथा वैशेषिक दर्शन के प्राचीन भाष्य आदि और सांख्य दर्शन के प्राचीन ग्रन्थ मात्र लुप्तप्राय हो गये हैं, और प्राचीन दार्शनिक आचार्य वर्ग के नाम भी हम सर्वथा भूल चुके हैं। तथापि खृष्टीय ७वीं ८वीं शताब्दी से लेकर आज तक के विरचित दार्शनिक ग्रंथ कुछ कुछ मिलते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र के ग्रन्थ और उनकी आलोचना भी सर्वथा विलुप्त हो गई है यहाँ तक कि अर्थशास्त्र के आचार्यों के नाम भी हम नहीं जान पा रहे हैं और उनको जानने की आवश्यकता भी हम नहीं समझते।

पिछले हजार वर्ष पूर्व से ही हमारी यह रुचि की विपरीतता उत्पन्न हो गई है, जिसका फल है अर्थशास्त्र की यह दुर्गति। भारतीय दर्शनशास्त्रों की आलो-चनाओं में जो निष्णात बुद्धि हैं उनमें भी बहुत दिनों से द्वैतवाद और अद्वैतवाद का विरोध विशेष रूप से फैल गया है। यह सभी दार्शनिक वर्ग अधिकांश में अनात्म वस्तुओं की सत्यता प्रमाणित करने के लिए कमर कसे हुए हैं। अनात्म वस्तुओं के मिथ्यात्व का नाम सुनते ही इनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अनात्म वस्तुओं की सत्यता प्रतिपादन करना ही मानव समाज के अशेष कल्याणों का कारण है यह कहने और सोचने वाले दार्शनिकों का अभाव नहीं है। किन्तु

दुःख का विषय यही है कि खृष्टीय नौवीं दशवीं शताब्दी से अथवा इसके भी पहले से आज तक इस अनात्म प्रपंच को सच्चा कहनेवाला दार्शनिक वर्ग अपने विशेष आदर की चीज सत्य प्रपंच को मार्ग में फेंक कर ही निश्चिन्त हो गया ; किन्तु अपने इस सत्य प्रपंच की रक्षा के लिए उसने कुछ भी व्यवस्था नहीं की।

यदि दर्शनशास्त्र का अनुशीलन मानवीय जीवन में कोई प्रभाव विस्तार न कर सके, और दर्शनशास्त्र की आलोचनाओं से यदि मनुष्यजीवन प्रभावित न हो सके, तथा दर्शनशास्त्र का मनोयोग पूर्वक अध्ययन केवल व्यक्ति विशेष की व्यर्थ आयु बिताने का ही साधनमात्र हो जाय तो ऐसे दर्शन के अनुशीलन का कुछ भी मूल्य नहीं समझा जायगा।

दूसरी ओर इस दृश्य प्रपंच को झूठा साबित करने वाले खृष्टीय आठवीं नौवीं शताब्दी के आचार्यगणों ने इस मिथ्याप्रपंच की सुव्यवस्था के लिए एवं संसार के सब तरह के कल्याण के लिए तथा प्राणिमात्र के हित के लिए मनु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि महर्षिगणों के बनाये व्यवहार काण्ड की विस्तृत व्याख्या करके मानव समाज को विशेष अनुगृहीत कर दिया है। अनात्म वस्तु की सुव्यवस्था द्वारा आत्म नैर्मल्य साधन करके अध्यात्म जगत् में इन्होंने प्रकर्ष प्राप्त किया है तथा औरों के लिए भी उन्नति करने की सुविधा सुयोग कर गये है।

आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य विश्वरूपाचार्य याज्ञवल्क्य स्मृति की "बाल-क्रीड़ा" नामक टीका बनाकर भारत के व्यवहार विभाग अर्थात् विचार विभाग को समुज्वल कर गये हैं। इसी सम्प्रदाय (अद्वैतवाद) के आचार्य परमहंस परि-व्राजक विज्ञानेश्वर भट्टारक खृष्टीय ग्यारहवीं शताब्दी में याज्ञवल्क्य स्मृति की "मिताक्षरा" नामक टीका लिखकर व्यवहार-काण्ड की पुष्टि कर गये हैं। इस प्रपंच की परमार्थता स्वीकार न करके भी खृष्टीय नौवीं शताब्दी में मेधातिथि ने मनुसंहिता के भाष्य की रचना कर व्यवहार विद्या एवं धर्मशास्त्र दोनों ही की श्री वृद्धि की है।

लोक मर्यादा सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित न रहने से राष्ट्रिय कल्याण सिद्ध नहीं हो सकता एवं सामाजिक तथा पारिवारिक कल्याण भी नहीं हो सकता। राष्ट्र, समाज, परिवार, सभी के अव्यवस्थित होने पर आध्यात्मिक उन्नति भी सर्वथा असंभव एवं असंगत हो जाती है। यह हम नोआखाली, कलकत्ता, पश्चिम पंजाब और काश्मीर की घटनाओं से अच्छी तरह जान और सीख गये हैं। ध्यान में नहीं आता कि इन दार्शनिक सुपरिष्कृत विचारों के विवेचयिता एवं द्वैतवाद के प्रति-ष्ठापक इस प्रपंच को सत्य मानने वाले रामानुज प्रभृति आचार्य इस अपने प्रिय प्रपंच की सुव्यवस्था के लिए क्या प्रयत्न कर गये हैं? इनके अनन्तरवर्ती भारत के अनेक दार्शनिकों के विचार इस अनात्म वस्तु की सत्यता प्रमाणित करने के लिए अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, किन्तु खेद का विषय है कि द्वैतसत्यत्ववादी

इस सत्य प्रपंच की रक्षा एवं सुव्यवस्था के लिए दार्शनिकों की कोई भी विचार-धारा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। इस विषय में इनके द्वारा रचे किसी भी ऐसे ग्रंथ की उपलब्धि आज तक नहीं हो सकी है, जिसके द्वारा यह राष्ट्र वा समाज या परिवाररूप में रहने वाला मानव समाज एवं सारा संसार सुचारु रूप से अपने को सुव्यवस्थित रख सके।

लोकरक्षा हेतु रचित मनु या याज्ञवल्क्य संहिता पर भी उनका कोई मार्गदर्शक मन्तव्य नहीं मिलता। सत्य जगत् की सुव्यवस्था के हेतु किसी भी प्रकार की छान-बीन या चिन्तन करना द्वैतवादियों ने अपना कर्त्तव्य ही नहीं समझा।

यदि दार्शनिक-गणों की सुमार्जित बुद्धि लोक संरक्षणार्थ उपयुक्त न हो सके, एवं राष्ट्रिय संहति के निर्माण में उसका कोई उपयोग ही न हो सके तो ऐसी बुद्धि राष्ट्र के द्वारा उपेक्षित ही होगी। इससे अधिक खेद का विषय और क्या हो सकता है?

भारतीय महर्षिगण ब्रह्मविद्या में अग्रणी होकर और अध्यात्म जगत् में चरम उन्नति करके भी राष्ट्रिय कल्याण के लिए कितना आग्रहशील था यह हमने रामायण और महाभारत की एक दो घटनाओं से दिखा दिया है और आगे भी विस्तृत रूप से दिखावेंगे।

महाभारत के विभिन्न स्थलों में असुर राज शम्बर और प्रह्लाद को नीति-शास्त्र का वक्ता कहा गया है। हमारे विचार में शुक्राचार्य से ही असुरों में दण्डनीतिशास्त्र का प्रसार हुआ था। असुर-गणों के आचार्य शुक्राचार्य दण्ड-नीतिशास्त्र के एक प्रधान प्रवक्ता माने गये हैं। उद्योगपर्व के ७२ अध्याय के २२वें श्लोक और शान्तिपर्व के १०२ अध्याय के ७१वें श्लोक में शम्बर-नीति उद्धृत हुई है। शान्तिपर्व में इस शम्बरनीति की आलोचना भी की गई है। महाभारत के वनपर्व के २८वें अध्याय में असुर राज प्रह्लाद की नीति वर्णित हुई है।

रामायण के अयोध्या काण्ड के सौवें अध्याय में रामचन्द्र जी ने भरत को विस्तार से राजनीति की शिक्षा दी है। इस अध्याय के पर्यालोचन द्वारा राज-नीति के सम्बन्ध में बहुत सी बातें ज्ञात हो सकती हैं। रामायण के इस अध्याय के अनुरूप ही महाभारत के सभापर्व के पाँचवें अध्याय में देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर को विस्तार से राजनीति बताई है। नारद राजनीति के एक प्रधान आचार्य थे, यह बात हमको कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होती है। हम इसके बाद रामायण और महाभारत के इन दोनों अध्यायों की कुछ आलोचना करेंगे।

द्वितीय अध्याय

रामायण में दण्डनीति और श्रीरामचन्द्र का अनुशासन

श्री रामचन्द्र जी जिस समय चित्रकूट पर्वत पर निवास करते थे उस समय अपने मन्त्रियों के सहित श्री भरत जी श्री रामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिए चित्रकूट में आये। श्री रामचन्द्र जी ने भरत जी की कुशलता पूछने के बाद कुछ प्रश्नों के माध्यम से राष्ट्रनीति के सम्बन्ध में उन्होंने भरत जी को बहुत कुछ उपदेश दिये हैं। उनमें श्री रामचन्द्र जी कहते हैं—हे भरत! तुम धनुर्वेद विशारद और राजनीति के विशेषज्ञ उपाध्याय सुधन्वा के प्रति पूरा सम्मान तो दिखाते हो? क्या तुमने शूर, जितेन्द्रिय, विशुद्ध वंश में पैदा हुए, इशारों से हृदय की भावनाओं को जान लेने वाले, और अपने समान विचार वाले व्यक्तियों को मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित किया है? अच्छी मन्त्रणा (सलाह) ही राजाओं की विजय का कारण होती है। नीतिशास्त्र के जानने वाले मन्त्री और अमात्य गणों से यत्न पूर्वक सुगुप्त रखा हुआ मन्त्र ही राजाओं की विजय का मूल है। तुम उचित समय पर जाग तो जाते हो? रात्रि के शेष भाग में जाग कर अर्थ लाभ के विषय में विचार तो करते हो? तुम अकेले ही अथवा बहुतों के साथ मिल कर किसी गुप्त विषय पर मन्त्रणा तो नहीं करते? तुम्हारी निश्चित की हुई मन्त्रणा सर्वत्र प्रकाशित तो नहीं हो जाती? किसी ऐसे कार्य का निर्णय करके जो थोड़े परिश्रम से अधिक लाभप्रद हो उसको शीघ्र ही आरम्भ तो कर देते हो? उसमें विलम्ब तो नहीं कर देते? तुम्हारे सर्वथा पूरे किये अथवा समाप्त प्राय कार्यों के अतिरिक्त तुम्हारे निश्चित किये कर्त्तव्य कार्यो को तुम्हारे सामन्त राजा लोग तो नहीं जान पाते? तुम्हारे या तुम्हारे मन्त्रियों के द्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणाओं को दूसरे लोग युक्ति या तर्क मूलक अनुमान द्वारा जान तो नहीं पाते? तुम हजारों मूर्खो को छोड़ कर एक विद्वान् व्यक्ति को अपने पास रखने की इच्छा तो रखते हो? क्योंकि संकट काल उपस्थित होने पर—विद्वान् व्यक्ति ही उस संकट से निस्तार स्वरूप महाकल्याण साधन कर सकता है। हमारे विचार में श्री रामचन्द्र जी का भरत जी को दिया गया यह उपदेश आज के सामूहिक वोटों के युग में स्वीकृत न हो सकेगा। मूर्खो का वोट ही आज राष्ट्र परिचालक है—यही वर्तमान युग की नीति है। तुम्हारा प्रधान भृत्यवर्ग प्रधान कार्य में, मध्यम भृत्यवर्ग मध्यम कार्यों में, तथा सामान्य सेवकगण सामान्य कार्य में तो नियुक्त हैं? योग्य व्यक्तियों को अयोग्य कार्यों में और अयोग्यों को योग्य कार्यो में तुम नियुक्त तो नहीं करते हो?

हम सोचते हैं आज वर्तमान समय में श्री रामचन्द्रजी के इस उपदेश का कुछ मूल्य नहीं है। तुम्हारे सारे अमात्य-वर्ग में कोई रिश्वत तो नहीं लेता है? जिनके पिता पितामह आदि पूर्व पुरुषानुक्रम से मन्त्रित्व का कार्य करते आये हैं, एवं कर रहे हैं, और जिनकी बाहरी तथा भीतरी भावनायें एवं व्यवहार विशुद्ध है—वे ही समस्त श्रेष्ठ अमात्यगण तुम्हारे उत्तम कार्यों में विनियुक्त तो है? सुतीक्ष्ण दण्ड द्वारा वे प्रजा का उत्पीड़न तो नहीं करते? कठोर दण्ड से उत्तेजित प्रजा तथा मन्त्रिवर्ग तुम्हारी अवज्ञा तो नहीं करते हैं? शत्रुसेना को पराजित करने में समर्थ, प्रगल्भ (समय पर उचित बात उचित रीति से कहने वाला) विपत्ति के समय धैर्य रखने वाला बुद्धिमान्, उत्तम वंश में पैदा हुआ, विशुद्ध आचार-विचार वाला, स्वामी में विशेष अनुरक्त, ऐसा योग्य व्यक्ति तुमने सेनापति पद पर प्रतिष्ठित तो किया है? युद्ध कार्य में कुशल और पराक्रमशाली योद्धागणों को उनके युद्ध में नैपुण्य प्रदर्शन करने पर तुम उचित दान, मान आदि से सत्कृत एवं सम्मानित तो करते रहते हो? सैनिक वर्ग का यथोचित दैनिक या मासिक वेतन तुम उचित समय पर तो दे देते हो? वेतन देने में आज कल करके विलम्ब तो नहीं करते हो?

जिन व्यक्तियों की जीविका उनका दैनिक या मासिक वेतन ही है, वे अपना वेतन उचित समय पर न पाने से स्वामी पर क्रुद्ध हो सकते हैं। इस तरह सेवक वर्ग का स्वामी के प्रति विरक्त हो जाना राज्य में अनेकानेक अनर्थों के सूत्रपात का कारण हो सकता है। राष्ट्र के प्रधान व्यक्ति तुम से सर्वथा अनुरक्त तो हैं? तुम्हारी कार्यसिद्धि के लिए वे सब मिल कर प्राणपण से कार्य करने को प्रस्तुत तो रहते हैं? विद्वान्, प्रत्युत्पन्नमति (आपत्ति आ जाने पर उसकी प्रतिक्रिया की सूझ जिसको तत्काल ही ज्ञात हो सके) यथार्थवादी, विचक्षण, एवं तुम्हारे ही राज्य के रहने वाले व्यक्ति तुम्हारे द्वारा दूत कार्य में नियुक्त तो हुए हैं?

भारतीय दण्डनीति में १८ तीर्थ (पद) कहे गये हैं। जैसे: १—मन्त्री, २—पुरोहित, ३—युवराज, ४—सेनापति, ५—दौवारिक (प्रधान द्वारपाल), ६—अन्तःपुराध्यक्ष, ७—कारागाराध्यक्ष, ८—कोषाध्यक्ष, ९—कार्य नियोजक (राजाज्ञा के अनुसार राजकर्मचारियों की योग्यतानुसार उन कार्यों में नियुक्त करनेवाला), १०—प्राड्विवाक (प्रधान विचारक जज आदि) ११—सेना को वेतन देनेवाला, १२—नगराध्यक्ष, १३—कर्मान्तिक (आदिष्ट कार्य के सम्पन्न होने पर ही वेतन लेने वाला—ठेकेदार), १४—राज्य सीमा की रक्षा करने वाला, १५—दुर्ग रक्षक, १६—राष्ट्रपाल, १७—दण्डपाल, १८—धर्माध्यक्ष। इन १८ पदों को अष्टादश तीर्थ कहते हैं।

भगवान् श्री राम भरतजी से कहते हैं हे भरत! दूसरे राष्ट्रों के इन पूर्वोक्त १८ पदों पर नियुक्त व्यक्तियों का तथा अपने पक्ष के प्रधान मन्त्री, पुरोहित,

युवराज को छोड़ कर अन्य १५ पदों पर विनियुक्त व्यक्तियों का पूरा संवाद तो तुम बराबर जानते रहते हो ? उन उन कार्यों में नियुक्त तुम्हारे चारगण (गुप्तचर) आपस में भी एक दूसरे को न जानते हुए तथा दूसरे व्यक्तियों से सर्वथा अज्ञात रहते हुए अपने तथा पर राष्ट्रों के पूर्वोक्त १८ पदों पर नियुक्त व्यक्तियों का ठीक ठीक पूरा संवाद जान कर तुम्हारे पास भेजते तो रहते हैं ? पूर्वोक्त पदाधिकारियों की अनेक चरों द्वारा एक सी ही शिकायतें ज्ञात होने पर राजा को उनका यथोपयुक्त प्रतिविधान करना उचित है। चार गणों के आपस में एक दूसरे के प्रतिकूल संवाद देने पर अधिक गंभीरता से उनके कारणों की विवेचना करके उनकी उपयुक्त व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य है।

भगवान् श्री राम भरतजी से पुनः कहते हैं कि हे भरत ! दूसरे राष्ट्रों के १८ पदाधिकारियों का तथा अपने राष्ट्र के १५ पदाधिकारियों का ठीक ठीक पूरा समाचार चार-गणों के द्वारा तुमको ज्ञात तो होता रहता है ?

श्री रामचन्द्रजी ने जो भरत को ये अमूल्य उपदेश दिये हैं वे एक राष्ट्रिय भावनाओं से प्रबुद्ध राजा के लिए राजनीति के प्राण स्वरूप है। किन्तु प्रसुप्त या मृत राजाओं के लिए इनकी अपेक्षा नहीं होती—अर्थात् जिनकी राष्ट्रिय भावनायें प्रसुप्त-प्राय है या जिनमें राष्ट्रिय भावनायें हैं ही नहीं, जो राष्ट्र को केवल अपने भोग विलास का साधन मानते हुए मनमानी करना ही कर्तव्य समझते हैं, उनके लिए इनका कोई उपयोग होना असंगत ही है। शास्त्र में जिन्हें 'चार' कहा गया है, वर्तमान राजव्यवस्था में उनका अभाव सा ही है।

आज कल हमारे देश में उक्त "चार" के नाम से पुकारे जाने वाले व्यक्तियों की जगह "डिटेक्टिव" (खुफिया पुलिस) कार्य करते हैं। परन्तु इनका कार्यक्षेत्र इतना ही है कि ये घरेलू व्यापारों में राई का पहाड़ बना दें। किन्तु परराष्ट्रों में प्रवेश करने का कौशल इनके लिए स्वप्नातीत है। भारतीय नीतिशास्त्रों में राजा को "चार-चक्षु" कहा है—ये चार (गुप्तचर) रूपी चक्षु जिसके नहीं हैं वह राजा अन्धा है। पूर्वोक्त १८ 'तीर्थों' (पदों) पर नियत रूप से कार्य करने वाले अपने तथा परराष्ट्रों के व्यक्तियों के विशेष वृत्त जानने के लिए सर्वदा सर्वत्र विचरणशील "चार" लोगों के लिए जो विशेष शिक्षा की व्यवस्था प्राचीन भारत में थी, आज उसका गन्ध भी भारत में नहीं है। आज तो हम सोचते हैं किसी विशेष प्रकार के काम को करने के लिए किसी तरह की विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है; जिसकी जो इच्छा हो वह वही कर सकता है। आज तो किसी कार्य संचालन क्षमता के लिए पृथक् शिक्षासंस्था की व्यवस्था अपेक्षित नहीं है।

यह सब दण्डनीतिशास्त्र की अनभिज्ञता एवं उपेक्षा का परिणाम है। श्री रामचन्द्रजी भरतजी से फिर राजनीतिक उपदेश के मिष से पूछते हैं हे भरत ! तुम चार्वाक मतावलम्बी (नास्तिक) शुष्कतर्कपटु ब्राह्मण वर्ग की सेवा तो नहीं

करते हो? तुम समृद्धिशालिनी उन्नतिशील अयोध्या नगरी की अच्छी तरह रक्षा तो करते हो? हमारे सुसमृद्ध राज्य में बहुत सी यज्ञभूमियाँ हैं, एवं जिसमें समृद्ध एवं प्रतिष्ठित बहुत जन निवास करते है और जिसमें बहुत से देव मन्दिर हैं, जो अनेक सुन्दर सरोवरों से सुशोभित है, जिस राज्य की नर-नारी अति आनन्दित रहती है—जिस राज्य के प्रजावर्ग अनेक तरह के अनेक उत्सव आये दिन मनाते रहते हैं और अनेक सभायें भी होती रहती हैं—बहुपशु समन्वित जिस राज्य में कृषि कर्म बड़ी सुन्दरता से किया जाता है—जो राज्य हिंसा विवर्जित है, जिस राष्ट्र में वष्टि जल की कुछ अपेक्षा न करके नदी तड़ाग आदि के जल से खेती पैदा करली जाती है, जो राष्ट्र अति रमणीय है, हिंसक जन्तुओं से रहित तथा और भी सब तरह के भय से विवर्जित, खनि और आकर (खोदने से जिसमें स्वर्ण आदि खनिज-द्रव्य मिल सकते हैं वह खनि (खान) कहलाती है एवं लवण आदि वस्तुओं के प्राप्त होने के स्थल को आकर कहा जाता है) द्वारा सुशोभित एवं पापिष्ठ जनों से रहित, और जो राष्ट्र पूर्ववर्ती राजाओं के द्वारा सुरक्षित है. वह रम्य देश सुख से तो है?

हे भरत! कृषि और पशु-पालन द्वारा अपनी जीविका चलाने वाले व्यक्तियों से तुम सन्तुष्ट तो रहते हो? कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य से लोक समृद्ध तो हो रहा है? इस सम्पूर्ण जन समुदाय की रक्षा एवं इष्ट संपादन के द्वारा तुम इनका भरण-पोषण तो करते रहते हो? राष्ट्रवासी प्राणिमात्र ही राजा के लिए प्रतिपाल्य होता है। तुम्हारा हस्तिवर्ग सुरक्षित एवं निरोग तो है? जंगलों से हाथियों को फँसाकर पकड़ने की साधन भूत हथिनियों की तुम पूर्ण रक्षा तो करते हो? हाथी, तथा हाथियों की संग्रहकारिणी हथनियां एवं अश्व आदि के संग्रह से तुम तृप्त तो नहीं होते हो? तुम प्रतिदिन राजकीय वेषभूषा से सुसज्जित हो राज-सभा में प्रजावर्ग को दर्शन तो देते रहते हो? कर्मचारी-वर्ग निर्भय होकर तुम्हारे सामने चपलता तो नहीं दिखाता? अथवा तुम्हारा कर्मचारी-वर्ग तुम्हारे सामने आने से बचना तो नहीं चाहता? कर्मचारियों के कार्यों का नियत रूप से देखना अथवा उसका सर्वथा ही न देखना, इन दोनों के अतिरिक्त मध्यम मार्ग अर्थात् समय समय पर उसकी जाँच करते रहना ही श्रेयस्कर होता है। राज्य के सब दुर्ग धन धान्य, तथा अस्त्र शस्त्र यंत्र एवं उनके निर्माता शिल्पिवर्ग और धनुर्धर वीरों से सर्वदा सर्वथा परिपूर्ण तो रहते हैं? तुम्हारी आमदनी अधिक और खर्चा तो कम है? अपात्रों को धन देकर तुम्हारा खजाना खाली तो नहीं हो जाता है? सैनिक वर्ग तथा मित्रगणों के लिए तुम्हारा धन खर्च तो होता रहता है? निरप-राध सज्जन व्यक्ति तुम्हारे लोभ परवश कर्मचारी गणों के द्वारा दण्डित तो नहीं होते? अपराधी व्यक्तियों को धन के लोभ से तुम्हारे कर्मचारीगण छोड़ तो नहीं देते? धनी और निर्धन के विवाद में तुम्हारा अमात्यवर्ग धनलाभ के लोभ से

धनी को जय और निर्धन को पराजय का विधान तो नहीं कर देता? अमात्यगण अर्थलोलुप न होकर धनी और निर्धन दोनों के विवाद का यथार्थ निर्णय तो करते हैं? निरपराध होने पर भी किये गये मिथ्या दण्डित व्यक्ति के अश्रुपात राजा का समूलोच्छेद कर सकते हैं।

हे भरत! तुम १४ राज दोषों को तो छोड़ चुके हो? ये दोष इस प्रकार हैं—१—नास्तिकता, २—असत्य भाषण, ३—अनुचित क्रोध, ४—प्रमाद, ५—दीर्घ-सूत्रता, ६—ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, ७—आलस्य, ८—इन्द्रिय लोलुपता, ९—अकेले ही राजकार्य की मन्त्रणा कर लेना, १०—अर्थ शास्त्रानभिज्ञ व्यक्तियों से सलाह करना, ११—मन्त्रणा द्वारा निश्चित किये हुए कार्यो का शीघ्र प्रारम्भ न करना, १२—मन्त्रणा गुप्त न रखना, १३—मांगलिक कार्यो को न करना, १४—अनेक शत्रुओं से एक साथ विरोध कर लेना—तुम इनसे दूर तो रहते हो? भगवान् श्री राम ने भरत जी को इन १४ राज दोषों को छोड़ने का उपदेश दिया है। श्री राम भरत जी को फिर उपदेश देते हैं—हे भरत! तुम १—आखेट (शिकार खेलना), २—जुआ खेलना, ३—दिन में सोना, ४—दूसरों की निन्दा करना, ५—अत्यधिक स्त्री सेवन करना, ६—मद्यपान, ७—नृत्य, ८—गीत, ९—वाद्य और व्यर्थ घूमना—इन कामज १० व्यसनों का परित्याग तो करते हो? मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के ४७वें श्लोक में इन कामज दस दोषों का उल्लेख मिलता है।

श्री राम भरत को फिर कहते हैं कि हे भरत! तुम जलदुर्ग, गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, ऐरीण दुर्ग, धान्वग दुर्ग इन पाँचों प्रकार के दुर्गों को तो पूर्ण सुरक्षित रखते हो? मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के ७०वें श्लोक में ६ प्रकार के दुर्गो का वर्णन मिलता है। १—धन्व दुर्ग (जो दुर्ग चारों ओर मरुभूमि से घिरा हुआ हो), २—मही दुर्ग—पत्थर या ईंट आदि से बनी हुई अनेक द्वार एवं गवाक्ष (खिड़की, झरोखे) आदि से युक्त उन्नत एवं विशाल और चारों तरफ चार दीवारों से जो घिरा हुआ हो, उसको महीदुर्ग कहते हैं। ३—चारों तरफ अगाध जलराशि से परिवेष्टित दुर्ग को "जलदुर्ग" कहा जाता है। ४—दुर्लंघ्य भीषण जंगलों से चारों तरफ घिरा हुआ दुर्ग "वन दुर्ग" कहलाता है। ५—चतुरंगिणी सेना द्वारा सुरक्षित दुर्ग को "नृ दुर्ग" कहा जाता है। ६—पर्वत के ऊपर दुर्गम स्थान में बने हुए दुर्ग को "गिरि दुर्ग" कहते है। कामन्दक ने गिरि दुर्ग दो प्रकार का बताया है। पत्थरों से बनाया हुआ और पर्वत की गुफाओं में बनाया हुआ। यह दोनों तरह का दुर्ग "गिरिदुर्ग" नाम से पुकारा जाता है। निर्जन प्रदेश में बनाये दुर्ग को "ऐरीण दुर्ग" कहा है। जल और तृण रहित देश को धन्वत् कहते हैं, इससे ऐसे देश में अवस्थित दुर्ग को "धान्वण दुर्ग" कहा है।

इसके बाद भगवान् रामचन्द्र भरत से कहते हैं—हे भरत! तुम साम, दान,

भेद और दण्ड इस चतुर्वर्ग का उचित स्थान में प्रयोग तो करते हो? १—राजा, २—मन्त्री, ३—राज्य, ४—दुर्ग, ५—कोष, ६—बल, ७—सुहृद् इन सातों से राष्ट्र के सप्तांग बनते हैं। तुम इन सातों अंगों को स्वस्थ रखने का प्रयत्न तो करते हो? १—पैशुन्य, २—साहस, ३—द्रोह, ४—ईर्ष्या, ५—असूया, ६—साधु-निन्दा, ७—वाक् पारुष्य (कठोर वाणी) ८—निष्ठुरता—इन आठों को क्रोधज अष्ट व्यसन कहा है। हे भरत! तुम इस क्रोधज अष्ट व्यसनवर्ग का परित्याग तो करते हो? मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के ४८वें श्लोक में इन क्रोधज अष्ट व्यसनों की बात कही गई है। उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति, और प्रभुशक्ति, इस त्रिवर्ग को यथार्थ रूप से जानकर तुम उसका अनुष्ठान तो करते हो? त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति इस त्रिविध विद्या का तुमको पूर्ण ज्ञान तो है? तुम अपनी इन्द्रियों को वश में करने की पूर्ण चेष्टा तो करते हो? भारतीय दण्डनीतिशास्त्र में राजा के लिए इन्द्रिय जय ही सब कर्त्तव्यों में प्रधान एवं प्रथम कर्त्तव्य बतलाया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथमाधिकरण के तृतीय प्रकरण में तथा मनु-संहिता के सप्तमाध्याय के ४४वें श्लोक में राजा के लिए इन्द्रिय जय की परमा-वश्यकता प्रतिपादित की गई है। इसके अभाव में अर्थात् अजितेन्द्रिय राजा का किस प्रकार विनाश हो जाता है इसका विवरण भी वहीं (कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा मनुसंहिता में) स्पष्ट रूप से बतला दिया गया है।

श्री रामचन्द्र जी भरत से आगे चल कर कहते हैं—१—संधि, २—विग्रह (शत्रु से युद्ध), ३—यान, ४—आसन, ५—द्वैधीभाव (दो राष्ट्रों में द्वेष उत्पन्न करना), और ६—आश्रय—इन छहों गुणों की उपयुक्तता अनुपयुक्तता को ठीक तरह जान कर ठीक ठीक उचित जगहों में उनका प्रयोग तो करते हो? तुम १—अग्नि लग जाना, २—बाढ़ आना, ३—व्याधि (संक्रामक रोग), ४—अकाल पड़ जाना, ५—महामारी का प्रकोप इन पाँच प्रकार की दैवी विपत्तियों का प्रति-रोध करने की पूर्ण चेष्टा तो करते हो? भारत की प्राचीन व्यवस्था से अपरिचित जिन लोगों की ऐसी भ्रान्त धारणाएँ हो गई हैं कि, पुराने जमाने में राष्ट्र में होने वाली बीमारी या दैवी प्रकोपों के प्रतिकार की राजा की तरफ से कोई चेष्टा नहीं की जाती थी एवं दुर्भिक्ष आदि के समय राजा उसके निवारण का कोई प्रयत्न नहीं करता था, उन भद्र पुरुषों का ध्यान हम श्री रामचन्द्र जी के भरत को दिये गये राजा के कर्त्तव्योपदेश की ओर आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं। जल की बाढ़ आ जाने पर देश की रक्षा की बात भी श्री रामचन्द्र जी ने भरत से कही है। हे भरत! तुम पाँच प्रकार की दैवी विपत्तियों का प्रतिकार करके राष्ट्रवासी जनता की रक्षा में दत्तचित्त तो रहते हो? १—राज-कर्मचारियों के उत्पीड़न से, २—शत्रुकृत दुर्व्यवहारों से, ३—राजा के मुँहलगे नौकरों से, ४—राष्ट्र रक्षार्थ नियुक्त उच्चपदाधिकारियों से, ५—चोर डाकू आदि

से जो राष्ट्रवासी प्रजा को भय उत्पन्न होता है उसको मानवविपत्ति कहते हैं। हे भरत! तुम इन पाँच प्रकार की मानवविपत्ति से प्रजा की रक्षा करने के लिए सदा सचेष्ट तो रहते हो? १—क्रुद्ध, २—भीत, ३—अपमानित, ४—और लोभी ये चार प्रकार के पुरुष राष्ट्र में रहते हैं। उनको शान्त करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य होता है। इसलिए इन चारों को "कृत्यवर्ग" कहा है। अपने राष्ट्र के इस कृत्यवर्ग को शान्त करना तथा दूसरे राष्ट्र के इस कृत्यवर्ग को प्रोत्साहित करना राजा के कर्त्तव्यों में गिना जाता है। अत: हे भरत! तुम यथाकथित कार्य करने में समाहित तो रहते हो? १—बालक, २—वृद्ध, ३—काल का दीर्घ रोगी, ४—जाति बहिष्कृत, ५—भीरु (डरपोक) ६—भीरु जनक—डरपोक जनों के सदा साथ रहने वाला, ७—लोभी, ८—लुभाने वाला—लुब्ध जनों से सदा परिवेष्ठित ९—विरक्त स्वभाव वाला, १०—विषयों में अत्यन्त आसक्त, ११—जिसका विचार स्थिर न हो, १२—देव ब्राह्मण की निन्दा करने वाला, १३—भाग्य का मारा हुआ, १४—भाग्य के भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला (पुरुषार्थहीन), १५—दुर्भिक्ष से पीड़ित, १६—सैन्य विनाश रूपी आपत्तियों में फंसा हुआ, १७—सुदूर देश में रहने वाला, १८—अनेक शत्रुओं से घिरा हुआ, १९—समयोचित कार्य को न करने वाला, २०—सत्य भ्रष्ट, इन बीस तरह के व्यक्तियों को विंशति वर्ग कहा है। इस वर्ग के साथ कभी भी संधि नहीं की जानी चाहिए। यह वर्ग विग्रह के ही योग्य होता है। हे भरत! तुम इस वर्ग के साथ संधि न करके विग्रह करने के लिए तैयार तो रहते हो! हे भरत! १—अमात्य, २—राष्ट्र, ३—दुर्ग, ४—कोष, ५—दण्ड, ये पाँच प्रकृति कहलाती है, तुम इनकी वास्तविकता को तो सम्यक रूप से जानते और समझते हो?

अयोध्याकाण्ड के इसी अध्याय के ६९वें श्लोक में "इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैव मानुषम्। कृत्यं विंशतिवर्गंच तथा प्रकृतिमण्डलम्॥" यह कहा है। श्री रामचन्द्र जी भरत से कहते हैं हे भरत! तुम पूर्वोक्त प्रकृति मण्डल का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उचित समय पर संधि विग्रह आदि छहों गुणों का उपयुक्त स्थलों में प्रयोग तो करते हो? इस जगह प्रकृति मण्डल का अर्थ है बारह राजमण्डलों का एक समुदाय। इस द्वादश राजमण्डल में प्रत्येक राजा की अमात्य राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड, ये पाँच प्रकृतियाँ होती हैं। इस तरह बारह राजमण्डल में प्रत्येक की पाँच पाँच प्रकृतियाँ होने से पूर्ण संख्या ६० होगी। इस तरह ६० प्रकृति से द्वादश राजमण्डल के युक्त होने पर ७२ संख्या होगी। यही उक्त संख्या उल्लिखित प्रकार से रामायण में वर्णित है। रामायण की यही उक्ति मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के १५६-१५७वें श्लोकों में वर्णित है—"अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पंचचापराः। प्रत्येके कथिता ह्ये ताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः॥" मनुसंहिता में इस द्वादश राजमण्डल का विवरण इस प्रकार दिया गया है।

१—विजिगीषुराजा (दूसरे राष्ट्र को जीतने की इच्छा वाला राजा), २—शत्रु, ३—मध्यम (दोनों राष्ट्रों के साथ समान भाव रखने वाला), ४—और उदासीन (दोनों ही राष्ट्रों से कुछ सम्पर्क न रखने वाला), इस तरह ये चार राष्ट्र द्वादश राजमण्डल की मूल प्रकृतिभूत है। द्वादश राजमण्डल के शेष आठ राजाओं को शाखा प्रकृति कहते हैं। मूल प्रकृतिभूत ४ राजा तथा शाखा प्रकृतिभूत ८ राजाओं को मिलाने पर द्वादश राजमण्डल सम्पन्न होता है। शाखा प्रकृतिभूत आठ राजाओं का परिचय इस प्रकार समझना होगा कि विजिगीषु और शत्रु इन दोनों राजाओं को मान कर ही द्वादश राजमण्डल की गणना हुई है। विजिगीषु और शत्रु को मान कर ही मध्यम और उदासीन माने जा सकते हैं। इस जगह यह बात अवश्य ध्यान रखने की है कि जो विजिगीषु राजा का शत्रु है उसका भी विजिगीषु राजा शत्रु ही ठहरेगा। इसलिए एक विजिगीषु राजा को मान कर ही द्वादश राजमण्डल की कल्पना करनी होगी। इसी तरह विजिगीषु राजा के मित्रराज्य का परवर्ती राज्य विजिगीषु का मित्रराज्य होगा। इसी तरह विजिगीषु राजा के मित्रराज्य का परवर्ती राज्य विजिगीषु के शत्रु के मित्र का राज्य होगा। इस लिये वह विजिगीषु का भी शत्रु ही ठहरेगा। शत्रु के मित्र का परवर्ती राज्य विजिगीषु के मित्र का मित्र होता है और इसलिए यह भी विजिगीषु का मित्र ही होगा। इसके अनन्तर मित्र के मित्र का परवर्ती राज्य विजिगीषु राजा के शत्रु के मित्र का मित्र राज्य होगा। सुतरां १—मित्र, २—अरिमित्र, ३—मित्र-मित्र, ४—अरिमित्र मित्र—ये चार राष्ट्र विजिगीषु राजा के पुरोवर्ती (आगे होने वाले) राज्य होते हैं। इसी तरह एक विजिगीषु राजा के ठीक पश्चाद्वर्ती भी चार राष्ट्र होते हैं। ये विजिगीषु राजा के शत्रुराज्य होते हैं, जिनको क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार कहते हैं। इनमें भी पुरोवर्ती चार राष्ट्रों की तरह मित्र अरिमित्र, मित्रमित्र और अरिमित्र की कल्पना होती है। जैसे विजिगीषु राजा के अव्यहित पश्चाद् वर्ती राज्य को पार्ष्णिग्राह कहते हैं, यह विजिगीषु राजा के शत्रु का राज्य होता है। पार्ष्णिग्राह राजा के अव्यविहित पश्चाद्वर्ती राज्य को आक्रन्द कहा जाता है, यह विजिगीषु का मित्र राज्य होता है। इस आक्रन्द राज्य के अव्यहित पश्चाद्वर्ती राज्य को पार्ष्णिग्राहासार कहा है। यह पार्ष्णिग्राहासार राज्य पार्ष्णिग्राह राज्य का मित्र एवं आक्रन्द राज्य का शत्रु होता है। इस पार्ष्णिग्राहासार राज्य का पश्चाद्वर्ती राज्य आक्रन्दासार कहलाता है। यह आक्रन्दासार राज्य आक्रन्द राज्य का मित्र एवं पार्ष्णिग्राहासार का शत्रु होगा। इस तरह विजिगीषु राज्य के पश्चाद्वर्ती ४ राष्ट्रों में (पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार) मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र और अरिमित्र मित्र की व्यवस्था समझनी चाहिए। इस तरह विजिगीषु राष्ट्र के ४ पुरोवर्ती (आगे होने वाले) राज्य एवं ४ पश्चाद्वर्ती राज्य मिल कर

८ राष्ट्र मूलप्रकृति की शाखाप्रकृति कहलाते हैं। इन आठ राजाओं के अतिरिक्त शत्रु विजिगीषु—ये दो और मध्यम तथा उदासीन—ये दो इस तरह मिलित रूप में ४ राष्ट्रों को द्वादश राजमण्डल की मूल प्रकृति कहते हैं। इस क्रम से यह द्वादश राजमण्डल परिगणित होता है।

समस्त दण्डनीतिशास्त्र में इसी द्वादश राजमण्डल की बातें कही गई हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका में परमहंस परिव्राजकाचार्य विज्ञानेश्वर भट्टारक ने १३ राजमण्डल का उपपादन किया है। कामन्दक नीति सार में इस द्वादश राजमण्डल की संख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद दिखाये गये हैं। हम यहाँ राजमण्डल के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य और मिताक्षराकार का आशय प्रदर्शित करेंगे। याज्ञवल्क्य स्मृति की आचाराध्याय के राजधर्म प्रकरण के ३४५वें श्लोक में कहा गया है कि विजिगीषु राजा के राज्य का परवर्ती राज्य ही विजिगीषु का शत्रु राज्य होता है। और शत्रु राज्य का परवर्ती राज्य ही विजिगीषु राजा का मित्र राज्य होता है। विजिगीषु के मित्र राज्य का अव्यवहित परवर्ती राज्य विजिगीषु राजा का "उदासीन" राज्य होता है। इस तरह विजिगीषु राजा के चारों ओर शत्रु, मित्र और उदासीन रूप से राज्य और राजा रहा करते हैं। इस तरह विजिगीषु के चारों तरफ तीन तीन प्रकार के (शत्रु मित्र और उदासीन) राज्य और राजाओं के रहने से मध्यवर्ती विजिगीषु को मिला कर त्रयोदश १३ राजमण्डल कहलाता है। विजिगीषु राजा के लिए इन पूर्वोक्त बारह राजाओं के साथ साम, दान आदि उपायों का यथोचित प्रयोग करना उचित है। विजिगीषु राजा के चारों तरफ के बारह राजा और तेरहवां मध्यवर्ती विजिगीषु राजा इस क्रम से त्रयोदश राजमण्डल की बात याज्ञवल्क्य ने कही है।

याज्ञवल्क्यस्मृति की आचाराध्याय में राजधर्म प्रकरण के ३४५ वें श्लोक की व्याख्या करते हुए मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर भट्टारक कहते हैं कि शत्रु, मित्र और शत्रु और मित्र इन दोनों से विलक्षण उदासीन ये तीन प्रकार के राजा होते हैं। जो राजा आपस में न शत्रु ही है और न मित्र ही, उसको उदासीन कहते हैं। विजिगीषु राजा के चारों तरफ जो शत्रु, मित्र और उदासीन तीन तीन प्रकार के राजा होते हैं उनमें भी प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् शत्रु, मित्र और उदासीन तीन तीन प्रकार के होते हैं :—(१) सहज, (२) कृत्रिम और (३) प्राकृत। जैसे—सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु और प्राकृत शत्रु, सहज मित्र, कृत्रिम मित्र और प्राकृत्र मित्र, सहज उदासीन, कृत्रिम उदासीन और प्राकृत उदासीन।

(१) सहज शत्रु—चाचा, ताऊ और उनके पुत्र आदि सहज शत्रु कहलाते हैं।

(२) कृत्रिम शत्रु—जिसका पहले अपकार किया गया है या जिसने पहले अपकार किया है उसको कृत्रिम शत्रु कहते हैं।

(३) प्राकृत शत्रु—अपने राष्ट्रसे अव्यहित परवर्ती राष्ट्रपति को प्राकृत शत्रु कहते हैं।

(४) सहज मित्र—भानजा, बुआ का पुत्र, भाई (फुफेरा भाई) मौसी का पुत्र भाई (मौसेरा भाई) आदि।

(५) कृत्रिम मित्र—जिसका पहले उपकार किया है या जिसने उपकार किया है वे आपस में कृत्रिम मित्र होते हैं।

(६) प्राकृत मित्र—अपने राष्ट्र से द्वितीय राष्ट्र का परवर्ती राष्ट्र अपना प्राकृत मित्र होता है।

(७) सहज उदासीन—सहज शत्रु एवं सहज मित्र से विलक्षण सहज उदासीन होता है।

(८) कृत्रिम उदासीन—कृत्रिम शत्रु एवं कृत्रिम मित्र से विलक्षण कृत्रिम उदासीन होता है। विजिगीषु राजा ने जिसका पहले कुछ उपकार नहीं किया है और न विजिगीषु राजा का ही जिसने पूर्व कुछ उपकार किया है उसको कृत्रिम उदासीन कहते हैं।

(९) प्राकृत उदासीन—विजिगीषु के राज्य के बाद दो राज्यों को छोड़कर जिसका राज्य है वह विजिगीषु का प्राकृत उदासीन राजा होता है।

इनमें जो तीन प्रकार के शत्रु कहे गये हैं उनमें भी प्रत्येक शत्रु चार प्रकार का होता है। १—यातव्य, २—उच्छेत्तव्य या उच्छेदनीय, ३—पीड़नीय, ४—कर्शणीय।

(१) **यातव्य**—अपने राष्ट्र से मिले हुए अगले राज्य के राजा को शत्रु कहा गया है। यही शत्रु यदि व्यसनी हो अर्थात् पूर्व बतलाये कामज दस दोषों में से किसी दोष में फँसा हो, या पहले बताये हुए क्रोधज आठ दोषों में से किसी में अत्यन्त आसक्त हो, अथवा जिसकी सैन्य आदि शक्ति क्षीण हो, या जिसके मन्त्री आदि अन्तः प्रकृति उससे विरक्त हों, उस शत्रु राजा को यातव्य कहते हैं। अर्थात् विजिगीषु राजा जिस शत्रु राजा को अनेक प्रकार से क्लेश देकर अपना अधीनस्थ राजा बनाये रखना चाहता है उसे यातव्य शत्रु कहते हैं।

(२) **उच्छेत्तव्य**—जिस शत्रुराजा के दुर्ग आदि आत्म रक्षा के कुछ साधन नहीं हैं, मित्र शक्ति भी जिसकी क्षीण है और स्वयं भी दुर्बल है उस राजा को उच्छेत्तव्य कहते हैं। ऐसे राजा का राज्य धनादि सारी वस्तुयें ही विजिगीषु अपने अधीन कर सकता है।

(३) **पीडनीय**—जिस शत्रुराजा के सलाहकार अच्छे नहीं हैं, और सेना भी अत्यल्प संख्या में हैं, वह शत्रुराजा पीड़नीय होता है।

(४) **कर्शणीय**—जिस शत्रुराजा की मन्त्रशक्ति अधिक है और दण्डशक्ति भी समुचित है ऐसा शत्रुराजा कर्शणीय होता है। जिस शत्रुराजा को सम्पूर्ण भाव से निर्मूल करना है उस राजा को उच्छेदनीय कहते हैं। शत्रु का नष्ट करना ही उच्छेद है। शत्रु का उच्छेद न करके केवल उसकी मन्त्रशक्ति तथा

दण्डशक्ति नष्ट कर देने को 'पीड़न' कहते हैं। किन्हीं अंशों में शत्रुराजा के कोष एवं सैन्य का विनाश कर देना 'कर्शण' कहलाता है।

त्रिविध मित्र भी दो प्रकार का होता है—वृंहणीय और कर्शणीय। कोष एवं सैन्य से हीन मित्र राजा के कोष एवं सैन्य की अभिवृद्धि को 'वृंहण' कहते हैं, अर्थात् कोषबल हीन जिस मित्रराष्ट्र के कोष एवं सैन्य को बढ़ाया जाये उसको वृंहणीय मित्र कहते हैं। और जिस मित्र राजा का कोष एवं सैन्य अधिक मात्रा में हो उसमें से कोष एवं सैन्य की आंशिक हानि कर देने को 'कर्शण' कहते हैं, उस मित्रराजा को कर्शणीय मित्र कहते हैं। राजनीति शास्त्र के अनुसार मित्र को भी अपने से अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए। अपने से अधिक बढ़ा हुआ मित्र भी फिर मित्रता का व्यवहार न करेगा। कमजोर मित्र का कोष बल आदि की वृद्धि करके समय पर उससे मदद ली जा सकती है। हीन मित्र से सहायता पाना असंभव है।

मिताक्षराकार ने और भी कहा है कि अन्य दण्डनीतिशास्त्रों में जो पार्ष्णि-ग्राह, आक्रन्द, आसार प्रभृति विजिगीषु राजा के पृष्ठवर्ती चार शत्रुराजाओं का विभाग प्रदर्शन किया है, वह सारा विभाग शत्रु, मित्र और उदासीन इन तीन ही के अन्तर्गत आ जाता है। इसी लिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने इन समस्त संज्ञाओं का उल्लेख करना उचित नहीं समझा।

रामायण में जिस प्रकृतिमण्डल की बात कही गई है उसका कुछ परिचय हमने मनुसंहिता तथा याज्ञवल्क्य संहिता के आधार पर दिखा दिया है। महा-भारत के नारदानुशासन के प्रदर्शन प्रसंग में और भी विस्तृत रूप में हम इस प्रकृतिमण्डल का परिचय प्रदर्शित करेंगे। यह प्रकृतिमण्डल का विचार ही "परराष्ट्रनीति" के नाम से पुकारा जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसका विशद विवरण दिया गया है। भारत का वह भी एक दिन था जब कि धर्मशास्त्र की आलोचनाओं में राजनीति की भी आलोचना की जाती थी। राजनीति की आलो-चना को छोड़कर भारतीय धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य आदि की रचना ही नहीं की जा सकती थी। किन्तु आज हम राजनीति की आलोचना को एक असत् कार्य में गिनने लगे हैं।

यहाँ तक श्रीराम चन्द्रजी ने भरत को इस राजप्रकृतिमण्डल में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव आदि की यथार्थ भाव से विचार करने की बात कह दी है। बहुत सूक्ष्म रूप से परराष्ट्रनीति के सम्बन्ध में उपदेश कर दिया है। अर्थात् संधि विग्रह आदि षड्गुणों में से किस अवस्था में कैसे व्यक्ति के साथ कौन से गुण का व्यवहार उचित होता है और किस समय किसके साथ किस गुण का प्रयोग नहीं करना चाहिये ये सब बातें संक्षेप में श्री रामचन्द्रजी ने भरत को कह दी है। श्री राम ने भरत को और भी कहा है कि, हे भरत!

तुम पूर्व कथित मन्त्रियों के लक्षणों से सुसम्पन्न तीन या चार मन्त्रियों के साथ मिलकर अथवा एक-एक मन्त्री के साथ अलग-अलग नीतिशास्त्रोपदिष्ट मन्त्रणा शैली से सलाह तो करते हो ? तुम हमारे प्रपितामहादि की रीति के अनुसार राज्य शासन तो करते हो ? सज्जनों को सुख देने वाली दुर्जनों को दुःख देने वाली वृत्ति का अवलम्बन तो करते हो ? उत्तम पुण्यभोग्य वस्तुओं का तुम अकेले ही तो उपभोग नहीं करते हो ? तुम अपने मित्रों को अपने भोग्य पदार्थों का कुछ अंश तो दे देते हो ? हे भरत ! महीपतिगण दण्डनीतिशास्त्र के अनुसार प्रजा पालन करके सम्पूर्ण भूमण्डल का आधिपत्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। और प्रजा से यथार्थ धर्म का आचरण करा कर महीपतिवृन्द परलोक में भी श्रेष्ठतम स्वर्गसुख का अधिकारी होता है। आदिकाव्य बाल्मीकि रामायण में श्री रामचन्द्रजी को दण्डनीतिशास्त्र के प्रवक्ता रूप में निर्दिष्ट किया गया है। किन्तु इसके अनन्तरवर्ती समय में श्री रामचन्द्रजी को अध्यात्मशास्त्र उपनिषद् आदि के प्रवक्ता रूप में सम्मानित किया है। आध्यात्मरामायण में रामगीता के देखने पर हमारे इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

जिस समय से भारतीय जनता की दण्डनीतिशास्त्र में उपेक्षा की भावनायें बढ़ने लगीं उस समय से रचित किसी भी ग्रन्थ में श्री रामचन्द्र को कहीं भी दण्डनीतिशास्त्र का प्रवक्ता नहीं बतलाया गया है। भारत की राष्ट्रिय भावनाओं का अवसाद ही इसका प्रधान कारण हो सकता है। इस अवसाद का अन्त कब होगा भगवान् ही जाने।

यहाँ तक हम आदिकाव्य रामायण से राजधर्म की आंशिक आलोचना प्रदर्शित कर चुके। रामायण के और भी अनेक स्थलों में राजधर्म की आलोचनायें मिलती हैं जैसे—रावण सूर्पणखा संवाद में, रावण द्वारा अपमानित होकर विभीषण के श्रीराम की शरण में आने पर, कुंभकर्ण रावण संवाद में, राजधर्म की बहुत सी बातें आलोचित हुई हैं। स्वाधीन भारत का आदिकाव्य राजधर्म की आलोचनाओं से सर्वथा परिपूर्ण है। आधुनिक काव्यों की तरह उसमें राजधर्म उपेक्षित नहीं हुआ है। भारत के अधःपतन के आरंभ से ही भारतीय काव्यादि ग्रन्थों में राजधर्म की आलोचना सर्वथा तिरोहित हो चली थी। जितने दिनों भारत की पराधीनता रही उतने समय तक राजधर्म की अपने ग्रन्थ में चर्चा करना पातक विशेष समझा जाता रहा है। वर्तमान समय में हमारी धारणा हो गई है कि "काव्य" राजधर्म की आलोचना का स्थान ही नहीं हो सकता केवल नायक नायिकाओं के प्रेम वर्णन का ही यह उचित साधन हो सकता है। राष्ट्रिय अधिकारों से वंचित होने पर किसी भी राष्ट्रिय जनता की यह दुर्गति होने के सिवाय दूसरी बात हो ही क्या सकती है।

हम इसके बाद प्रदर्शित रामायण के इस अध्याय के अनुरूप ही महाभारत के एक अध्याय की आलोचना करेंगे।

तृतीय अध्याय

महाभारत में दण्डनीति—नारद का अनुशासन

महाराज धृतराष्ट्र के आदेशानुसार कौरव साम्राज्य का आधा हिस्सा पाकर महाराज युधिष्ठिर ने खाण्डवप्रस्थ में अपना पृथक राज्य स्थापन किया। इस राज्य की राजधानी इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान देहली) हुई। इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों की नयी राजधानी स्थापित होने पर महाराज युधिष्ठिर का वन्धुवर्ग और मित्रपक्ष के अन्यान्य राजा लोग महाराज युधिष्ठिर के संवर्द्धनार्थ इन्द्रप्रस्थ में इकट्ठे हुए। इसी समय इन्द्रप्रस्थ की सभा में पाण्डवों को देखने के लिए देवर्षि नारद भी उस सभा में आ गये।

ये देवर्षि नारद वेद और उपनिषदों के परमवेत्ता, तथा इतिहास और पुराणों के पूर्ण अभिज्ञ, पुराकल्पों के विशेषज्ञ, न्याय को जानने वाले, धर्म के तत्व को समझने वाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन वेदों के छहों अंगों के पूरे जानकार, पूर्वमीमांसा (वैदिक कर्म कलाप को प्रतिपादन करने वाला शास्त्र) उत्तर मीमांसा (आत्मतत्व का रहस्य प्रतिपादन करने वाला शास्त्र) उक्त दोनों शास्त्रों में पूर्ण निष्णात, प्रगल्भ (सभा आदि में उचित बात कहने वाले) मेधावी, सुस्थिर स्मृतिवाले, नीतिशास्त्र के परम रहस्यज्ञ, आगम, युक्ति एवं अनुमानादि से आगे आने वाले समय को समझने वाले, वेद के कर्म विभाग तथा ज्ञान विभाग के वेत्ता, लौकिक तथा अलौकिक प्रमाणों के द्वारा सभी बातों का निश्चय रखने वाले, अनुमान के पंचावयव वाक्यों के गुणदोष को समझने वाले, सभी विषयों के उत्तरोत्तर प्रवक्ता, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थ के विशेषज्ञ, सम्पूर्ण भुवन कोषों के यथार्थ जानकार, समस्त लोकों के प्रत्यक्ष द्रष्टा, सांख्य योग—विभागवित्, देवता और असुरों में विवाद के प्रवर्तक और प्रवृत्त कलह को शान्त कराने वाले, सन्धिविग्रह आदि राजनीति के छहों गुणों के यथार्थ ज्ञाता, सर्वशास्त्र विशारद, युद्धविद्या में निपुण, संगीत विद्या के पारदर्शी, सम्पूर्ण विषयों में अप्रतिहतबुद्धि, इसी तरह के और भी अनेक गुण सम्पन्न देवर्षि नारद पाण्डवों की उस सभा में उपस्थित हुए।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रारम्भ में देवर्षि की विद्या प्रशंसा में कहा गया है कि देवर्षि नारद ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद, इतिहास पुराण रूप पंचमवेद, पितृविद्या (श्राद्धकल्प), गणितविद्या, दैवविद्या, निधिशास्त्र (भूगर्भ विद्या), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षात्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), सर्पविद्या,

पूर्ण रूप से विकसित थे यह हम पहले ही कह चुके हैं। इसलिये ये छहों गुण केवल राजा के लिए ही अपेक्षित हों यह बात नहीं है। किन्तु जो भी राष्ट्रतन्त्र के उपदेष्टा हों, या राजमन्त्री आदि पदों पर प्रतिष्ठित हों उनके लिए भी इन छहों गुणों का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। नारद में इन छहों गुणों का उल्लेख करके महाभारतकार ने इसी विषय को समझाने की चेष्टा की है। प्रदर्शित छहों गुणों के द्वारा सात उपायों की परीक्षा करने की जो बात कही गई है, वे सात उपाय ये हैं—साम, दान, भेद, दण्ड, मंत्र, औषध और इन्द्रजाल। इन सात प्रकार के उपायों का विवरण आगे बतलावेंगे।

नारदजी इनके प्रयोग आदि के विषय में विशेष बातें बताने के लिए युधिष्ठिर से पूछते है कि तुम अपने तथा शत्रु के पक्ष में इन सातों उपायों की समानता अथवा शत्रुपक्ष की कमजोरी, या अपने पक्ष की कमी इस तरह तीन प्रकार से साम दान आदि सातों उपायों का बलाबल पूर्वोक्त ६ प्रकार के राजगुणों द्वारा परीक्षण करके उपयोग करना तो जानते हो? एवं तुम चौदह राजदोषों को परीक्षा पूर्वक छोड़ने का प्रयत्न तो करते हो? १—नास्तिक्य (ईश्वर की सत्ता न मानना), २—झूठ बोलना, ३—क्रोध, ४—असावधानी, ५—दीर्घसूत्रता (थोड़े समय में किये जा सकने वाले काम को अत्यधिक समय में करना), ६—विज्ञ पुरुषों के साथ अपरिचय, ७—आलस्य, ८—इन्द्रिय परायणता, ९—अकेले ही किसी विशेष राजकार्य की मन्त्रणा करना, १०—मूर्खो के साथ मिल कर सलाह करना, ११—सलाह से निश्चित किये कार्य को प्रारम्भ न करना, १२—सलाह को गुप्त न रख सकना, १३—मांगलिक कार्यों का न करना, १४—एक साथ ही बहुत से शत्रुओं से विरोध—राजा को अपने ये चौदह दोष परीक्षापूर्वक अवश्य छोड़ देने चाहिए और अपने विपक्षी राजा के इन दोषों को जान कर तदनुसार उसकी व्यवस्था के द्वारा शत्रु पक्षीय राजा को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए।

१—देश, २—दुर्ग, ३—रथ, ४—हाथी, ५—घोड़ा, ६—पैदल, ७—इन सब के अध्यक्ष, ८—अन्तःपुर, ९—अन्तःपुराध्यक्ष, १०—खाद्य वस्तुएँ, ११—घोड़े रथ धन आदि की संख्या, १२—आमदनी और खर्च का लेखा, १३—धन पर्याप्त है या नहीं इसका विचार करना, १४—गुप्त शत्रुओं का परिज्ञान—इन चौदह विषयों का बलाबल राजा को अच्छी तरह जान लेना चाहिये। इसलिए देवर्षि नारद राजा युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे महाराज! तुम देश आदि पूर्वोक्त चौदह विषयों के बलाबल की परीक्षा तो ठीक तरह से कर पाते हो? साम आदि सात विषयों के बलाबल विवेचना करने की जो बात कही गई है उसमें यह समझना होगा कि इस तरह के शत्रु के साथ साम वाक्यों का प्रयोग करना उचित है कि नहीं—साम का प्रयोग करने पर उससे मतलब सिद्ध होगा या नहीं—फल सिद्धि होने पर भी सामवाक्यों के प्रयोक्ता राजा का कल्याण हो सकेगा या नहीं, इत्यादि बातों के

ज्ञान को ही साम आदि सातों उपायों के बलाबल की परीक्षा कहते हैं। इसी तरह देश आदि चौदह विषयों के बलाबल की परीक्षा की जो बात कही है उसका भी अभिप्राय यही है कि अपने तथा शत्रुपक्ष के देश आदि चौदह विषयों का उत्कर्ष या अपकर्ष का अपनी बुद्धि द्वारा तथा गुप्तचरों द्वारा सर्वदा परीक्षण करता रहे। पहले जो सात प्रकार के उपाय और देश आदि चौदह विषयों के बलाबल की परीक्षा की बात कही थी और चौदह राजदोषों को छोड़ने की बात कही थी, अब उस परीक्षा का फल बताते हैं। अपने और पराये की परीक्षा करके परपक्षीय राजाओं के साथ यथोचित सन्धिस्थापन करके अपने राष्ट्र की विशेष उन्नति के लिए तुम कृषि आदि आठ कर्म तो करते हो? ये निम्न आठ कर्म हैं—१—खेती की सुव्यवस्था, २—व्यापारिक सुविधा के लिए दूर देशगामी मार्ग बनाना, ३—अपने देश की रक्षा के लिए किला बनाना, ४—नदियों पर पुल बनाना, ५—हाथियों का संग्रह करना, ६—खानों से प्राप्त होने वाली चीजों पर कर लगा कर धन संग्रह करना, ७—आकर से प्राप्त होने वाली चीजों पर कर लगाकर धन संग्रह करना, ८—खाली पड़ी जमीन में खेती आदि करने की सुव्यवस्था करना। खान और आकर में यही भेद है कि खोदने से जिस भूमि में रत्न आदि पाये जाय उसको खनि या खान कहते हैं, और अग्नि आदि के संयोग से पत्थर और मृत्तिका में से सुवर्ण और लवण आदि जिस भूमि में उत्पन्न हों उसको आकर कहते हैं।

देवर्षि नारद पुनः युधिष्ठिर को सम्बोधित करके कहते हैं कि, हे महाराज ! तुम सात प्रकार की राज्य प्रकृति की यथार्थ रूप से सतत ही रक्षा तो करते हो? १—स्वामी—अध्यक्ष, २—मंत्री—अमात्य आदि, ३—सुहृद्, ४—कोष, ५—राष्ट्र, ६—दुर्ग, ७—बल—सैन्य आदि राज्य की सात प्रकृति होती हैं। इनमें से पहली प्रकृति स्वामी—अध्यक्ष सात प्रकार की होती है। दुर्गाध्यक्ष (किले का अधिकारी), बलाध्यक्ष (चतुरङ्गिणी सेना के भोजनादि की व्यवस्था करने वाला), चर्माध्यक्ष, प्रधान सेनापति (चतुरङ्गिणी सेना जिसके नायकत्व में युद्ध करती है वह सेनापति कहलाता है), राजपुरोहित, राजवैद्य, राजज्योतिषी। इस सात प्रकार की प्रथम राजप्रकृति को शत्रुराजा लोग धनादि द्वारा अपना कर राज्य का विनाश साधन कर सकते हैं। इसलिए देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे महाराज! शत्रुपक्षीय राजा लोग तुम्हारे दुर्गाध्यक्ष आदि स्वामिवर्ग को जिससे धनादि द्वारा न अपना सके, इसके लिए तुम इन पर पूरी दृष्टि तो रखते हो? यह समस्त अध्यक्षवर्ग धनाढय होने पर व्यसनों में आसक्त हो जाता है। इस अध्यक्षवर्ग के व्यसनों में फँस जाने पर राज्य का सर्वनाश हो जाता है। यह अध्यक्षवर्ग जिससे दुर्व्यसनों में न फँस सके इस पर तुम दृष्टि तो रखते हो? यह समस्त अध्यक्षवर्ग तुम में पूर्ण अनुराग तो रखता है। जिनकी तुम्हारे विषय में दुर्भावनाओं की शंका ही नहीं की जा सकती ऐसा तुम्हारा दूतवर्ग और सुहृद् वर्ग,

दोनों पक्षों से (तुमसे और शत्रु पक्ष से) वेतन पाने वाला होकर तुम्हारी सुगुप्त मन्त्रणा की बातों को शत्रु के सामने प्रकट तो नहीं कर देता? तुम मित्र, उदासीन और शत्रुराजाओं की पूरी खोज खबर तो रखते हो? उनके चिकीर्षित कार्यों का तुमको पूरा पता तो चल जाता है? और उनके चिकीर्षित कार्यों को जानकर तुम यथा समय उनके साथ संधि विग्रह आदि तो कर लेते हो? मध्यम और उदासीन राजाओं के साथ तुम अपनी समान वृत्ति तो रखते हो? तुम्हारे और तुम्हारे शत्रुओं के साथ जो समान रूप से अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं उनको मध्यमराजा समझना चाहिए। इस मध्यमराजवर्ग को ही "उभय वेतन" कहा जाता है। और जो राजा लोग तुमसे या तुम्हारे शत्रुपक्ष से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते हैं, उन राजाओं को उदासीन राजा समझना होगा। तुम इन मध्यम और उदासीन राजाओं के साथ समान स्थिति की रक्षा तो करते हो? हे महाराज! अच्छे वंश में पैदा हुए, विशुद्ध चरित एवं विपत्ति के समय तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ ऐसे ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों को तो तुमने मन्त्री पद पर नियुक्त किया है?

मन्त्रणा (सत्परामर्श) ही राजा के जय का मूल है। तुम्हारा शास्त्रज्ञ मन्त्रिवर्ग मन्त्रणा को सुगुप्त रखने में पूर्ण समर्थ तो होता है? क्योंकि मन्त्रणा का सर्वसाधारण को ज्ञात हो जाना ही राज्य के विनाश का कारण होता है। मन्त्रगुप्ति के अभाव में शत्रुगणों के द्वारा तुम्हारा राज्य उत्पीड़ित तो नहीं होता? तुम उचित समय पर जाग कर रात्रि के शेष भाग में अमात्यगणों के साथ धन वृद्धि के उचित उपायों का विचार तो करते हो?

तुम एकाकी अथवा बहुत से मन्त्रियों से मिल कर मन्त्रणा तो नहीं करते? तुम्हारी मन्त्रणा के अनुरूप कार्य सम्पन्न होने से पूर्व ही वह सर्वसाधारण को विदित तो नहीं हो जाती? थोड़े से व्यय से अधिक लाभ देने वाले कार्य को शीघ्र प्रारंभ तो कर देते हो? उसमें विलम्ब तो नहीं करते हो? तुम्हारे राज्य में धन की वृद्धि के कामों में नियुक्त व्यक्ति तुमसे अज्ञात तो नहीं रहते? वे तुम्हारे अविश्वासपात्र तो नहीं हैं? जिन व्यक्तियों के बार बार काम छोड़ देने पर उन ही कामों में फिर लगा दिये गये हों ऐसे व्यक्तियों को तुम राज्य के वृद्धिकर कार्यों में तो नियुक्त नहीं करते हो? विश्वसनीय एवं अधिक उम्र के तथा जिनकी वंश परम्परा से वह कार्य होता आया है ऐसे व्यक्तियों को तुम अपने यहाँ धनवृद्धि कार्य में नियुक्त तो करते हो? मन्त्रगुप्ति के समान ही कर्मगुप्ति भी तो तुम रखते हो? तुम्हारे कार्यों को दूसरे लोग पूर्ण होने पर अथवा यत्किंचित् शेष रहने पर ही तो जान पाते हैं, इससे पूर्व तो नहीं जान पाते? युद्धविद्या में निपुण आचार्यगण राजकुमारों को युद्धविद्या में सुशिक्षित तो कर पाते हैं? तुम हजार मूर्खों के बदले एक विद्वान व्यक्ति का संग्रह तो करते हो? यथार्थ में विद्वान् व्यक्ति ही आपत्ति के समय राज्य की रक्षा कर सकता है। तुम्हारे समस्त दुर्ग

धन, अस्त्र, यन्त्र, अन्न और जल से पूर्ण तो रहते हैं, तथा शिल्पी, यन्त्रादिकों के निर्माता कारीगर और सशस्त्र योद्धाओं से परिपूर्ण तो हैं? मेधावी, पराक्रमशाली बुद्धि पर भी काबू रखने वाला, विचक्षण एक मन्त्री ही राजा के विपुलतम राज्य की प्राप्ति का कारण होता है। इसलिए तुम ऐसे मन्त्री को अपनाने में यत्नशील तो रहते हो?

भारतीय दण्डनीतिशास्त्र में राष्ट्र के १८ पदाधिकार तीर्थ शब्द से पुकारे गये हैं। १—प्रधान मन्त्री, २—पुरोहित, ३—युवराज, ४—सेनापति, ५—दौवारिक (द्वारपाल), ६—रनिवास की रक्षा में नियुक्त (अन्तःपुराधिकृत), ७—कारागाराध्यक्ष (जेलर), ८—धनाध्यक्ष (खजाने का प्रधानाधिकारी), ९—कार्य नियोजक (राजकर्मचारियों को उनके उन उन कार्यों में नियुक्त करने वाला), १०—प्राड-विवाक (जज आदि न्यायालय के विचारक), ११—सेना को वेतन देने वाला, १२—नगराध्यक्ष (कलक्टर), १३—कर्मान्तिक (किसी कार्य के अन्त में वेतन लेने वाला), १४—राज्य सीमा पाल, १५—दुर्गपाल (किले की रक्षा करने वाला), १६—राष्ट्रपाल, १७—दण्डपाल, १८—धर्माध्यक्ष। इन अठारह पदों के अधिकारियों को १८ तीर्थ कहा है। दूसरे राज्य के ये १८ पदाधिकारी तथा अपने राष्ट्र के प्रधान मन्त्री, पुरोहित और युवराज इन तीन तीर्थों को छोड़ कर शेष १५ अधिकारियों का संवाद तुम यथार्थ रूप से जानते तो रहते हो? राजा के द्वारा उन उन कार्यों के लिये विनियुक्त गुप्तचरवर्ग आपस में एक दूसरे को न जानता हुआ तथा औरों से भी अविदित अपने तथा दूसरे राष्ट्रों के १८ पदाधिकारियों की पूरी कारवाइयों को जानकर तुम्हारें सामने पूरा समाचार तो बतला देता है? एक एक तीर्थ का कार्य जानने के लिए नियुक्त तीन गुप्तचर एक साही सच्चा समाचार बतलावे तो राजा उसका यथोचित प्रतिविधान करे। चारगणों के द्वारा प्राप्त समाचार यदि परस्पर विरोधी हों तो राजा उसका यथार्थ निर्णय करके उसकी यथोचित व्यवस्था करे।

देवर्षि नारद युधिष्ठिर से फिर कहते हैं कि हे महाराज! तुम परराष्ट्र के १८ तीर्थों का तथा अपने १५ तीर्थों का यथार्थ समाचार चारगणों के द्वारा जान तो पाते हो? शत्रुराजाओं का गुप्त रूप से सारा समाचार तुम पूरी सावधानी से सर्वदा जानते तो रहते हो? विनय सम्पन्न, अच्छे वंश में पैदा हुए, अनेक विद्याओं के पारगामी, असूयारहित एवं शास्त्र-चर्या में कुशल पुरुष को तो तुमने पुरोहित कार्य में नियुक्त किया है? शास्त्रज्ञ, बुद्धिमान्, कुटिलता रहित पुरुष को तो तुमने अपने अग्निकार्य में नियुक्त किया है? सामुद्रिकशास्त्र में पूर्ण दक्ष एवं ज्योतिष-शास्त्र में कुशल धूमकेतु (पुच्छल तारा) भूकम्प आदि दिव्य उत्पातों तथा भौतिक उत्पातों को जान सकने में पूर्ण दक्ष ज्योतिषी को तुमने नियुक्त तो किया है? तुमने अपने राज्य में उत्तम, मध्यम और अधम व्यक्तियों को उनके अनुरूप ही

उत्तम, मध्यम और अधम कार्यों में तो नियुक्त किया है ? धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा इन चार प्रकार की उपधा (छल से किसी व्यक्ति की परीक्षा करने को उपधा कहते हैं) द्वारा परीक्षित होने पर सर्वथा विशुद्ध प्रमाणित मन्त्रिवर्ग को उनके योग्यतानुसार कार्य में तुमने उनको नियुक्त तो किया है ? जिसमें शत्रुराजाओं को पता न चलने पाये इस रूप में तुम शत्रुराजाओं के राज्य की पूरी खबरें सावधानी से सर्वदा जानते तो रहते हो ?

तुम उग्र दण्ड द्वारा प्रजावर्ग को उद्विग्न तो नहीं करते ? मन्त्रिवर्ग तीक्ष्णदण्ड द्वारा तुम्हारे राज्य का शासन तो नहीं करते ? तुम्हारा मन्त्रिवर्ग तुम्हारी अवज्ञा तो नहीं करता ? तुमने उत्साहयुक्त, शूर, बुद्धिमान, धैर्यशाली, निर्मलबुद्धि, अच्छे कुल में पैदा हुए, तथा तुम्हारे प्रति पूर्ण अनुराग रखने वाले एवं कर्मदक्ष व्यक्ति को तो सेनापति पद पर नियुक्त किया है ? सब प्रकार की युद्धविद्याओं में पूर्ण निष्णात, एवं अत्यन्त पराक्रमशाली बलप्रधान व्यक्तियों का पूर्ण सत्कार पूर्वक सम्मान तो करते रहते हो ? तुम्हारे सैनिकों को यथोचित वेतन और भत्ता आदि तो ठीक समय पर मिलता रहता है ? उसमें विलम्ब तो नहीं होता ? जो लोग वेतन और भत्ता लेकर कार्य करते हैं उनको उचित समय पर वेतन आदि न मिलने से वे दुःखी होने के कारण स्वामी के प्रति विरक्त हो सकते हैं, जो स्वामी के लिए विशेष अनर्थकारी प्रमाणित होता है। तुम्हारा प्रधान अमात्यवर्ग तुममें पूर्ण अनुरक्त तो रहता है ? युद्ध आदि विपत्ति के समय तुम्हारे लिए अपने प्राण तक देने को तैयार तो रहता है ? तुम्हारा सेनापतिवर्ग तुम्हारी आज्ञा के बिना ही अपने इच्छानुसार तो सैन्य संचालन नहीं करता ? तुम्हारे भृत्यों में से किस व्यक्ति ने अपने विशेष योग्यतानुसार कौन सा विशेष कार्य किया है इसको जानकर तुम उसका अधिक सम्मान तो करते हो ? एवं उसका वेतन तथा भत्ता तो बढ़ा देते हो ? तुम ज्ञानवान् एवं विद्याविनीत व्यक्तियों को उनके गुणानुरूप दान मान द्वारा सम्मानित तो करते रहते हो ? तुम्हारे कार्य सम्पादन के लिए जिन्होंने प्राण दे दिये हैं, अथवा तुम्हारे नौकरों में से जो तुम्हारे कार्य करने के लिए आपत्ति में पड़ गये हैं, उनके पोष्यवर्ग (जिनके पालन-पोषण की उन पर जिम्मेदारी थी) का तुम भरण-पोषण तो करते हो ? जो व्यक्ति किसी से डर कर अपनी रक्षा के लिए तुम्हारी शरण में आया हो, अथवा जो तुम्हारा दुर्बल शत्रु तुम्हारा शरणापन्न हो गया हो, या जो युद्ध में पराजित तुम्हारी शरण में आ गया हो, उन सब की तुम रक्षा तो करते हो ? तुम अपनी प्रजा के लिए माता-पिता की तरह अशंकनीय तो रहते हो ? तुम दुर्भिक्ष अथवा महामारी आदि संक्रामक रोगों से शत्रुराज्य के आक्रान्त होने पर शत्रुराष्ट्र पर आक्रमण करने में विलम्ब तो नहीं करते ? आक्रमण के समय तुम अपना मन्त्र, कोष और भृत्यवर्ग पर पूरी सतर्क दृष्टि तो रखते हो ? अर्थात् मन्त्र, कोष और सैनिकवर्ग पर पूर्ण दृष्टि रखते हुए आक्रमण

तो करते हो? आक्रमण के समय तुम अपनी प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह-शक्ति का पूरा ध्यान तो रखते हो? तुम पूर्वोक्त बारह प्रकार के राजमण्डल का पूरा अभिप्राय ठीक ठीक जानकर एवं शत्रुवर्ग के पराजय का कारणभूत उनके क्रोधज या कामज व्यसनों को जान कर तथा अपने पक्ष में उक्त व्यसनों का अभाव देख कर ही तो शत्रुराज्य पर आक्रमण करते हो? युद्ध यात्रा के पूर्व तुम अपने सैनिकों को अग्रिम वेतन या भत्ता तो दे देते हो? तुम्हारे शत्रुराज्यों में जो सेनापति वर्ग हैं, उन्हें गुप्त रूप से उनकी योग्यतानुसार धन रत्नादि प्रदान तो करते रहते हो?

तुम सबसे पूर्व स्वयं जितेन्द्रिय हो अपने को जीत कर बाद में अजितेन्द्रिय अपने शत्रु को जीतने की चेष्टा तो करते हो? तुम जिस समय शत्रु पर आक्रमण करने के लिए यात्रा करते हो उससे पूर्व अर्थात् सेना के शत्रुराज्य में पहुँचने के पहले साम, दान, भेद और दण्ड आदि उपायों का प्रयोग तो कर लेते हो? तुम शत्रु पर चढ़ाई करने के पूर्व अपने राष्ट्र की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध तो कर देते हो? अपने राज्य की पूर्ण रक्षा का प्रबन्ध कर शत्रुराज्य पर आक्रमण और शत्रु को जीत कर शत्रुराज्य की रक्षा का प्रबन्ध तो तुम करते हो? तुम्हारी सेना में १—रथ, २—हाथी, ३—अश्व, ४—पदाति, ५—विष्टि (फौज के लिए रास्ते आदि बनाने वाला कर्मकारवर्ग—सफरमैना), ६—नौसेना, ७—गुप्तचर, ८—दैशिक (फौज को रास्ता बताने वाला वर्ग दैशिक कहलाता है, जलयुद्ध में जल के रास्तों को जानने वाला दैशिक, और स्थल युद्ध में स्थल का रास्ता जानने वाला दैशिक) यह अष्टाङ्ग से सुसम्पन्न तो है? तुम्हारी इस अष्टाङ्ग से युक्त सेना श्रेष्ठ सेनापतिवर्ग से संरक्षित एवं संचालित हो शत्रु विनाश में समर्थ तो होती है?

जिस समय शत्रुराज्य में खेती पक कर तैयार हो चुकी हो अथवा जिस समय शत्रुराज्य में अकाल पड़ा हो, उस समय तुम विलम्ब न करके शत्रुराज्य पर आक्रमण कर उसको नष्ट करने का प्रयत्न तो करते हो? तुम्हारे राज्य में जैसे तुम्हारे राज्य की रक्षा के लिये अधिकारी वर्ग नियुक्त है इसी तरह शत्रुराज्य में भी तुम्हारा अधिकारी वर्ग गुप्त रूप से नियुक्त रहता हुआ तुम्हारे राज्य के अधिकारी वर्ग को सब तरह की अनुकूलता तो प्रकाशित करता रहता है, तथा शत्रुराज्य में रहने वाले तुम्हारे प्रच्छन्न अधिकारी वर्ग की तुम्हारा राज्य स्थित अधिकारी वर्ग सहायता तो करता रहता है? तुम्हारे खाद्यपदार्थ एवं वस्त्र, चन्दन, अगरु गात्रानुलेपन आदि अपेक्षित आवश्यक वस्तुएँ तुम्हारे विश्वसनीय नौकरों द्वारा तुम्हारे लिए सुरक्षित तो रहती हैं? तुम्हारा खजाना, अन्न संग्रह, स्थान, सवारी, अस्त्र, नगर, दुर्ग आदि एवं तुम्हारा आय विभाग—धर्मबुद्धि वाले तुम्हारे अनुरक्त नौकरों के द्वारा सुरक्षित तो है? आभ्यन्तर रसोइया आदि तथा बाह्य सेनापति वर्ग के द्वारा तुम्हारी व्यक्तिगत रक्षा की पूर्ण सुव्यवस्था तो रहती है? इन आभ्य-

न्तर और बाह्य भृत्यगणों की अपने पुत्र और अमात्य आदि से तुम रक्षा तो करते रहते हो? एवं पुत्र को अमात्य आदिकों से तथा अमात्य वर्ग को पुत्रादिकों से रक्षा तो करते रहते हो? तुम्हारे मद्यपानादि दुर्व्यसनों का व्यय तुम्हारे कर्मचारियों के द्वारा अन्य लोगों को ज्ञात तो नहीं हो जाता? तुम अपने कोष को बढ़ाने का सफल प्रयत्न तो करते रहते हो? सुभिक्ष समय में आमदनी का चौथा भाग तथा सामान्य समय में आमदनी अर्द्धांश एवं दुर्भिक्ष के समय में आमदनी के चार भागों में से तीन भाग द्वारा अपना खर्चा तो चलाते रहते हो? तुम अपने जाति वालों, गुरुजनों एवं वृद्धजनों और वैश्य, शिल्पी तथा आश्रित जनों को अनुगृहीत तो करते रहते हो? तुम राज्य के दुःखी प्राणियों को धन धान्य द्वारा अनुगृहीत तो करते रहते हो? तुम्हारे आय व्यय को गिनने वाले तथा लिखने वाले व्यक्ति ठीक तरह से आय व्यय को गिनते और लिखते तो रहते हैं? आय व्यय की गणना एवं लेखन में कोई त्रुटि तो नहीं होने पाती? तुम्हारा भृत्यगण बिना अपराध के शंका मात्र से दण्डित तो नहीं हो जाता? जो व्यक्ति अपने कार्य में निपुण है तथा तुम्हारे हितकामी हैं उनको बिना अपराध प्रमाणित हुए ही उनके कामों से अलग तो नहीं कर दिया जाता? तुम्हारे नौकरों में से उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणियों के व्यक्तियों को उनकी श्रेणी के अनुरूप उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के कार्यों में तो नियुक्त किया जाता है? लोभी, चोर, शत्रु और कार्य के अयोग्य, इस तरह के व्यक्तियों को तो अपने कार्य में नियुक्त नहीं करते? तुम्हारे लोभी कर्मचारी गणों से, तथा चोरों से, उद्धत राजकुमारों से एवं महारानियों से तुम्हारी प्रजा पीड़ित तो नहीं की जाती? तुम भी राज्य को पीड़ित तो नहीं करते?

तुम्हारे राज्य का कृषकगण संतुष्ट तो है? तुम्हारे राष्ट्र में बड़े लम्बे लम्बे चौड़े एवं जल से सर्वथा सर्वदा परिपूर्ण रहने वाले अनेक तालाब क्रमशः सुव्यवस्थित तो हैं? तुम्हारे देश में खेती देवमातृक (वर्षा से ही होनेवाली) तो नहीं है? अर्थात् तुम्हारे राज्य में खेती वृष्टि मात्र से ही सम्पन्न होने वाली तो नहीं है? तुम्हारे राज्य में किसानों को आवश्यक अन्न तथा बीज की कमी तो नहीं रहती? बहुत थोड़े सूद पर किसानों को अनुग्रह-ऋण तो दिया जाता है? खेती, वाणिज्य, पशुपालन प्रभृति मनुष्य की जीविका निर्वाह के साधनों का व्यवहार तुम्हारे राज्य में निर्बाध तो चलता रहता है? इन कृषि आदि वार्ताकर्मों के आश्रय से लोक सुख से तो समय बिताते है? कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन आदि धनोपार्जन के साधनों को 'वार्ता' कहते हैं। तुम हर एक गाँव में बुद्धिमान् एवं कार्य-कुशल पाँच व्यक्तियों को पंच बना कर लोक रक्षार्थ नियुक्त तो करते हो? तुम्हारे द्वारा नियुक्त किये ये पंच लोग एक दूसरे की अनुमति पूर्वक आपस में एकमत हो जनपद का कल्याण तो करते हैं? इन पाँचों व्यक्तियों के कार्यानुरूप नाम इस प्रकार होते हैं। १—प्रशास्ता, २—समाहर्ता, ३—संविधाता, ४—लेखक,

५—साक्षी। गाँव के शासक का नाम प्रशास्ता है। गाँव के लोगों से राजकीय कर इकट्ठा करके संगृहीत धन राजकोष में पहुँचाने वाले को 'समाहर्ता' कहते हैं। समाहर्ता और प्रशास्ता दोनों भिन्न व्यक्ति होते हैं। जो शासन करेगा वह प्रजाजनों से कर संग्रह नहीं कर सकता और जो प्रजाजनों से राजकर इकट्ठा करेगा वह शासन नहीं कर सकता। प्रजा और समाहर्ता की ठीक कार्यवाही को प्रमाणित करने वाले को 'संविधाता' कहते हैं अर्थात् प्रजा ने जिसको राजकर दे दिया और जिसने उचित राजकर ले लिया इन दोनों का अनुसन्धान करके जो एक मत स्थापित कर सके वह 'संविधाता' कहलाता है। इन दोनों की कार्यवाही को लिखने वाला 'लेखक' होता है। लेखक का कार्य ठीक है या नहीं इसको सत्य प्रमाणित करने वाला व्यक्ति साक्षी कहलाता है। ये पाँचों व्यक्ति ग्राम में रह कर एकमत हो सचाई से अपना अपना कार्य सम्पादन कर सकें तो ग्राम की कल्याण वृद्धि होती है। हे युधिष्ठिर! उक्त प्रबन्ध के द्वारा तुम्हारे ग्रामों को नगर सदृश तो बनाया जाता है? अनेक वीर पुरुष एवं धनादि सम्पन्न व्यक्तियों से युक्त ग्राम को नगर सदृश ग्राम कहा जाता है। ऐसे नगर सदृश ग्रामों की ही मुख्य नगरों की रक्षा के लिए आवश्यकता होती है। तुम्हारे राज्य के सीमान्त भाग—जहाँ जंगली लोग रहते हैं उन उन प्रान्त भागों को तुमने ग्राम सदृश तो बना दिया है? ग्राम में जिस तरह शासन और राजकीय कर संग्रह होता रहता है उसी तरह तुम्हारे सीमान्त प्रदेशों में भी सुप्रबन्ध तो रहता है? सीमान्त प्रदेश ग्राम और नगरों से इकट्ठा किया राजकीय कर तुम्हारे पास ठीक ठीक रूप में तो पहुँच जाता है? सीमापाल ग्रामाध्यक्ष को ग्रामाध्यक्ष नगराध्यक्ष को, नगराध्यक्ष देशाध्यक्ष को और देशाध्यक्ष साक्षात् राजा को अर्थात् राजकोष में राजग्राह्य वस्तुओं को अर्पित तो कर देता है? पुराध्यक्ष (कोतवाल) अनेक रक्षकों (सिपाहियों) से युक्त हो राज्य में उपद्रव करने वाले चोर-डाकुओं को पकड़ने के लिए उनका पीछा तो करता है?

तुम्हारे राज्य में स्त्री समाज सुरक्षित तो रहता है? स्त्री वृन्द उद्विग्न होकर तो तुम्हारे राज्य में कालयापन नहीं करता? राष्ट्र की कोई गुप्त मन्त्रणा स्त्रियों के सामने तो कोई प्रकाशित नहीं कर देता? कोई अत्यन्त विचारणीय एवं आवश्यक कार्य उपस्थित होने पर उसको सुनकर भी मन बहलाने के लिए अन्तःपुर में तो नहीं चले जाते? तुम रात्रि के द्वितीय और तृतीय पहर में सुख से सोकर चौथे पहर में जागकर धर्म और अर्थ का विचार तो करते हो? कवच पहन कर खड्ग हाथ में लिये हुए रक्षकगण तुम्हारी रक्षा के लिए सर्वदा तुम्हारे पास प्रस्तुत तो रहते हैं? तुम पूरी परीक्षा करके दण्ड देने योग्य व्यक्ति को समुचित दण्ड तो देते हो? तुम अपने प्रिय और अप्रिय व्यक्तियों के साथ समान रूप से राजकीय दण्ड व्यवस्था करने में पूर्ण सफल तो होते हो? तुम औषध और पथ्यादि नियमों के द्वारा शरीर को एवं ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों की सेवा द्वारा मन को स्वस्थ रखने का

प्रयत्न तो करते हो? अष्टाङ्ग आयुर्वेद में कुशल चिकित्सकगण तुम्हारी शरीर रक्षा के लिए उद्यत तो रहता है? तुम लोभ, मोह और अभिमान के वश होकर वादी और प्रतिवादी के कार्यों की अवहेलना (लापरवाही) तो नहीं कर देते? तुम अपने आश्रित जनों की वृत्ति का उच्छेद तो नहीं करते? तुम्हारे शत्रु राज्यों से धनादि के रूप में रिश्वत लेकर तुम्हारे पुरवासी अथवा राष्ट्रवासी जन संघबद्ध होकर तुम्हारे प्रतिकूल व्यवहार तो नहीं करते? शत्रु राष्ट्रवासी लोग तुम्हारे राष्ट्र-वासियों को धन आदि प्रलोभनों से विमुग्ध कर अपने पक्ष में तो नहीं कर लेते? जो शत्रु तुम्हारे द्वारा पीड़ित हो दुर्बल हो गया है समय पाकर वही शत्रु अपनी सुगुप्त मन्त्रणाओं के बल से बलवान् होकर तुम्हारा विरोध तो नहीं करने लगता? तुम्हारे आश्रित प्रधान राजा लोग तुम में पूर्ण प्रेम तो रखते हैं तथा कार्य उपस्थित होने पर तुम्हारे लिए प्राण देने के लिए तैयार तो रहते हैं? अनेक विद्याओं के पारदर्शी साधु एवं ब्राह्मणगण की उनके गुणों के अनुसार तुम पूजा सेवा तो करते हो? तुम्हारे पूर्वज पितामहादिकों के द्वारा आचरित वेद मूलक धर्म कार्यों का तुम पालन तो करते हो? तुम्हारे घर में ब्राह्मणगण सुसंस्कृत हो सुस्वादु भोजन तो करते हैं? तुम वाजपेय, पुण्डरीक आदि यज्ञ तो करते रहते हो? जाति वालों तथा गुरुजनों, एवं वृद्धवर्ग, देवता तपस्वी और देवालय तथा ब्राह्मणवर्ग को तुम प्रणाम तो करते रहते हो? पूर्व प्रदर्शित नियमानुसार राज्य शासन करने वाला राजा संपूर्ण पृथ्वी का जय करके अशेष सुखों का उपभोग कर सकेगा? किसी भी आर्य-चरित एवं विशुद्धात्मा व्यक्ति को किसी राग द्वेष से प्रेरित हो किसी दुष्कर्म का जबरदस्ती अपराधी ठहरा कर लोभ के वशीभूत विचारकगण दण्ड विधान तो नहीं कर देते? लोभी तथा अशास्त्रज्ञ विचारकगण शुद्ध चरित व्यक्ति को भी मिथ्या अपवाद देकर दण्ड व्यवस्था कर सकते हैं; तुम्हारे राष्ट्र में इस तरह की दुर्व्यवस्था तो नहीं होती? इसके विपरीत वास्तविक दुष्कर्मकारी जनों को राजकर्मचारिवर्ग के द्वारा पकड़े जाने तथा अनेक प्रमाणों द्वारा उनके दोषी प्रमाणित हो जाने पर भी तुम्हारा विचारकगण धन लोभवश उसको छोड़ तो नहीं देते? धनी तथा दरिद्र व्यक्ति के विवाद में तुम्हारा विचारकगण लोभवश धनी व्यक्ति का पक्ष लेकर दरिद्रो के प्रतिकूल व्यवहार तो नहीं करते?

देवर्षि नारद फिर कहते हैं कि हे महाराज युधिष्ठिर! तुम्हारा वेदाध्ययन सफल तो हो सका है? तुम्हारा धन तो सफल हुआ है? तुम्हारा दारपरिग्रह (विवाह) तो सफल हो सका है? तुम्हारी विद्या तो सफल हुई है? इन प्रश्नों के पूछने पर राजा युधिष्ठिर देवर्षि नारद से पूछने लगे कि महाराज! इन चारों चीजों की सफलता कैसे हो सकती है। इसके उत्तर में नारदजी कहते हैं—वेद की सफलता अग्नि होत्रादि वेद विहित कर्मों के करने पर होती है, धन की सफलता दान और भोग से होती है, विवाह की सफलता पुत्रोत्पत्ति एवं पत्नी प्रेम से होती

है, विद्या की सफलता शील तथा सच्चरित्र से होती है। इसके अनन्तर नारदजी राजा युधिष्ठिर से फिर पूछते हैं। हे महाराज युधिष्ठिर! व्यापारी वर्ग दूर देशों से तुम्हारे राष्ट्र के लिए उपयुक्त वस्तुयें लाकर अपना व्यवसाय तो ठीक चलाते हैं? व्यापारियों की लाई हुई वस्तुओं पर यथोचित शुल्क तुम्हारे शुल्काध्यक्ष वसूल तो कर लेते हैं? व्यापारी वर्ग दूर देशों से लाई हुई वस्तुओं में अन्य वस्तुयें मिलाकर अथवा अनुचित मूल्य द्वारा प्रजा जनों की प्रवंचना तो नहीं करते? तुम्हारे यहाँ कृषि विभाग से तथा पशुपालन विभाग से उत्पन्न धान्यादि विक्रेय वस्तुयें और घी, दूध चर्म आदि वस्तुयें अधिक मात्रा में संचित तो रहती हैं? उन संचित वस्तुओं में से धर्मार्थ ब्राह्मणगणों को मधु घृतादि वस्तुएँ प्रदान तो की जाती हैं? तुम्हारे राज्य में शिल्पि वर्ग को शिल्प-कर्म के योग्य वस्तुओं और शिल्पोपकरणों की कमी तो नहीं रहती है? कम से कम वर्षा के चार मासों के लिए शिल्पिवर्ग की अपेक्षित चीजें उनके पास पर्याप्त मात्रा में संचित तो रहती हैं? तुम्हारे राज्य में जो व्यक्ति उत्तमोत्तम कार्यों का अनुष्ठान करते हैं, उनकी तुम खबर तो रखते हो? उत्तम कार्य करने वालों की तुम प्रशंसा तो करते हो? ऐसे सत्कार्य कर्ताओं को सज्जनों में परिगणित कर उनका यथोचित सत्कार तो करते हो? तुम हस्ति विद्या, रथ विद्या आदि विद्याओं के विशेषज्ञों से इन विद्याओं का ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हो? तुम्हारे राज्य में धनुर्वेद विद्या एवं यन्त्र विद्या अच्छी तरह आलोचित तो होती रहती है? यहाँ महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने बन्दूक बनाने की प्रक्रिया को यन्त्रसूत्र कहा है। सब तरह अस्त्रों का प्रयोग एवं आभिचारिक ब्रह्मदण्ड (तान्त्रिक प्रकार से शत्रु का मारण कर देना) तथा शत्रु नाशक विष प्रयोग आदि तो तुमको ज्ञात है? अग्नि भय, सर्प भय, रोग भय आदि से तुम राज्य की रक्षा तो करते हो? अन्धे, गूंगे, लँगड़े और किसी प्रकार से जिनके अंग विकृत हो गये हैं, ऐसे बन्धुहीन जनों की तथा संन्यासिवर्ग की तुम पिता की तरह रक्षा तो करते हो? अधिक निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, अत्यन्त मृदुता, और दीर्घसूत्रता ये ६ दोष तो तुमने परित्याग कर दिये है?

यहाँ तक हमने बाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का एक अध्याय तथा तदनुरूप ही महाभारत के सभापर्वस्थ एक अध्याय की आलोचना की। इन दोनों अध्यायों की समालोचना करने पर ज्ञात हो सकेगा कि इनमें राजनीति के कितने ही विषय दोनों ग्रन्थों में समान हैं। केवल विषय ही एक सा है यही नहीं अपितु भाषा भी एक सी है। इससे जाना जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्यगणों का जो परिपूर्णांग राजनीतिशास्त्र था उसमें से ही रामायण और महाभारत में राजनीति संगृहीत हुई है। और इसीलिये दोनों ग्रंथों के विषयों की समानता देख पड़ती है। इन दोनों ही ग्रंथों में राजनीति प्रकरण में जो सारे

विषय आलोचित हुए हैं उनमें से ही अनेक विषय प्रचलित मनुसंहिता में हैं। प्रचलित मनुसंहिता के सातवें अध्याय में राजधर्म के सम्बन्ध में जो आलोचना है, वह रामायण और महाभारत में भी दीख पड़ती है। रामायण, महाभारत और मनुसंहिता में जो राजधर्म के विषय आलोचित हुए हैं—कौटिल्य अर्थशास्त्र में वे ही समस्त विषय कहीं संक्षिप्त रूप में और कहीं विस्तृत रूप में आलोचित हुए हैं। भगवान् कौटिल्य के शिष्य कामन्दक ने कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्यारूप में जिस नीतिशास्त्र की रचना की थी, वह वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। कामन्दक नीतिशास्त्र का सार संकलन करके उसके कुछ अंश का संग्रह मात्र 'कामन्दकीय-नीतिसार' नाम से प्रचलित है। यह ग्रंथ केवल १६ अध्यायों में विभक्त है। चिरकाल तक राजनीति की आलोचना न हो सकने के कारण इस ग्रंथ का पाठ भी बहुत प्रमाद पूर्ण है एवं इस ग्रंथ की जो टीकायें मिलती हैं वे भी बहुत अस्पष्ट हैं।

रामायण के पूर्वप्रदर्शित अध्याय में भगवान् श्री राम चन्द्र राजनीति शास्त्र के वक्ता एवं महाभारत के पूर्व प्रदर्शित अध्याय में देवर्षि नारद राजनीति शास्त्र के प्रवक्ता कहे गये हैं। बनवासी श्रीरामचन्द्र ने सम्राट् भरत को एवं देवर्षि नारद ने सम्राट् युधिष्ठिर को राजनीति शास्त्र का उपदेश दिया है। वर्तमान समय में हम इस राजनीति की आलोचना सर्वथा अकर्तव्य कार्यों में समझने लगे हैं विशेष कर धार्मिक सत्पुरुषों के लिए तो अधिक गर्हित कार्यों में गिनते हैं। आज हम प्रथम तो रामायण और महाभारत की कथा अधिक सुनते ही नहीं, कदाचित् सुनने को मिल भी जाय तो उसमें राजनीतिशास्त्र की गन्ध भी नहीं रहती है। परवर्ती काल में इस तरह रामायण महाभारत की आख्यायिकायें रची गईं जिनमें राजनीति का स्थान ही नहीं हो सका। राम चरित्र या युधिष्ठिर के चरित्र में कूट राजनीतिशास्त्र का स्थान होना हम भारतीय सभ्यता का कलङ्क समझने लगते हैं। इसका ही फल है कि आज हमारी शोचनीय राष्ट्रिय दुर्दशा उपस्थित हुई है। आज भारत के एक दो बुद्धिमान् व्यक्ति इसका अनुभव करने लगे हैं। कामन्दकीय नीतिसार की "उपाध्याय निरपेक्षानुसारिणी" टीका में टीकाकार ने इस राजनीतिशास्त्र के प्रणेता आचार्यगणों की एक परम्परा प्रदर्शित की है। टीकाकार ने कहाँ से यह आचार्य परम्परा उद्धृत की है, यह नहीं लिखा है। इस टीका के रचयिता के विषय में भी हमें कुछ ज्ञात नहीं हो सका है। केवल यह सोचकर हम टीकाकार की उक्त बातें उद्धृत कर रहे हैं कि प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र के प्रणेतागण जगन्मान्य थे। यदि इस समय भी कोई प्राचीन भारत की दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना करे तो इससे उसके सम्मान की कुछ भी हानि न होगी। टीकाकार ने कहा है कि अति प्राचीन काल में भगवान् ब्रह्माजी ने अपने बुद्धि वैभव से एक लाख अध्यायों का एक विशाल राजधर्मशास्त्र

की रचना की थी। इसके बाद प्रजागण की आयुष्य की कमी को ध्यान में रख कर नारद, इन्द्र, वृहस्पति, शुक्र, भरद्वाज, विशालाक्ष, भीष्म, पराशर एवं मनु प्रभृति महर्षिवर्ग ने उसी ब्रह्मा जी के बनाये एक लाख अध्यायों वाले ग्रंथ का संक्षेप किया है, एवं अन्यान्य महर्षिगणों ने भी उसी तन्त्र का सार संकलन किया है। अन्त में विष्णुगुप्त-कौटिल्य ने इस शास्त्र का ही सार संकलन किया। ब्रह्मा से लेकर विष्णुगुप्त पर्यन्त आचार्यवर्ग ने एक ही दण्डनीतिशास्त्र का वृहत्, मध्यम, संक्षिप्त रूप में संग्रह किया है। हमारे एकान्त दुर्भाग्य से इस राजनीतिशास्त्र का आदर आज लुप्त प्राय हो गया है और इसी से यह संपूर्ण विपुल ग्रंथराशि अधिकांश विस्मृति सागर में निमग्न हो गई। जो अब शेष है उसकी भी यदि विशेष समझदारी के साथ समालोचना की जाये तो पूर्णांग दण्डनीतिशास्त्र का उद्धार आज भी असंभव नहीं। यदि हमारे विद्वत्समाज की दृष्टि इस तरफ आकृष्ट की जा सके तो पूर्ण दृढ़ता से कहा जा सकता है कि वही प्राचीन भारतीय पूर्णाङ्ग अर्थशास्त्र निकट भविष्य में हम लोगों में प्रचलित हो सकेगा। हमारे देश में शिक्षा विभाग के कर्णधार विद्या प्रसार की अभिवृद्धि के लिए आयोजन तो करते हैं, किन्तु विशेष खेद की बात यह है कि जिस शास्त्र की आलोचना से देश की सब प्रकार की समृद्धि बढ़ सके एवं जिसके अभाव में देश की समृद्धि नष्ट हो जाय उस शास्त्र (नीतिशास्त्र) की आलोचना के लिए कोई एक बात भी कभी नहीं कहता।

चतुर्थ अध्याय

अर्थशास्त्र के अनादर का कारण

बहुत दिनों से भारतवर्ष में भारतीय विद्वत्समाज दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना से क्रमशः अधिकतर शिथिल-समादर होता चला आ रहा है। यद्यपि रामायण महाभारत आदि प्राचीन आर्य ग्रंथ दण्डनीति की आलोचना से सर्वथा परिपूर्ण देखे जाते हैं, किंतु इसके अनन्तरवर्ती ग्रंथों में क्रमशः इस शास्त्र की आलोचना उत्तरोत्तर क्षीण ही होती चली गई। हमने आदिकाव्य रामायण के एक ही अध्याय की समालोचना पूर्वपरिच्छेद में दिखाई है; इसी प्रकार युद्धकाण्ड का १६ वाँ १८ वाँ २७ वाँ २९ वाँ ३५ वाँ एवं ६३ वाँ अध्याय हैं। जिन पर विचार करने पर दिखाई पड़ेगा कि आदिकाव्य रामायण राजनीतिशास्त्र की आलोचना से सर्वथा परिपूर्ण है। इस शास्त्र की आलोचना से ही यह आदिकाव्य रामायण भारत का समुज्ज्वल रत्न रहा है। भारत का यह सुविशाल आदिकाव्य दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना से परिपूर्ण होने के कारण काव्य की असाधारण गौरव वृद्धि का और प्राचीन आर्य जाति की सुमार्जित अभिरुचि का परिचय देता है। इसके बाद के रघुवंश, किरातार्जुनीय, माघ आदि काव्यों में भी इस राजनीति शास्त्र की आलोचना सर्वथा उपेक्षित नहीं हुई है, किन्तु बारहवीं शताब्दी में बने हुए नैषधचरित आदि काव्यों से लेकर आज तक के बने हुए सभी काव्यों में राजनीतिशास्त्र की आलोचनायें काव्य के शोभावर्धक नहीं समझी गई। काव्य शोभा वर्धक नहीं समझा गया इतना ही नहीं, प्रत्युत इसके विपरीत इस प्रकार की आलोचना काव्य की उत्कर्ष हीनता का कारण समझी जाने लगी।

भारतीय आर्यगणों के शौर्य, वीर्य, पराक्रम एवं दूरदर्शिता आदि सद्गुण-राशि ज्यों ज्यों क्रमशः म्लान होती चली गई त्यों त्यों सिन्धुनद का पश्चिम तट आर्यो के हाथ से निकलता गया। म्लेच्छगणों ने सिन्धुनद के पश्चिम तट की सारी भूमि सर्वतोभावेन अपने अधिकार में करली, जिस भूमि में किसी समय श्री भरत जी के पुत्र पुष्कर ने पुष्कलावत नाम की राजधानी स्थापित की थी जो सिन्धुनद के पश्चिम तट पर थी। इसी तरह श्री भरत जी के द्वितीय पुत्र तक्ष ने सिन्धुनद के पूर्वतटवर्ती प्रदेश में तक्षशिला नाम की नगरी बसाई, जिस तक्षशिला में भारत सम्राट् जनमेजय ने सर्पयज्ञ करके भगवान् वैशम्पायन से सब से प्रथम महाभारत सुना था। यह संपूर्ण पवित्र भूमि आर्यों के तेज एवं पराक्रम के क्षीण हो जाने से आर्यों के हाथ से निकल गई। इस समय का भारतीय

पण्डित समाज राजनीतिशास्त्र की चर्चा करने में इतना हतादर हो गया था कि प्रसङ्ग प्राप्त होने पर भी राजनीतिक विषयों से सर्वथा दूर रहने लगा। इतना ही नहीं बल्कि इस शास्त्र की आलोचनाओं को निन्द्य कार्यों में परिगणित करने लगा। इस समय में जो काव्य ग्रंथ रचे गये उनमें केवल नायक नायिकाओं का प्रेम कीर्तन कराना ही काव्य का चरम उद्देश्य समझा गया एवं सिद्धान्त सा होता चला गया।

इस समय रामायण महाभारत आदि ग्रंथों का गौरव समझ लेने का सामर्थ्य भी नष्ट प्राय हो गया था। शृंगार रस की आलोचना में जिसने जितनी एक दूसरे से अधिक मृषा कल्पनायें कीं वह उतना ही उस समय के विद्वत्समाज में प्रसिद्धि प्राप्त कर सका। शृंगार रस की आलोचना का इतना अधिक प्रसार होने पर भी परकीया प्रेम की सृष्टि नहीं हो पाई थी, स्वकीया के प्रेम पाश में आबद्ध होने तक ही शृंगार रस सीमित रहा। किन्तु इसके परवर्ती काल में यह स्वकीया की मर्यादा भी नष्ट हो गई। संस्कृत साहित्य में भी परकीया का साहित्य रचा जाने लगा। जिस साहित्य का प्रचार निर्वाध रूप से आज वर्तमान समय में दिखाई पड़ रहा है। इस प्रचलित परकीया प्रेमालाप के साहित्य से भारतीय जनता के शौर्य वीर्य आदि मानवोचितगुणों की अभिवृद्धि कहाँ तक संभव है इसको पाठक स्वयं विचार लें। इस साहित्य की आलोचना ज्यों ज्यों बढ़ने लगी त्यों त्यों आर्य जाति का तेज वीर्य क्रमशः नष्ट होकर आर्य जाति को नितान्त क्लीव बनाता गया। अति तुच्छ ग्राम्यधर्म (स्त्री पुरुष संयोग) की आलोचना में जो जाति निरंतर निरत रहेगी उस जाति का अधःपतन अवश्यम्भावी है। बारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक इस भारतवर्ष में संस्कृत साहित्य, प्राकृत साहित्य, देशीय भाषा का साहित्य, सभी का एकमात्र आलोच्य विषय हुआ नायक-नायिका का प्रेमालाप। किन्तु स्वाधीन भारत के प्रधान काव्य रामायण तथा महाभारत पर दृष्टिपात करने से हमको ज्ञात हो सकेगा कि मानव समाज और मानवता के लिए प्रेमालाप के अतिरिक्त और भी अनेक आलोच्य विषय अपेक्षित है। हमने रामायण के सम्बन्ध में पूर्व कुछ आलोचना की है किन्तु महाभारत की आलोचना करने पर इस राजनीतिशास्त्र की सुविशाल परिव्यापकता और भी सुस्पष्ट रूप से अवगत हो सकेगी। जो राजनीतिशास्त्र भारतीय सभी विद्याओं में श्रेष्ठतम था, वह विद्या क्रमशः कैसे उच्छिन्न हो गई—इसकी कुछ आलोचना हम यहाँ करेंगे। भारतीय विद्वत्समाज की रुचि परिवर्तित होने से किस प्रकार यह शास्त्र अनालोच्य समझा जाने लगा इसका भी कुछ आभास हम यहाँ देंगे।

न्यायसूत्र के भाष्यकार भगवान् वात्स्यायन न्यायसूत्र के भाष्य में कहते हैं—'तदिदं तत्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमश्च यथाविद्यं वेदितव्यम्' (न्यायभाष्य ६५ पृष्ठ कलकत्ता संस्करण)। इसका अभिप्राय यही है कि भगवान् अक्षपाद प्रमाणादि

१६ पदार्थों का तत्वज्ञान होने से निःश्रेयस (परम कल्याण) प्राप्त हो सकेगा ऐसा मानते हैं। इस अक्षपाद के वाक्य की व्याख्या करते हुए भगवान् भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि प्रत्येक विद्या में ही तत्वज्ञान एवं निश्रेयस प्राप्ति भिन्न भिन्न रूप में समझनी होगी। इसी भाष्य की व्याख्या में वार्तिककार उद्योतकर ने जो पाँचवीं शताब्दी में वर्तमान थे कहा है कि प्रत्येक विद्या में ही तत्वज्ञान है और निःश्रेयस प्राप्ति भी है। त्रयी, वार्ता, दण्डनीति और आन्वीक्षिकी—ये चार विद्यायें हैं। वेद विद्या को 'त्रयी विद्या' कहते हैं। त्रयी विद्या में अग्निहोत्रादि कर्मों के क्रमिक अंग आदि का परिज्ञान ही तत्वज्ञान एवं किस प्रकार कर्म करने पर कर्म सफल होगा और कर्त्ता को किस प्रकार कर्म करने पर प्रत्यवाय न होकर कृत कर्म के फल की प्राप्ति हो सकेगी इत्यादि बातों का पूर्ण परिज्ञान ही तत्वज्ञान और उस कर्म के सम्यक् सम्पादन से स्वर्ग-प्राप्ति रूप निःश्रेयस की उपलब्धि होती है। इसी तरह वार्ताशास्त्र में भी भूमि आदि की श्रेष्ठता का परिज्ञान ही तत्वज्ञान, किस भूमि में अन्नादि अच्छी तरह उपत्न्न हो सकेगा, किस भूमि में न हो सकेगा, किस प्रकार खाद आदि देने पर जमीन की ऊर्वरता बढ़ सकेगी इसके विपरीत कारणों से ऊर्वरता न बढ़ सकेगी इत्यादि परिज्ञान ही को वार्ताशास्त्र का तत्वज्ञान कहा जाता है। जिसमें कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन प्रभृति धनोपार्जन साधनों द्वारा मानव समाज की जीवन यात्रा के उपयोगी धनोपार्जन का क्रम बताया जाय उस शास्त्र को वार्ताशास्त्र कहा जाता है।

हमने महाभारत के जिस अध्याय की पूर्व आलोचना की है उसमें भी कहा गया है कि "वार्तायां संश्रितस्तात ! लोकोऽयं सुखमेधते" अर्थात् वार्ताशास्त्र के नियमादिकों को जानकर तदनुकूल आचरण करने पर संसार सुखपूर्वक समय बिता सकता है। सुतरां वार्ताशास्त्र में पृथ्वी आदि का परिज्ञान ही तत्वज्ञान है और खेती आदि द्वारा धनादि लाभ ही निःश्रेयस है। इसी तरह दण्डनीति विद्या में साम, दान, भेद, दण्ड आदि उपायों में काल देश और शक्ति की अनुकूलतादि जान कर उनका उचित प्रयोग करने का ज्ञान ही तत्वज्ञान एवं पृथ्वी की जय ही निःश्रेयस होता है। आन्वीक्षिकी—अध्यात्मविद्या में आत्मादि का ज्ञान ही तत्वज्ञान एवं निःश्रेयस मोक्ष होता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के विद्योद्देशप्रकरण में—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीति ये चार विद्यायें बतलाई गई हैं एवं इनके अलग अलग प्रतिपाद्य विषयों का भी निरूपण किया गया है। जैसे त्रयी विद्या में धर्म और अधर्म वार्ताविद्या में अर्थ और अनर्थ दण्डनीति विद्या में नीति और दुर्नीति एवं आन्वीक्षिकी विद्या पुरुष की प्रज्ञा, वाक्य और क्रिया की निर्मलता सम्पादन करती है। विपत्ति और सम्पत्ति में पुरुष की बुद्धि को स्वस्थ और अविकृत रखती है, और त्रयी आदि तीनों विद्याओं का बलाबल हेतु द्वारा निरूपित होने पर संसार का उपकार होता है; यह आर्य चाणक्य ने कहा है। इसी विद्योद्देश प्रकरण में

कहा गया है कि मनु के शिष्य वर्गों ने त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये तीन ही विद्यायें मानी हैं, आन्वीक्षिकी को त्रयी के अन्तर्गत माना है। वृहस्पति के अनुयायियों ने वार्ता और दण्डनीति दो ही को विद्या कहा है, त्रयी को लोक संवरण कहा है। त्रयी अलग कोई विद्या नहीं है ऐसा कहने पर त्रयी के अंतर्गत आन्वीक्षिकी भी कोई अलग विद्या नहीं रह जाती। शुक्राचार्य की शिष्य परम्परा में दण्डनीति ही एकमात्र विद्या कही गई है। अन्य त्रयी, वार्ता आदि विद्यायें दण्डनीति में ही प्रतिष्ठित हैं। दण्डनीति अन्य तीनों विद्याओं का योगक्षेम साधन मात्र है, अर्थात् रक्षक है ऐसा कहा है। किन्तु कौटिल्य ने चार विद्यायें मानी है।

भगवान् मनु ने अपनी संहिता के सप्तमाध्याय में इन चारों ही विद्याओं की बात कही है। मनु कहते हैं "त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः" ।। (७।४३ श्लोक)। इसका अर्थ है, तीनों वेदों के जानने वाले द्विजाति से ऋक्, यजुः, और साम ये तीन वेद अध्ययन करे। अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों से अर्थशास्त्र का अभ्यास करे। तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्या ही आन्वीक्षिकी कहलाती है, उसको उस शास्त्र के रहस्यज्ञ ब्राह्मणों से नियमानुरूप पढ़े। कृषि, वाणिज्य, पशुपालनादि जो धनोपार्जन के उपाय हैं उनके प्रतिपादक शास्त्र को वार्ताशास्त्र कहते हैं। इस शास्त्र को इसके अभिज्ञ कृषक, वैश्य आदिकों से सीखे। याज्ञवल्क्यस्मृति के राजधर्म प्रकरण में कहा है कि राजा को आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों ही विद्याओं में पूर्ण निष्णात होना चाहिये (याज्ञ० आचार-अध्याय ३११ श्लोक)। महाभारत के राजधर्मानुशासन के सूत्राध्याय, (५९ अध्याय) में कहा गया है कि "त्रयीचान्वीक्षिकी चैव वार्तांच भरतर्षभ। दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निर्दशिताः ।।" (३३ श्लोक) महाभारत आदि प्रामाणिक ग्रंथों में जो चार विद्याओं की बात कही गई है आगे चलकर इस सम्बन्ध में विशेष मतभेद हो गये। याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय के तृतीय श्लोक में पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदि ६ वेदांग और ४ वेद इन चौदहों को विद्या एवं धर्म का स्थान कह कर निर्देश किया गया है। १४ विद्याओं का निर्देश रहने पर भी वास्तव में आन्वीक्षिकी और त्रयी इन दो ही विद्याओं को चौदह भागों में विभक्त किया गया है। दण्डनीति और वार्ता, ये चौदह विद्याओं के अन्तर्गत नहीं मानी गई। इस लिए ये दोनों (दण्डनीति और वार्ता) धर्म और विद्या का स्थान नहीं हो सकते—अर्थात् दण्डनीति और वार्ता ये दोनों विद्यास्थान से पृथक् हैं।

यद्यपि न्यायभाष्य और उसके वार्तिक में चार विद्यायें ही मानी गई है, तथापि नौवीं शताब्दी में विद्यमान काश्मीर के नैयायिक जयन्तभट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी के प्रारंभ में कहा है कि न्यायभाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ही ने चार विद्यायें क्यों मानी जब कि धर्मशास्त्रकार याज्ञवल्क्य ने चौदह विद्यायें कही हैं और

चौदह कहकर भी फिर वास्तविक रूप में त्रयी और आन्वीक्षिकी ये दो ही विद्यायें मानीं। सुतरां धर्मशास्त्रकार के साथ न्यायभाष्यकार का विरोध आता है। इस तरह शंका करके जयन्तभट्ट इसका समन्वय करते हुए कहते हैं कि चौदह ही विद्यायें होनी उचित है, चार नहीं, क्योंकि वार्ता और दण्डनीति ये तो दोनों दृष्ट प्रयोजन हैं; इन दोनों का अदृष्ट प्रयोजन हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्षतः इनका उपयोग होने पर लौकिक सुखोपलब्धि होती है। त्रयी और आन्वीक्षिकी में संपूर्ण पुरुषार्थों का उपदेश है। सुतरां संपूर्ण पुरुषार्थोपदेशक शास्त्र ही विद्यावर्ग में परिगणित होने के कारण वार्ता और दण्डनीति की गणना विद्यावर्ग में नहीं हो सकती। अतः त्रयी और आन्वीक्षिकी इन दोनों विद्याओं को चौदह भागों में विभक्त करके जो कुछ कहा गया है वही ठीक है।

यहाँ विशेष लक्ष्य करने की बात यही है कि न्यायभाष्यकार और उनके वार्तिककार ने जिनको विद्या माना, उसको उन्ही के मतानुयायी किंतु परवर्ती जयन्तभट्ट ने अनायास ही उनकी समर्थित विद्याओं का निराकरण करके दण्डनीति और वार्ताशास्त्र को विद्याविभाग से बहिष्कृत कर दिया है। ऐसा क्यों किया इसका कारण सुस्पष्ट है। उत्कट परलोक साधना ने उनको इतना विमुग्ध कर दिया कि जिन विद्याओं से साक्षात् रूप में ऐहिक तथा परम्परा भाव से पारलौकिक साधना रक्षित हो सके, ऐसी दण्डनीति और वार्ताशास्त्र उपेक्षित विषय हो गया था। क्योंकि दण्डनीति तथा वार्ताशास्त्र दोनों ही साक्षात् परलोक साधक नहीं कहे जा सकते। यद्यपि जयन्तभट्ट काश्मीर के राजा शंकरवर्मा के सुशासित राज्य में रहते थे एवं उस सुशासन के कारण ही काश्मीर प्रदेश अनेक विद्वज्जनों से परिपूर्ण था, एवं इसी से जयन्तभट्ट वहाँ रहकर असाधारण पाण्डित्य प्राप्त कर सके थे। केवल पारलौकिक फल प्राप्ति की उत्कट तृष्णा के कारण ही दण्डनीतिशास्त्र की सर्वथा उपेक्षा कर देने में उन्होंने हिचकिचाहट नहीं की।

मनुसंहिता के सप्तम अध्याय के ४३ वें श्लोक में भगवान् मनु ने त्रयी, दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और वार्ता इन चार विद्याओं का उल्लेख किया है। मनु ने चौदह विद्याओं का उल्लेख नहीं किया है। मनुसंहिता के राजधर्म प्रकरण में राजा के शिक्षणीय रूप में इन्हीं चारों विद्याओं का निर्देश मिलता है। मनुसंहिता के भाष्यकार मेधातिथि ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि चाणक्य आदि के शास्त्रों के विशेषज्ञों से राजा दण्डनीतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करे। इस प्रसङ्ग में वे आगे कहते हैं कि चाणक्य आदि के शास्त्र परिशीलन के बिना भी दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय सभी जान सकते हैं, क्योंकि दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय अलौकिक नहीं है वह लौकिक है। मात्र लौकिक विषयों को जानने के लिए शास्त्र की अपेक्षा नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक से ही वे जानी जा सकती हैं। जैसे सोना, बैठना, खाना आदि लौकिक व्यवहार जानने के

लिए किसी को भी शस्त्र की आवश्यकता नहीं होती अन्वय व्यतिरेक से ही सब ज्ञात हो जाता है। ऐसे ही दण्ड शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों को भी शास्त्रोपदेश के बिना सब जान सकेंगे। मेधातिथि की इन सब उक्तियों से जाना जा सकता है कि केवल पारलौकिक विषयों को जानने के लिए ही शास्त्र की अपेक्षा होती है, ऐहिक विषयों को जानने के लिए शास्त्र की अपेक्षा नहीं है। मेधातिथी की यह उक्ति जयन्तभट्ट की उक्ति के अनुसार ही है। ऐसा भी भारत का समय आया, जिस समय संपूर्ण पुरुषार्थों के रक्षक और आश्रयभूत दण्डनीतिशास्त्र के प्रति भारतीय पण्डितगणों की उपेक्षा देखी जाने लगी।

हम महाभारत और रामायण की उक्तियों से अच्छी तरह दिखा चुके हैं कि दण्डनीतिशास्त्र ही संपूर्ण विद्याओं का अवलम्बन है इसके विनाश से ही सर्वनाश संभव है। इसी से मेधातिथि अपने भाष्य में इस तरह कह गये हैं कि दण्डनीतिशास्त्र का अध्ययन करने पर अज्ञजनों को बोध और विज्ञजनों को संवाद हो सकेगा। सुतरां अज्ञों के बोधन के लिए तथा बुधजनों की सहमति या संवाद के लिए दण्डनीतिशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। यह दण्डनीतिशास्त्र अनायास या सहज बोध्य नहीं है, यह बात हम आज विशेष रूप से समझ सकते हैं? कितने पुराने समय में कौटिलीय अर्थशास्त्र संकलित हुआ है किन्तु उसपर कोई भी समीचीन व्याख्या ग्रंथ नहीं लिखा जा सका। आज कोई प्राचीन व्याख्या न होने के कारण यह ग्रंथ सर्वथा दुरवबोध हो गया है। इस शास्त्र के रहस्य का निर्णय आज कठिन से कठिनतर होता चला जा रहा है। इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण यदि इतना सहज होता तो इसके अनेक व्याख्या ग्रंथ आज उपलब्ध होते एवं व्याख्या ग्रंथों के बिना भी आज हम इसके रहस्यों का निश्चय कर पाते। इस दण्डनीतिशास्त्र का ज्ञान आज जनता को प्रायः नहीं सा है। इसलिये इस शास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति भी इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों को लेकर अनेक झूठी समालोचनायें करे, इससे अधिक भारत के दुर्दिनों की शोचनीयता क्या होगी।

यहाँ हमको विशेष खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि सातवीं शताब्दी में जब एक श्रेष्ठ राजा हर्षवर्धन भारत में एकाधिपत्य राज्य करते थे, उनकी सभा में महाकवि बाणभट्ट अपनी असाधारण कवित्व शक्ति के प्रभाव से अधिक समादृत हुए थे। इन महाकवि ने कादम्बरी नाम का एक गद्य महाकाव्य निर्माण किया। कादम्बरी के पूर्वार्द्ध में मन्त्री शुकनास का उपदेश अधिक प्रसिद्ध है। मन्त्रिप्रवर शुकनास ने युवराज चन्द्रापीड़ को अनेक बहुमूल्य उपदेश दिये हैं। ये बहुमूल्य उपदेश काव्यत्व की छटा से और भी अधिक समुज्वल हो गये हैं, किन्तु इन बहुमूल्य समुज्वल उपदेशों में भी अनेक बातें ऐसी आ गई हैं कि जिनसे ज्ञात होता है कि महाकवि बाणभट्ट के समय में ही दण्डनीतिशास्त्र के प्रति लोगों की अश्रद्धा पैदा हो गई थी। मन्त्री शुकनास कहते हैं जिनको कौटिल्य

अर्थशास्त्र ही प्रमाण है—जिस कौटिल्य अर्थशास्त्र में अतिनृशंसप्राय अनेक उपदेश दिये गये है, अतः इस शास्त्र के अनुसार चलने वाले व्यक्तियों के लिए दुष्कार्य क्या हो सकता है ? इस शास्त्र के अनुसार मारण क्रिया में अति निपुण क्रूर प्रकृति पुरोहित वर्ग ही राजा का गुरु हो सकेगा। दूसरों के निग्रह में सर्वदा निरत रहने वाला मन्त्रिगण ही इस राजा का उपदेष्टा हो सकेगा। वे पिछले अनेक राजाओं से भोग कर छोड़ी हुई राजलक्ष्मी में ही राजा की आसक्ति पैदा करेंगे। शत्रुओं के विनाश के लिए ही राजा शस्त्राभ्यास करेगा एवं स्वाभाविक प्रीति सम्पन्न भ्रातृगण ही राजा के लिए उच्छेद्य होगा।

इन सम्पूर्ण उपदेशों के द्वारा अर्थशास्त्र के प्रति अवज्ञा ही दिखाई गई है। केवल अवज्ञा ही नहीं दिखाई गई अपितु भारतीय राजगणों की स्वाधीनता का मूल शिथिल किया गया है। वैराग्य सम्पन्न राजा कभी भी राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। महाराज हर्षवर्द्धन का जो ऐश्वर्य बाणभट्ट ने दिखाया है वह ऐश्वर्य निश्चय ही हर्षवर्द्धन को उनके वैराग्य द्वारा प्राप्त नहीं हुआ था। भारतीय राज-गणों के चित्त को दण्डनीतिशास्त्र से विरक्त करने में इन्हीं उपदेशों ने सहायता की है। सातवीं शताब्दी से पहले किसी भी मन्त्री ने राजा अथवा युवराज को दण्डनीतिशास्त्र से विरक्त होने का कभी कोई उपदेश नहीं दिया। भारतवासी जब स्वाधीनता का उपयोग सुख जानते थे उस समय उनका चित्त कभी भी दण्ड-नीतिशास्त्र से विमुख नहीं होता था। भारतवर्ष में जब बौद्ध मत की बाढ़ सी आ गई उसके फलस्वरूप भारतीय जनता में अस्वाभाविक रूप से एक अद्‌भुत असामयिक वैराग्य उत्पन्न हो गया, जिसके प्रभाव से बुद्धिमान् लोग भी इस तरह के वैराग्य का समर्थन करना ही अपना विशेष कर्त्तव्य पालन समझने लगे थे। ऐतिहासिक लोगों का कहना है कि राजा हर्षवर्द्धन के बाद उसके समान प्रतापशाली राजा भारत में पैदा नहीं हुआ। सातवीं शताब्दी के बाद भारत के छोटे छोटे प्रदेशों में छोटे छोटे राजा लोग आपस में रात दिन लड़ाई झगड़ों में निरत रहने लगे, जिससे भारत के अधःपतन का मार्ग प्रशस्त हो गया।

किन्तु छठीं शताब्दी में महाकवि दण्डी ने जिन्होंने दशकुमार चरित नामक गद्य-काव्य रचा उसके अष्टम उच्छ्‌वास में नीतिशास्त्र की आवश्यकता का विशद रूप में वर्णन किया है। राजा को दण्डनीतिशास्त्र की विशेषज्ञता क्यों आवश्यक है, और दण्डनीतिशास्त्र का परिज्ञान न होने से तथा उसके प्रतिपादित उपायों का उपयोग न कर सकने पर राष्ट्र किस तरह से नष्ट हो जाता है, यह बात महा-कवि दण्डी ने एक सुन्दर आख्यायिका द्वारा वर्णित की है। एवं अन्य विद्याओं के अभ्यास में लगे रहने वाले लोग दण्डनीतिशास्त्र की उपेक्षा करके किस प्रकार राष्ट्र का अधःपतन कर देते हैं, इसका भी एक सुन्दर चित्र इसी अष्टम उच्छ्‌वास में दिखाया गया है। महाकवि दण्डी ने कहा है कि विदर्भ देश में पुण्यवर्मा नामक

एक राजगुणभूषित श्रेष्ठ राजा था। उसके बाद उसका पुत्र अनन्तवर्मा राजा हुआ। यह राजा अनेक गुण सम्पन्न होते हुए भी दण्डनीतिशास्त्र से सर्वथा परङ्मुख था। राजा को दण्डनीतिशास्त्र से उपरत देखकर उसके वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित ने उसको दण्डनीतिशास्त्र का उपदेश दिया। अनन्तवर्मा के पिता पुण्यवर्मा वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित का बहुत सम्मान करते थे। वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित राजा अनन्तवर्मा से कहते हैं "तुम अनेक गुण सम्पन्न हो एवं तुम्हारी बुद्धि भी अति प्रखर है। नृत्य, गीत, चित्रकला, काव्य रचना आदि—ललित कलाओं में तुम्हारी असाधारणता है। तथापि तुमने जो दण्डनीतिशास्त्र में परिश्रम नहीं किया है, इसलिये तुम्हारी बुद्धि विशुद्ध नहीं हो सकी है। जो राजा दण्डनीतिशास्त्र द्वारा बुद्धि को सुमार्जित नहीं कर पाता वह राजा बुद्धिहीन कहलाता है। दण्डनीतिशास्त्र में बुद्धिहीन राजा अति समृद्ध होने पर भी शत्रुराजाओं के द्वारा किस प्रकार अवनमित होता है यह उसकी समझ में नहीं आता। वह नहीं समझ सकता कि किस कर्म से राष्ट्र का कल्याण होगा और किससे अकल्याण। राष्ट्र का शुभाशुभ न समझ सकने वाला दण्डनीतिशास्त्रानभिज्ञ राजा जो जो कार्य करेगा उन उन कार्यों में उसको अपने पक्ष वालों से तथा विपक्षी गणों से अनेक बाधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। स्वपक्षीय तथा विपक्षियों से अवज्ञात राजा का आदेश प्रजागण के लिए कल्याण साधक नहीं हो सकता। नीतिज्ञान हीन राजा का आदेश न मान कर प्रजा यथेच्छ व्यवहार कर सकती है और इससे राष्ट्र की स्थिति अति भयानक हो सकती है। राष्ट्रवासी प्रजा जब मर्यादा शून्य व्यवहार करने पर तत्पर हो जाती है तो वह अपने तथा राजा के विनाश का कारण हो जाती है। दण्डनीति लोक स्थिति को सुव्यवस्थित रखने के लिए परमावश्यक है। दण्डनीति के अनुसार यथोचित उपायों के अनुष्ठान करने पर लोकयात्रा सुचारु रूप से सम्पन्न होती है। राष्ट्र के भूत, वर्तमान एवं भविष्य तथा दूरवर्ती राष्ट्रों की यथार्थ स्थिति को जानने के लिए दण्डनीतिशास्त्र ही अप्रतिहत चक्षु है। इस नीति चक्षु से विवर्जित राजा विशाल चर्मचक्षुओं के होते हुए भी राष्ट्रिय विषयों का निश्चित अवधारण न कर सकने के कारण अन्धा ही कहा जा सकता है। इसलिए हे राजकुमार! तुम नृत्य गीत आदि ललित कलाओं की विशेष अभिरुचि को छोड़ कर अपनी कुल विद्या दण्डनीति का अभ्यास करो। इस विद्या का पूर्ण अभ्यास करके इसके अनुसार कार्य करने पर राजशक्ति की अभिवृद्धि होगी, कहीं भी तुम्हारा पराजय न हो सकेगा, एवं तुम चिरकाल तक इस पृथ्वी के शासक रह सकोगे।"

वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित ने नये राजा अनन्तवर्मा को जैसा उपदेश किया है ऐसा ही उपदेश प्रसिद्ध काव्य कादम्बरी में युवराज चन्द्रापीड़ को वृद्ध मन्त्री शुकनास ने किया है। शुकनास के उपदेश का कुछ अंश हम इसके पूर्व दिखा चुके हैं।

इन दोनों उपदेशो में इतना ही वैलक्षण्य है कि छठी शताब्दी में महाकवि दण्डी द्वारा निर्दिष्ट मन्त्री के उपदेश में दण्डनीति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा प्रतिपादित हुई है एवं सातवीं शताब्दी में महाकवि वाणभट्ट के द्वारा वर्णित मन्त्री शुकनास के उपदेश में नीतिशास्त्र के प्रति नितान्त अवज्ञा प्रदर्शित की गई है। इसी दण्डनीतिशास्त्र की अवज्ञा का फल है कि आज तक भारत में दण्डनीति के प्रति अवज्ञा ही चल रही है एवं भारतीय जनता के हृदय से राष्ट्रिय चेतना क्रमशः लुप्त होती जा रही है। हम यहाँ एक बात विशेष दुःख के साथ कहने के लिए बाध्य हैं कि मैसूर रियासत के संस्कृत पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष शामशास्त्री बी. ए. महोदय ने सर्वप्रथम कौटिल्य अर्थशास्त्र का सम्पादन किया है। शास्त्री महोदय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है कि महाकवि दण्डी ने अपने ग्रंथ में अर्थशास्त्र की अत्यन्त उपेक्षा दिखाई है। (शामशास्त्री विरचित कौटिल्य अर्थशास्त्र की भूमिका पृ० ६-७)। दण्डी विरचित दशकुमार चरित के अष्टम उच्छ्वास के वाक्यों को उद्धृत करके शास्त्री महाशय ने इसकी सत्यता प्रमाणित करने की चेष्टा की है। हमारे विचार से शास्त्री महोदय को यहाँ अवश्य भ्रान्ति हो गई है। महाकवि दण्डी ने अर्थशास्त्र की अवज्ञा प्रदर्शित नहीं की, प्रत्युत वृद्ध मंत्री वसुरक्षित द्वारा नवाभिषिक्त राजा अनन्तवर्मा को दिये गये उपदेशों से अर्थशास्त्र के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा प्रदर्शित की है। राजा के मुँहलगे अत्यन्त चाटुकार विहारभद्र नामक व्यक्ति ने राजा को विलासिता के व्यसन में फँसा कर राजा के सर्वनाश की चेष्टा की है। इसके लिए जो असत् बातें विहारभद्र ने कही हैं, उनमें ही दण्डनीति की निन्दा की गई है। शास्त्री महोदय ने उक्त ग्रंथ के उक्त स्थल को पढ़ते समय वक्ता एवं बोद्धव्य का ध्यान न करके ऐसी असत् कल्पना कर डाली है। वक्ता एवं बोद्धव्य का निरूपण बिना किये केवल ग्रंथ में होने मात्र से ही यदि ग्रंथकार के तात्पर्य का निर्णय किया जावे तब तो ऐसे अनेक वक्तव्य रामायण आदि ग्रंथों में देखे जाते हैं जिनको द्वारा वाल्मीकि आदि महर्षियों का दुष्कार्य में प्रवृत्त कराने का समर्थन मिलेगा। जैसे रामायण में ही युद्धकाण्ड के तेरहवें अध्याय के चतुर्थ श्लोक में मन्त्री महापार्श्व राक्षसराज रावण से कहता है कि हे राक्षसराज! तुम ही सबके स्वामी हो तुम्हारा स्वामी और कोई नहीं इसलिए हे शत्रुघातिन्! तुम सीता के साथ यथेच्छ क्रीड़ा करो यदि सीता तुम्हारे साथ रमण करना स्वीकार न करे तो तुम बलपूर्वक कुक्कुटवृत्ति अवलम्बन कर, बार बार सीता पर आक्रमण कर सीता का उपभोग करो। इससे क्या यह समझा जा सकता है कि वाल्मीकि ने परस्त्री धर्षण का परामर्श दिया है? इस वाक्य का वक्ता महादुष्ट राक्षस महापार्श्व है और श्रोता क्रूरबुद्धि राक्षसराज रावण है; यहाँ भी यदि सद्वृत्ति आलोचित हो तो सज्जन और दुर्जन का कोई भेद ही न रह जायेगा।

शास्त्री जी को जिस स्थल में भ्रान्ति हुई है वह स्थल ही हमने यहाँ उद्धृत

किया है, जिससे स्वयं पाठकों को इसका निर्णय हो जावेगा। जैसे महापार्श्व ने रावण को उपदेश दिया है इसी तरह विहारभद्र ने भी राजा अनन्तवर्मा को उपदेश दिया है। विहारभद्र के उपदेश में ही दण्डनीति की निन्दा प्रदर्शित हुई है। यदि अनन्तवर्मा अपने पिता की तरह सर्व राजगुणों से सम्पन्न होता तो विहार भद्र सरीखे व्यक्तियों का अड्डा वहाँ कैसे जमता? बड़े लोगों को इस तरह दुर्व्यसनों में बिना फँसाये ऐसे दुष्ट सदस्यों के धनोपार्जन का क्या रास्ता था? चिरकाल से एक ही नीति चली आती है कि प्रबलनीति ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति ऐसे चाटुकार व्यक्तियों के द्वारा उद्भावित मार्गों से कभी नहीं चलते किन्तु साधारण ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति ऐसे चाटुकारों की बातों में सदा से फँसते चले आये हैं, आज भी फँसते हैं, और भविष्य में भी फँसेंगे।

दशकुमार चरित की आलोचना का विषय इस प्रकार है। वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित का उपदेश सुनकर नूतन राजा अनन्तवर्मा मन्त्री से कहने लगा कि आप मेरे गुरु स्थानीय हैं, आपने उपयुक्त उपदेश दिया है, आपके उपदेशानुसार मैं कार्य करूँगा। इस तरह कह कर नया राजा अनन्तवर्मा अन्तःपुर में चला गया और वहाँ बातचीत के प्रसङ्ग में अन्तःपुर की रानियों के सामने इसने वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित के उपदेशों की पूरी बातें कह दीं। राजा अनन्तवर्मा जिस समय मन्त्री वसुरक्षित के उपदेशों की बात अपनी रानियों से कह रहे थे उसी समय राजा के अन्तःपुर में रहने वाला अत्यन्त चाटुकार एवं राजा की तबीयत खुश करके अपनी जीविका चलाने वाला, और राजा के अन्तरङ्गों में प्रसिद्ध होने के कारण राज मन्त्रियों से भी उत्कोच ले लेने वाला, तथा राजा को सब प्रकार की दुर्नीति सिखाने वाला एवं राजा के काम विलास का प्रदर्शक, विहारभद्र नामक राजा के अन्तःपुर का सेवक मन्द मुस्कान करके राजा से कहने लगा, "महाराज यदि कोई दैवानुग्रह से विपुल ऐश्वर्य प्राप्त कर ले तो उसको धूर्त व्यक्ति मिल कर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्रलोभन वाक्यों से विडम्बित कर देते हैं। इनमें से कुछ लोग तो वे हैं जो वैदिक कर्मों के अभिज्ञ कहला कर प्रसिद्ध हैं। ये लोग धनियों में परलोक में परम कल्याण की दुराकांक्षा पैदा करके उनका सिर मूंडवा कर, कुश की रस्सियों की लँगोटी बँधवा कर काले मृग के चर्म से शरीर आच्छादित कर तथा सारे शरीर पर नवनीत का मर्दन करा कर और उसको अनशन करा के उसका सर्वस्व हरण कर लेते हैं।" ऐतरेय ब्राह्मण में जो ज्योतिष्टोमादिक यज्ञ में दीक्षा संस्कार कहा गया है, संक्षेप में वही यहाँ अभिप्रेत है। इस तरह विहारभद्र ने ऋत्विजों को प्रवंचक प्रतिपादित किया है।

विहारभद्र आगे कहता है कि यह समस्त धूर्त ऋत्विक्गण बहुत प्रवंचक होता है जो धनवान् व्यक्तियों को उनके स्त्री पुत्रादि से वियुक्त करके शरीर रक्षा के लिए भी उनको अनुत्साहित कर देते हैं। यदि कोई अपने सौभाग्य से

इनके चक्कर में न फँसा तो और कुछ प्रवंचक धूर्तलोग उस धनी व्यक्ति को इस तरह प्रवंचना करते हैं कि महाशय! हम एक पैसे के लाख पैसे कर सकते हैं। बिना शस्त्र प्रयोग के ही शत्रु का नाश कर सकते हैं। हम एक असहाय व्यक्ति को भी चक्रवर्ती राजा बना सकते हैं। यदि आप हमारे उपदेशों के अनुसार कार्य कर सकोगे तो हम अनायास ही आपको इस पृथ्वी का सम्राट् बना सकेंगे। यदि उसने जानना चाहा कि आपका उपदिष्ट उपाय क्या है? तो वे कहने लगते हैं कि महाशय! चार विद्याएँ हैं—त्रयी, वार्ता, आन्वीक्षिकी और दण्डनीति। इनमें से पहली तीन विद्याएँ तो मन्द-फल हैं; इसलिए इन तीन विद्याओं की जरूरत नहीं। आप दण्डनीति विद्या अध्ययन करें। यह विद्या आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए ६ हजार श्लोकों में संक्षिप्त रूप से संकलित की है। इस शास्त्र का अध्ययन करके उसका उचित उपयोग करने वाला व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् हो सकता है। यदि कोई धनी व्यक्ति इस तरह के प्रवंचकों के वाक्यों में विश्वास करके दण्डनीतिशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हो जावे और दण्डनीति शास्त्र के वेत्ता आचार्य के उपदेश सुनने लगे तो वह प्रवंचित व्यक्ति दण्डनीति के अध्ययन एवं श्रवण में ही जीवन बिता देगा। इस शास्त्र का अध्ययन कभी भी नहीं समाप्त होगा। इसलिए सारा जीवन इस शास्त्र के श्रवण में ही समाप्त हो जायगा। दण्डनीतिशास्त्र अन्य शास्त्रों से सम्बद्ध है, अत: उन सब शास्त्रों को बिना जाने इस दण्डनीतिशास्त्र का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा। यदि सारा जीवन शास्त्राध्ययन में ही बीत जायेगा तो चक्रवर्ती सम्राट् कब हो सकेगा। यदि मान भी लिया जावे कि थोड़े समय में ही इसका अध्ययन पूरा हो जायगा फिर भी उस शास्त्र का यथार्थ ज्ञान होने से उस व्यक्ति की क्या दशा होगी उसकी भी एक बार विवेचना कर देखिए। दण्डनीतिशास्त्र का यथार्थ अर्थ जानने पर पहले तो उसको अपने स्त्री-पुत्रों में ही अविश्वास पैदा हो जायगा। यह व्यक्ति दूसरों के लिए ही नहीं बल्कि अपने लिए भी इस तरह की विवेचना करके ही कार्य करेगा कि इतने चावलों से इतना खाद्य तैयार हो सकेगा अर्थात् एक आदमी के आहार के लिये कितने चावलों की जरूरत होगी, तथा कितना भात बनाने में कितना ईंधन लगेगा इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म परिमाण जान कर उसके अनुकूल ही अपने तथा औरों के लिए व्यवस्था करेगा। दण्डनीतिशास्त्र का वेत्ता राजा रात्रि शेष रहते हुए ही जाग कर किसी तरह मुँह हाथ धोकर कुछ थोड़ा-सा खाद्य सेवन कर अधिकारी वर्ग से मिल कर सारे दिन का आय-व्यय का हिसाब जान लेगा।

ये ही सारी बातें कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथमाधिकरण के १९वें अध्याय में कही गई हैं। कौटिल्य ने जो बातें कही हैं उन सबको विहारभद्र ने विकृत रूप में ग्रहण करके ही इस जगह कहा है। विहारभद्र ने अवश्य ही राजा का सर्वनाश करने के

उद्देश्य से ही इस तरह विकृत रूप में ये बातें कही हैं। इसके बाद विहारभद्र फिर कहता है कि जो लोग कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार कार्य करते हैं उनकी और भी अनेक दुर्दशाएँ होती हैं। दिन के प्रथम भाग में जब राजा इस आय-व्यय का हिसाब सुनेगा उस समय आय-व्यय का हिसाब रखने वाले धूर्त जन यथार्थ हिसाब न देंगे। इस पर राजा उस हिसाब की पूरी जाँच करके जो परिमित धन बचा सकेगा, उससे द्विगुण धन अपहरण करने का रास्ता वे धूर्त लोग निकालेंगे। चाणक्य ने अर्थाहरण के ४० उपाय बताये हैं किन्तु राजा के धूर्त अध्यक्ष जन अपनी बुद्धि से उसको हजार तरह से अपहरण करने के सुयोग ढूँढ़ निकालेंगे।

दिन के द्वितीय भाग में राजा आपस में विवदमान प्रजाजन के व्यवहार (मुकदमों को) को देखेगा और सुनेगा (इसी को दीवानी और फौजदारी विचार कहते हैं)। मुकदमों में विवदमान प्रजाजनों की उक्ति प्रत्युक्तियों से दग्धकर्ण हो राजा कष्ट से ही जीवन बिता सकेगा। इतने से ही खैर नहीं, आगे भी प्रजागण के इन विवादों में प्राड्विवाक् आदि विचारक वर्ग अपनी इच्छानुसार मुकदमों का फैसला कर राजा को पाप एवं अकीर्ति द्वारा निन्द्य प्रमाणित कर स्वयं प्रचुरतम धन संग्रह कर सकता है।

दिन के तृतीय भाग में राजा स्नान और भोजन का अवकाश पा सकेगा। राजा का भोजन भी ऐसा चमत्कारी होगा कि खाया अन्न जब तक पूरा पच न जायेगा तब तक उसमें विष भक्षण की शंका होती ही रहेगी। विष मिश्रित अन्न खिला कर राजा को मारने के लिए अनेक व्यक्ति तत्पर रहते हैं।

दिन के चौथे भाग में भोजन के बाद विश्राम करके राजा प्रजावर्ग से कर आदि की व्यवस्था कर धन संग्रह करने की बात सोचेगा। दिन के पाँचवें भाग में मन्त्रियों के साथ अनेक सलाहों की चिन्ता करता हुआ राजा बड़े क्लेश का अनुभव करता है।

राजा का इतने से ही छुटकारा नहीं। मन्त्रिगण राजा के स्वार्थ में उदासीन रहते हुए आपस में मिलकर अपनी इच्छानुसार राजा के गुण दोषों को समझावेंगे अर्थात् दोष को गुण एवं गुण को दोष समझावेंगे। इस तरह राजा के साध्य कार्य को असाध्य रूप में और असाध्यों को साध्य रूप में प्रतिपन्न कर सकेंगे। जिस देश और जिस काल में जो कार्य कर्त्तव्य हैं, उनको अकर्त्तव्य के रूप में और अकर्त्तव्य कार्यों को कर्त्तव्य के रूप में परिवर्तित कर मन्त्रिवर्ग राजा के अपने व्यक्तियों तथा मित्र मण्डल एवं शत्रु मण्डल से पर्याप्त रूप में अर्थ-संग्रह (रिश्वत के रूप में) कर सकता है। यह मन्त्रि-मण्डल इस तरह दुष्कार्य करके ही राजा को नहीं छोड़ देता बल्कि आगे चल कर यही मन्त्रिमण्डल राजा के अपने ही राज्य में प्रजा-मण्डल में गुप्त भाव से राजविद्वेष पैदा कर एवं शत्रु और मित्र राजगणों में भी उसी गुप्त रूप से राजा के प्रति विद्वेष भाव पैदा कर सकता है, और

प्रत्यक्ष में यह मन्त्रिमण्डल ऐसा बना रहता है कि मानो इस विद्वेष को शान्त करने के लिए यह प्राणपण से चेष्टा कर रहा है। इस तरह राजा को धोखा देकर अपनी मुट्ठी में रखने की चेष्टा करता है।

दिन के छठे भाग में राजा अपने इच्छानुकूल घूम-फिर सकता है या मन्त्रिगणों से किसी विशेष कार्य की सलाह कर सकता है। राजा के घूमने की बात जो कही गई है, वह भी घड़ी दो घड़ी की ही है।

दिन के सातवें भाग में चतुरंगिणी सेना का निरीक्षण और उसके गुण दोषों का परीक्षण करके राजा उसको सुव्यवस्थित करने का प्रयास करेगा। दिन के आठवें भाग में सेनापति के साथ मिल कर अनेक प्रकार की युद्ध की चिन्ताजनक बातों से राजा क्लेश का अनुभव करता है। इस तरह दिन के आठ भाग करके प्रत्येक भाग के कार्य की राजा के लिए व्यवस्था प्रदर्शित की गई है। दिन के आठवें भाग की समाप्ति में संध्या वन्दन करके राजा रात्रि के प्रथम भाग में गुप्त-चरों से उनके कार्यों का संवाद संग्रह करेगा। गुप्तचरों से संवाद सुनकर तदनुसार शस्त्र, अग्नि, विष, एवं प्रणिधिवर्ग की उचित व्यवस्था करेगा। रात्रि के द्वितीय भाग में भोजन के बाद श्रोत्रिय ब्राह्मणों की तरह स्वाध्याय का अभ्यास करेगा। रात्रि के तृतीय भाग में मङ्गल वाद्य ध्वनि के बाद सो सकेगा। रात्रि के चतुर्थ एवं पंचम भाग में राजा सुख से सो सकेगा। राजा के लिए जो इतने समय सोने की व्यवस्था की गई है, वह भी अधिक क्लेशप्रद ही है। कारण जो राजा प्रातःकाल से रात्रि के द्वितीय भाग तक अनेक प्रकार की चिन्ताओं एवं परिश्रम से व्याकुल चित्त हो चुका है उसको इस समय सुख से नींद आ सकना कठिन है, इस विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। रात्रि के छठे भाग में जाग कर राजा स्वयं ही शास्त्र चिन्तन एवं राजकार्य के विषयों पर विचार करेगा।

रात्रि के सप्तम भाग में मन्त्रिगणों के साथ मन्त्रणा करके अनेक देशों में दूतों को भेजने का प्रबन्ध करेगा। यह धूर्त दूत गण राजा के पास राजा के अनुकूल बातें कहकर और राजा के शत्रुओं के साथ उनके अनुकूल बातें कहकर दोनों जगहों से धन संग्रह करते रहते हैं। यह इतने धूर्त होते हैं कि इनके प्रत्यक्ष में अर्जित धन पर कोई राज शुल्क (टैक्स) ये नहीं देते और इस तरह की चतुरता से समुपार्जित द्रव्य से जो अन्य देशों में व्यवसाय और वाणिज्य करते हैं कि उस पर भी कोई राजशुल्क नहीं लगता। यह दूतगण इतने धूर्त होते हैं कि जहाँ इनका कोई कार्य ही नहीं वहाँ का भी कुछ सामान्य कार्य बतला कर अनेक देशों का परिभ्रमण किया करते हैं और राजा से धन संग्रह भी करते रहते हैं। रात्रि के अष्टम भाग में अर्थात् प्रातःकाल प्रवंचक पुरोहितगण राजा से मिलकर कहता है कि आज रात्रि में हमने राजा के प्रतिकूल बड़ा ही अनर्थकारी दुःस्वप्न देखा है। कोई कहता है कि राजा के ग्रह आजकल बड़े ही अनिष्टकर हैं। फिर कोई

कहता है कि राजा के बहुत ही अशुभ सूचक दुःशकुन दिखाई पड़ रहे हैं। इन सब अशुभ लक्षणों की शान्ति होनी परमावश्यक है ; इस शान्ति कार्य में जो हवन करना होगा उसमें सोने की बनी हुई ही सब चीजें होनी चाहिए। सोने की बनी चीजों द्वारा शान्ति कर्म करने पर विशेष फलप्रद होगा। इस शान्ति कार्य के लिए ब्रह्मा के सदृश गुणशील ब्राह्मण मिल गये हैं। अतः इन ब्राह्मणों के द्वारा शान्ति कार्य सम्पादित होने पर यह कार्य विशेष शुभ फलप्रद प्रमाणित होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। ये सभी ब्राह्मण अति दरिद्र एवं बहु संतति युक्त है तथा सामर्थ्यवान् याज्ञिक हैं—इन्होंने आज तक कहीं भी प्रतिग्रह नहीं लिया है। इनको जो समस्त धन दिया जायगा उससे राजा को परकाल में स्वर्ग प्राप्ति एवं इस समय राजा की आयुष्य वृद्धि एवं अशुभ का निवारण होगा। इस तरह राजा को प्रवंचित कर यह धूर्त पुरोहितगण ब्राह्मणों को अनेकविध द्रव्य दिला कर गुप्त-रूप से यह धन धूर्त पुरोहितगण उनसे ले लेता है। इस तरह दिन और रात्रि के सम्पूर्ण भागों में राजा के कार्य की व्यवस्था निर्दिष्ट होने से राजा को लेशमात्र भी सुख की संभावना नहीं की जा सकती। राजा सर्वदा ही कष्टों का अनुभव करता रहेगा एवं विडम्बित होता रहेगा। दण्डनीतिशास्त्र में प्रवीण राजा के लिए इसी तरह विडम्बना से जीवन बिताने पर भी चक्रवर्तिता का लाभ करना तो दूर रहा, वह अपने प्रादेशिक राज्य का भी संरक्षण न कर सकेगा। नीतिशास्त्र का पंडित राजा जिनको दान देता है या जिनको विशेष सम्मानित करता है अथवा जिनसे प्रिय बातें करता है—ये सभी राजा की स्वार्थ सिद्धि के लिए होती हैं, इसको दुनिया जानती है इसलिए कोई भी राजा का विश्वास नहीं करता। जो व्यक्ति सबका ही अविश्वास्य होता है उसमें सर्वदा अलक्ष्मी वास करती है। सुतरां दण्डनीतिशास्त्र के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं। जो थोड़ी सी नीति के बिना लेकयात्रा नहीं चल सकती वह तो लोक व्यवहार से ही जानी जा सकती है। जो बात लोक व्यवहार से ही जानी जा सकती है उसके लिए शास्त्राध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं। दूध पीने वाला बच्चा भी रोदनादि अनेक उपायों से माता का स्तन पान कर सकता है। इन उपायों के उद्भावन के लिए बच्चे को किसी शास्त्र के पढ़ने की जरूरत नहीं होती। सुतरां हे महाराज! आप अति दुःखप्रद दण्डनीतिशास्त्र के परिज्ञान और उसके प्रयोगों की बात छोड़ कर यथेच्छ इन्द्रिय सुखोपभोग करें।

ये सभी नीतिशास्त्र वेत्ता लोग यही उपदेश करते रहते हैं कि इस तरह इन्द्रिय जय करना होगा—इस तरह काम, क्रोध आदि अरिषड्वर्ग को जीतना होगा, साम दान आदि नीति शास्त्रोपदिष्ट उपायों का अपने मण्डल तथा विपक्षी मण्डल में यथोचित प्रयोग करना होगा, संधि विग्रह आदि की चिन्ता द्वारा ही समय बिताना पड़ेगा, अपने सुख के लिए जरा भी समय खर्च करना उचित नहीं—ऐसी ही सब

बातों का उपदेश देने वाले यह कह कर यह समस्त वकधूर्त मन्त्रिगण राजाओं से धन संग्रह कर वेश्याओं के घरों में उसका उपभोग करते हैं। इसलिये इन समस्त वकधूर्त मन्त्रिगण का उपदेश सुनना ही नहीं चाहिए। राजा को उपदेश करने की क्या योग्यता इनमें है? जो इस दण्डनीतिशास्त्र के पारदर्शी एवं उसके प्रणेता कहे जाते हैं--उन शुक्र, वृहस्पति, विशालाक्ष, (उमापति शंकर), बाहुदंतीपुत्र (इन्द्र) और पराशर प्रभृति ने क्या काम, क्रोधादि अरिषड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर ली थी? क्या इन्होंने भी दण्डनीति शास्त्रोक्त विषयों का अनुष्ठान किया था? इनके द्वारा भी प्रारम्भ किये गये कार्यों में कहीं कभी सफलता कभी कहीं असफलता देखी जाती है। इसी तरह और भी बहुत जगह देखा जाता है कि जिन्होंने नीतिशास्त्र का अध्ययन करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है उनकी भी पराजय जिन्होंने नीतिशास्त्र सुना भी नहीं, उनके द्वारा बहुत जगहों में हुई है। सुतरां राज्य की रक्षा के लिए दण्डनीति की कुछ भी आवश्यकता नहीं मानी जा सकती।

हमारे ध्यान में तो आपके लिए यही युक्ति युक्त है, क्योंकि आपने श्रेष्ठ वंशमें तो जन्म पाया है। आपका नया ही राज्य है, सुन्दर शरीर मिला है, असीम ऐश्वर्य के आप अधिकारी हैं, ये सारी चीजें केवल राष्ट्र रक्षा की और शत्रु की चिन्ता से व्यर्थ कर देना उचित नहीं। इस स्वराष्ट्र चिन्ता तथा शत्रु चिन्ता से आप अपने को सबका अविश्वासी बना लेंगे एवं स्वयं भी किसी पर विश्वास न कर सकेंगे। इस तरह आपको कभी सुख नहीं मिल सकेगा एवं रात दिन राष्ट्र की चिन्ता करते रहने से अनेक सन्देहों के कारण हर समय व्याकुल रहना पड़ेगा। राष्ट्र चिन्ता का स्रोत अनेक तरह का तथा अधिक विस्तृत है इसमें कहीं भी किसी कार्य के विषय में निःसन्देह नहीं हो जा सकता। आपके दस हजार हाथी हैं, तीन लाख घोड़े, एवं अनन्त पदाति (पैदल फौज) है। सोना रत्न आदि से आप का खजाना परिपूर्ण है; सारा संसार यदि हजारों युगों तक उपभोग करे तो भी आपका कोष्टागार खाली नहीं हो सकता। (धान्यादि संचय स्थान को कोष्ठागार कहते हैं)। आपको अपना यह अति विशाल राज्य क्या थोड़ा ज्ञात होता है जिससे आप दूसरे राज्यों को अपनाने के लिए प्रयत्न करेंगे? प्रथम तो मनुष्य का जीवन ही अत्यल्पस्थायी है उसमें भी इस समय भोगों के भोगने का समय और भी अल्पतम है। मूर्ख लोग केवल धनोपार्जन करते करते ही मर जाते हैं। अपने कमाय इस धन का जरा भी उपभोग नहीं कर पाते। इस विषय में आपको और अधिक क्या कहा जावे, आप अपने इस विशाल राज्य का सम्पूर्ण भार अपने अन्तरंग और अपने प्रति पूर्ण भक्ति रखने वाले तथा राज्य भार को वहन कर सकने वाले मन्त्रिवर्ग पर छोड़ कर अप्सरागणों के सदृश अन्तःपुर सुन्दरियों से रमण करें। आप गाना बजाना एवं पान गोष्ठी (शराब पीने का जमघट) में सतत निरत रह कर इस शरीर लाभ को सफल करें। इस प्रकार

उपदेश करता हुआ कुमार सेवक धूर्त बिहारभद्र मस्तकांजलि पूर्वक राजा को साष्टांग प्रणाम करता हुआ अपने अनुकूल उपदेशों को राजा के सुन लेने पर प्रीति प्रफुल्ल लोचन हो अन्तःपुर की रानियों की ओर देखता हुआ हँसने लगा। उस समय राजा अनन्तवर्मा हँस कर बिहारभद्र से कहने लगा, उठिये उठिये आप इस तरह हित उपदेश करने के कारण हमारे गुरु हैं। आप गुरुजनों के प्रतिकूल यह उलटा हमको हाथ जोड़ भूमिष्ठ हो प्रणाम क्यों करते हैं? इस तरह राजा बिहारभद्र को उठाकर क्रीड़ा रस में निमग्न हो गया। बिहारभद्र की इन सब बातों से उसका अभिप्राय सुस्पष्ट है। इससे दण्डनीतिशास्त्र की अवज्ञा नहीं प्रमाणित की जा सकती।

याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय के (२१ वें श्लोक में) कहा गया है कि अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र प्रबल होता है (अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमितिस्थितिः)। इसकी टीका में मिताक्षराकार अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र के विरोध का उदाहरण दिखाते हुए कहते हैं कि हिरण्य और भूमि लाभ से मित्र लाभ श्रेष्ठ होता है। यह अर्थशास्त्र की बात है। यह बात याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय के ३५२ वें श्लोक द्वारा कही गई है और धर्म शास्त्र कहता है कि राजा लोभ एवं क्रोध को छोड़कर धर्मशास्त्र के अनुकूल प्रजाजनों के व्यवहारों का विचार करे। यह व्यवहाराध्याय का प्रथम श्लोक है। इसके आगे कहा है कि राजा वादी तथा प्रतिवादी के व्यवहार का निर्णय करने के लिए विचार करते समय यदि समझे कि एक व्यक्ति कि जय का फैसला देने पर उससे हमको मित्र लाभ होता है, किन्तु धर्मशास्त्र के आदेश का पालन नहीं होता, एवं दूसरे के अनुकूल फैसला दे देने से धर्मशास्त्र के आदेश का पालन तो होता है परन्तु मित्र लाभ न हो सकेगा। इस जगह अर्थ शास्त्रानुसार जिसका जय निर्णय करने पर मित्र लाभ हो वही कर्तव्य है किन्तु जिस तरह विचार करने पर धर्म शास्त्र रक्षित हो सके धर्मशास्त्रानुसार वही कर्त्तव्य है।

यहाँ मिताक्षराकार ने जो व्याख्या की है वह किसी भी मत से संगत नहीं कही जा सकती। पहले तो यही विचारणीय है कि आचाराध्याय के राजधर्म प्रकरण में उल्लिखित हिरण्यभूमिलाभादि वाक्य "हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः" को मिताक्षराकार ने अर्थशास्त्र कैसे समझा? और फिर राजधर्म प्रकरण के ३५७ वें श्लोक में कहा है कि जो राजा शास्त्रोल्लंघन पूर्वक लोभादि के वशीभूत हो विपरीत दण्ड व्यवस्था करता है, उस राजा को स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती तथा इस लोक में उसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। उचित दण्ड विधान ही राजा के स्वर्ग, कीर्ति एवं लोक का रक्षक है। मिताक्षराकार के मत में यदि राजधर्म प्रकरण अर्थशास्त्र ही माना जाय, तो भी उस अर्थशास्त्र में मित्र लाभ के लिए राजा अपनी इच्छा से एक की जय और दूसरे की पराजय की व्यवस्था नहीं

कर सकता। अर्थशास्त्रानुसार व्यवहार का अर्थ क्या राजा का इच्छानुसार व्यवहार है? राजा अपनी सुविधा देखकर जो इच्छा हो वही कर सके यही क्या अर्थशास्त्र है। मिताक्षरा सम्मत अर्थशास्त्र में क्या यही कहा गया है? मिताक्षराकार ने "हिण्यभूमिलाभेम्य:" यह जो वचन उद्धृत किया है इसका शेष भाग उन्होंने उद्धृत नहीं किया है। उसमें कहा गया है "रक्षेत्सत्यं समाहित:" इस अंश की व्याख्या में भी मिताक्षराकार ने कहा है कि राजा सावधान होकर सत्य की रक्षा करे. राजा के मित्रलाभ का मूल ही सत्य परिपालन है। सुतरां जो राजा असत्य व्यवहार द्वारा मित्रलाभ का प्रयास करेगा उसका वह प्रयास व्यर्थ हो जावेगा, मित्रलाभ नहीं हो सकेगा। अधर्मानुसार व्यवहार करने पर मित्रलाभ हो ही नहीं सकता। मित्र लाभ ही नहीं हो सकता, केवल इतना ही नहीं, अधर्म से व्यवहार करने पर स्वर्ग, कीर्ति और लोक—तीनों ही नष्ट हो सकते हैं। और मिताक्षराकार व्यवहाराध्याय का जो वचन धर्मशास्त्र कह कर निर्देश करते हैं उसका ही क्या अभिप्राय है?

मनुसंहिता के सप्तम अध्याय में जो राजधर्म कहा गया है उस जगह भी भाष्यकार मेधातिथि कहते हैं कि मनुसंहिता में जो समस्त राजधर्म कहे गये हैं वे सभी धर्मशास्त्र के अविरुद्ध है, अर्थात् धर्मशास्त्र से उनका विरोध नहीं है। यदि मेधातिथि की बात मान ली जाती है तो याज्ञवल्क्यस्मृति में भी जो राजधर्म की बात कही गई है वह भी धर्मशास्त्र से अविरुद्ध ही माननी होगी। किन्तु मिताक्षराकार ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

इतने पर भी अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का विरोध दिखाने के लिए मिताक्षराकार ने जो उदाहरण दिखाया है वह भी संगत नहीं होता। मिताक्षराकार ने याज्ञवल्क्यस्मृति का कोई अंश अर्थशास्त्र और किसी अंश को धर्मशास्त्र माना है। परन्तु ऐसा मानने का कोई कारण नहीं दिया है। याज्ञवल्क्यस्मृति अर्थशास्त्र कैसे हुई? क्या राजधर्म रहने से ही वह अर्थशास्त्र हो जाती है? धर्मशास्त्र में क्या राजा का स्थान नहीं हो सकता? राजा का कर्तव्य निर्देश करने वाले अंश को ही क्या अर्थशास्त्र कहेंगे? राजवृत्त निरपेक्ष धर्म क्या रह सकता है? अनुविधेयक को छोड़ कर क्या व्यवहार हो सकता है? भाष्यकार मेधातिथि ने भी राजधर्म निरूपक मनुसंहिता के सप्तमाध्याय को अर्थशास्त्र कहने का साहस नहीं किया है। हमारे ध्यान में तो मिताक्षराकार ने अर्थशास्त्र की विवेचना ही नहीं की। इसमें विशेष बात यह है कि—

"हिरण्य भूमि लाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यत:।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहित:।" (३५२ श्लोक आचाराध्याय)

इस श्लोक में क्या चतुष्पाद व्यवहार प्रकरण की बात कही गई है? यह तो जब राजा अपने राष्ट्र की वृद्धि के लिए दूसरे राज्य पर आक्रमण

करेगा एवं उस राष्ट्र पर आक्रमण करने से राजा को हिरण्यलाभ, भूमिलाभ और मित्रलाभ तीनों ही संभावित होते हैं। आक्रान्त राजा अपनी रक्षा के लिए आक्रमणकारी राजा को हिरण्य और भूमि (अर्थात् अपने राज्य का कुछ हिस्सा) आदि दे सकता है और कभी कोई आक्रान्त राजा अपने शुभ व्यवहार मे मित्रता भी कर लेता है। ऐसे ही स्थलों के लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आक्रान्त पर-राष्ट्र से हिरण्य और भूमि पा जाने से राजा की उतनी वृद्धि नहीं हो पाती जितनी परराष्ट्र के राजा को मित्र बना लेने पर हो सकती है। इसलिए राजा मित्र वृद्धि के लिए सर्वदा सचेष्ट रहे। सामयिक हिरण्यादि लाभ ही राजा का बड़ा लाभ नहीं हो सकता। यही उक्त श्लोक का तात्पर्य है। मिताक्षरा में भी यही कहा है किंतु मिताक्षराकार ने यहाँ जो अर्थशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र का विरोध दिखाया है, यही उनकी अपनी व्याख्या के प्रतिकूल बात है।

इसके बाद नौवीं शताब्दी के भाष्यकार मेधातिथि ने राजधर्म प्रतिपादक मनु-संहिता के सप्तमाध्याय में राजधर्म को धर्मशास्त्र के अविरुद्ध और राजधर्म का प्रतिपादक बतलाया है। उनका भी यह कहना संगत नहीं जँचता। कारण—सप्तमा-ध्याय के ३२ वें श्लोक में मनु कहते हैं कि, राजा अपने अधिकृत देशों में तो न्यायानुसारी ही होगा और शत्रु के प्रति तीक्ष्ण दण्डविधान करेगा। शत्रुराष्ट्र के प्रति तीक्ष्ण दण्डविधान क्या धर्मशास्त्रानुमोदित है? यदि उक्त विधान धर्म-शास्त्रानुमोदित हो सकता है तो अर्थशास्त्र ही इसकी अपेक्षा अधिक क्या कहेगा? सप्तमाध्याय के १७१ वें श्लोक में मनु ने कहा है कि राजा जब समझे कि अपने मन्त्री और सैन्यवर्ग आदि अत्यन्त हर्ष युक्त तथा पर्याप्त हैं एवं शत्रु के ये सब विपरीत हैं अर्थात् शत्रु के अमात्यादि तथा सैन्य वर्ग दुःखी एवं अपर्याप्त हैं, उस समय उस राज्य के राजा पर अवश्य आक्रमण कर दे। विपद्ग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना यदि धर्मशास्त्रानुमोदित है तो अर्थशास्त्र भी इसकी अपेक्षा अधिक और क्या कहेगा? १९५वें श्लोक में मनु ने पुनः कहा है कि जिस समय शत्रु राजा किले में अन्दर ही हो अथवा और कहीं अवस्थित हो उस समय विजिगीषु राजा उस शत्रु राजा को सैन्यादि द्वारा घेर कर रखे और शत्रु राजा के देश का नाश कर दे और शत्रु के अन्न, जल, घास आदि को विषादि से दूषित कर दे। ये सब कार्य क्या धर्मशास्त्र के अविरुद्ध है? इस तरह के नृशंस कार्य यदि धर्मशास्त्र के अविरुद्ध हैं तो अर्थशास्त्र में ही इससे अधिक और क्या कहा गया है?

हमने रामायण और महाभारत में जो राजधर्म प्रकरण में विंशतिवर्ग का उल्लेख किया है, उनमें राज्य रक्षण के अयोग्य और विपन्न (आपत्ति में फँसा हुआ) राजा कभी भी संधि के योग्य नहीं हो सकता। लड़ाई करके इसका उच्छेद करना ही विजिगीषु राजा का कर्तव्य है, यह बतलाया है। मनुसंहिता में भी विंशति-वर्ग में परिपठित राजाओं को विग्रह द्वारा ही उच्छेद करने की बात कही है।

सुतरां मेधातिथि ने जो कहा कि धर्मशास्त्र से अविरुद्ध राजधर्म ही मनुसंहिता में प्रतिपादित हुआ है, यह बात हमारे ध्यान में संगत नहीं मालूम होती। मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के प्रथम श्लोक के भाष्य में मेधातिथि ने कात्यायन का एक वाक्य उद्धृत करके कहा है कि राजा अर्थशास्त्रोपदिष्ट व्यवस्था को छोड़ कर धर्मशास्त्रोक्त व्यवस्था अवलम्बन करे——इसका क्या अभिप्राय है? राजा भी यदि अर्थशास्त्रानुसार कार्य न करेगा तो अर्थशास्त्र किसके लिए उपदिष्ट हुआ है? हमने याज्ञवल्क्यस्मृति से भी कात्यायन के वचनानुरूप एक वचन दिखा दिया है एवं याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका में जो कहा गया है वह भी दिखा दिया है।

अब प्रकृत बात यह है कि—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों ही विद्याओं के विषय भिन्न भिन्न हैं। न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने "इमाश्चतस्रो विद्याः पृथक् प्रस्थानाः प्राणभृताम् अनुग्रहायोपदिश्यन्ते" इस तरह कहा है (न्यायभाष्य १।१।१)। भाष्यकार की इस उक्ति के द्वारा धर्मशास्त्र के साथ अर्थशास्त्र का विरोध ही नहीं संभव होता, क्योंकि चारों ही विद्याओं का व्यापार अलग अलग है। विषयों की समानता न होने से विरोध हो ही नहीं सकता। जो विषय जिस शास्त्र का मुख्य तात्पर्य में परिगणित है उस विषय में वही शास्त्र प्रमाण होता है। जो विषय जिस शास्त्र का मुख्य तात्पर्य विषयीभूत नहीं है, वह विषय उस शास्त्र में प्रसंगवश उपपादित होने पर भी उसको उस शास्त्र का विषय कह देना संगत नहीं जँचता। इसलिये धर्मशास्त्र में भी कण्टकशोधन आदि जो कुछ कहा गया है वह धर्मशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है। वस्तुतः वह अर्थशास्त्र का ही मुख्य विषय है। धर्मशास्त्र में क्षत्रिय वर्ण के कर्मो का उपपादन करते हुए क्षत्रिय राजाओं का कर्म भी प्रसंगवश कहा गया है। क्षत्रिय से भिन्न और भी कोई वर्ण यदि पृथ्वी का शासन करता है तो उसके लिए भी "कण्टक शोधनादि" कार्य कर्त्तव्य ही होंगे। राज्य परिपालन केवल क्षत्रिय का ही कर्म होगा यह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह अर्थशास्त्र में भी जो वर्णधर्म या आश्रमधर्म कहे गये हैं वे भी अर्थशास्त्र के मूल विषय नहीं है। बल्कि प्रसंगवश वहाँ कह दिये गये हैं। इसी तरह सब शास्त्रों का सम्बन्ध समझना होगा।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय अधिकरण में "विवाद पद निबन्ध" नामक प्रथम अध्याय में कहा गया है कि "शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्। न्याय स्तत्र प्रमाणं स्यात् तत्र पाठो हि नश्यति।" इसका अभिप्राय यही है कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का कोई विरोध नहीं। दण्डनीतिशास्त्र ही अन्य समस्त विद्याओं का रक्षक और परिपालक है। परिपालक शास्त्र का परिपाल्य शास्त्र के साथ विरोध हो ही नहीं सकता। जो लोग समझते हैं कि दण्डनीतिशास्त्र के बिना भी इतर सम्पूर्ण आन्वीक्षिकी आदि विद्यायें स्वच्छन्द रूप में अपने

अपने विषयों की अनुष्ठापक हो सकती हैं, वे अब कुछ समझ गये होंगे कि दण्डनीतिशास्त्र को छोड़कर इतर आन्वीक्षिकी आदि विद्यायें कभी किसी देश में प्राणिमात्र की रक्षा में सफल नहीं हो सकी हैं। जो व्यक्ति अब भी यह बात स्पष्ट रूप से नहीं समझ सकते वे और कुछ दिन बाद और स्पष्ट रूप में समझ सकेंगे जब कि त्रयी विद्या के उच्चारण करने मात्र से मनुष्य दण्डार्ह समझा जाने लगेगा। हमने इस प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही दण्डनीतिशास्त्र के उच्छिन्न होने पर देश की क्या दशा होगी यह बात स्पष्ट रूप से महाभारत की "मज्जेन्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वेधर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः" यह उक्ति उद्धृत करके दिखा दिया है। प्रासंगिक विषयों में विरोध-विरोध ही नहीं होता। यदि किसी जगह न्यायानुसारी अर्थशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र का विरोध दिखलाई पड़े तब समझना होगा कि धर्मशास्त्र का पाठ ही विलुप्त हो गया है। यही कौटिल्य के उक्त वाक्य का अर्थ है।

मनुसंहिता के भाष्य में मेधातिथि ने कहा है कि मनुसंहिता के सप्तम अध्याय में जो राजधर्म कहा गया है वह सभी वेद मूलक नहीं है अपितु प्रमाणान्तर मूलक भी है। राजा के जो समस्त कर्म अवश्य कर्तव्य रूप में प्रतिपादित हैं वे भी प्रमाणान्तर मूलक ही हैं। यह भी इसी सप्तमाध्याय में भगवान् मनु ने कह दिया है। मेधातिथि ने जो प्रमाणान्तर द्वारा निरूपित अर्थ की बात कही है वह भी प्रमाणान्तर शब्द से अर्थशास्त्र को ही लक्षित करके कही गयी है। अर्थशास्त्र में ही राजधर्म आलोचित हुआ है।

"अर्थशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र का विरोध होने पर धर्मशास्त्र ही प्रबल होगा" ऐसा जो कहते हैं उनसे हमारा इतना ही कहना है कि याज्ञवल्क्यस्मृति में प्रायश्चित्ताध्याय के अशौच प्रकरण के २७ वें श्लोक में कहा है कि राजाओं को प्रजापालन कार्य में अशौच नहीं होता। इसी तरह राज कार्य में विनियुक्त पुरोहित, आमात्य आदि को भी उनके अधिकारोचित उन उन कार्यो के सम्पादन में राजा की इच्छानुसार उनको अशोच नहीं हो सकता। पुरोहित आदि के कार्यो में विघ्न न हो यह सोचकर राजा यदि उनका अशौचाभाव चाहेगा तो उनका सद्यः शौच हो सकेगा उनको अशौच न होगा। प्रत्येक वर्ण की विशेष विशेष अशौच व्यवस्था है। जैसे ब्राह्मण को दस दिन एवं क्षत्रिय को बारह दिन अशौच रहता है। इस क्रम से वर्णानुरूप भिन्न भिन्न दिवसों में अशौच की व्यवस्था बतलाई गई है। इनमें से यदि कोई राजा है अथवा राजा का पुरोहित या मंत्री है तब राजकार्यानुरोध से उनको अशौच नहीं होगा इस तरह कहा गया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने की बात है, कि धर्मशास्त्रानुमोदित अशौचकाल का बोध राजकार्यों के लिए स्वीकार किया है। इससे क्या धर्मशास्त्र द्वारा अर्थशास्त्र बाधित होता है अथवा अर्थशास्त्र द्वारा धर्मशास्त्र बाधित होता है?

यदि कहा जाये कि राजकार्यानुरोध में जो सद्यः शौच का विधान है वह तो

धर्मशास्त्र का ही विधान है। इसके उत्तर में हमारा प्रश्न है कि यदि यह बात मान ली जाये तो अर्थशास्त्र का विधान और क्या होगा ? अर्थशास्त्र यदि किसी जगह लौकिक राजकार्य के निर्वाह के लिए धर्मशास्त्र को बाधित करके प्रवृत्त होवे, तो भी अर्थशास्त्र ही धर्मशास्त्र द्वारा बाधित होगा—यही तो टीकाकार का मत है। राजकार्यानुरोध से सद्यः शौच की कल्पना का क्या कुछ दृष्ट प्रयोजन (प्रत्यक्ष मतलब) है या अदृष्ट प्रयोजन (परलोक में सुख प्राप्ति) है ? राजकार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होने पर प्रजा को सुविधा होगी। यह सोच कर ही तो राजा को राजकार्य में अशौच नहीं होता ऐसा विधान है। याज्ञवल्क्यस्मृति के उक्त श्लोक की मिताक्षरा टीका में भगवान् प्रचेता का वाक्य उद्धृत करके कहा है कि कारू, शिल्पी, चिकित्सक, दास, दासी राजा और राजभृत्य इनको अपने अपने विशेष कार्यों में अशौच न होगा। सूपकार को कारू कहा जाता है और चित्रकार आदि के लिए शिल्पी शब्द का प्रयोग होता है।

यहाँ मिताक्षरा में विष्णुस्मृति का वाक्य उद्धृत करके कहा गया है कि राजकार्य में राजा को एवं कारूकार्य में कारूकार को अशौच नहीं होता। शातातपस्मृति का वाक्य उद्धृत करके कहा गया है कि वेतन लेकर कार्य करने वाले शूद्र, दासी, दास आदि को अपने स्वामी के स्नान कराने और शरीर के संस्कार आदि करने, तथा मालिक के अन्यान्य गृह कार्य करने में अशौच नहीं होता। मिताक्षराकार ने भी कहा है कि इनका स्पर्श स्वामी के लिए अपरिहार्य होने से इनको अस्पृश्याशौच नहीं होगा। आगे मिताक्षरा में कहा है कि चिकित्सक रोगी का जो उपकार कर सकता है वह दूसरे व्यक्ति के द्वारा संभव नहीं है। अतः चिकित्सक द्वारा स्पर्श होने पर भी वह सदा ही शुद्ध समझा जायगा। ये जो सारी सद्यः शौच की बातें कही गई हैं ये क्या सारी पारलौकिक फलावाप्ति के लिए कही गई हैं ? जो बातें इस लोक के फल के लिए हैं वे भी तो अन्य प्रमाणों से ही जानी जाती हैं। चिकित्सक को अपवित्र मान लेने पर रोगी की जो दुर्दशा होगी वह क्या लौकिक बुद्धि के द्वारा नहीं जानी जा सकती ? अर्थशास्त्र का अन्वय व्यतिरेक द्वारा जाना जा सकने वाला विधान इससे भिन्न नया और क्या हो सकता है ? उक्त सभी स्थलों में अर्थशास्त्र द्वारा धर्मशास्त्र का ही बाध समझना चाहिए। ये सब बातें केवल याज्ञवल्क्यस्मृति में ही हैं ऐसा नहीं है, बल्कि मनुसंहिता के पंचमाध्याय के ९४।९५ श्लोक में भी राजा और राजा के कर्मचारीगणों को भी अपने अपने खास खास कामों में सद्यः शौच की बात कही गई है। मनुस्मृति के पंचमाध्याय के ९४ वें श्लोक में तो विशेष रूप से कहा है कि प्रजावर्ग के संरक्षण के लिए राजा और राजकर्मचारीगणों को सद्यः शौच होगा। मनु का पंचमाध्याय अर्थशास्त्र नहीं है और अपने अपने वर्णाश्रमानुकूल अशौच न होकर राजकार्यानुरोध से सद्यः शौच होगा यह क्या धर्मशास्त्र

द्वारा अर्थशास्त्र का बाध समझा जाय ? इस मनु श्लोक की व्याख्या में स्वर्गीय भरत शिरोमणि महाशय (बंगाल के) लिखते हैं कि राजपद पर प्रतिष्ठित राजा के लिए सद्यः शौच का जो विधान है इसका कारण यह है कि राजा दुर्भिक्ष में अन्न दान तथा उत्पातादिक होने पर तात्कालिकी उनकी शान्ति में हवनादि करके संसार का उपकार कर सकेगा। राजसिंहासन पर बैठ कर राजा प्रजागण का रक्षणावेक्षण करता है। अतः सिंहासनारोहण ही सद्यः शौच का कारण समझना चाहिए। अपने वर्ण के लिए कहे गये अशौच को छोड़ कर केवल प्रजारक्षण के लिए राजा और राजभृत्यों को शीघ्र ही पवित्र होकर अपने कार्य संपादन की क्षमता है। यही बात कह कर धर्मशास्त्र के द्वारा क्या अर्थशास्त्र वाधित नहीं हुआ है ? अर्थशास्त्र क्या धूमकेतु तारा के उदय (पुच्छला तारा) की तरह प्रजा के संहार का सूचक उत्पात विशेष है ? प्रजारक्षण के लिए ही तो अर्थशास्त्र की प्रवृत्ति है। यही बात इस मनु श्लोक की व्याख्या में कुल्लूक भट्ट ने कही है।

प्रसङ्गवश इस विषय का उल्लेख कर देना भी उचित जँचता है कि प्रजा-पालन के लिए ही राजा के लिए जो सद्यः शौच का विधान किया गया है वह केवल क्षत्रिय के लिए ही नहीं—ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इनमें से जो भी राजा हो कर प्रजा पालन करेगा उनके लिए भी यही सद्यः शौच का विधान लागू हो सकेगा। भारत के चारो वर्ण राजा हो सकते है यह शास्त्र का ही सिद्धान्त है। फिर भी आजकल कुछ लोगों की धारणा इसके विपरीत देखी सुनी जाती है। उनके विश्वासार्थ इस जगह कुल्लूक भट्ट की टीका का उद्धरण दिया जाता है। कुल्लूकभट्ट कहते हैं, "तच्च अक्षत्रियाणामपितत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टमेव"।

आजकल जो लोग सोचते या कहते हैं कि आर्य भारत में शूद्रों की बड़ी ही दुर्गति थी उनको इस जगह पर मनु, याज्ञवल्क्य और उनके टीकाकारों के विचारों पर ध्यान करने से ज्ञात हो सकेगा कि राज्यपालन में शूद्र का भी अधिकार था।

धर्मशास्त्रकारों ने स्पर्श-दोष माना है। किन्तु अत्रिस्मृति के २४५ वें श्लोक में कहा गया है कि देवयात्रा, विवाह, यज्ञ और उत्सव में स्पर्श दोष न होगा। उक्त स्थल में जो स्पर्श दोष का अभाव माना गया इससे क्या धर्मशास्त्र द्वारा अर्थशास्त्र का बाध होता है ?

अत्रिस्मृति के ३२४ वें श्लोक में कहा है कि—दुर्भिक्ष में जो अन्न दान करेगा और अरण्य आदि दुर्गम स्थानों में जो जलदान की व्यवस्था करेगा उसको स्वर्ग प्राप्ति होगी। दुर्भिक्ष में अन्न दान का बड़ा फल है। यह क्या अन्वय व्यतिरेक से नहीं जाना जा सकता ? विष्णुस्मृति के २२ वें अध्याय में ५३।५४ वें श्लोकों में कहा है कि राष्ट्र विप्लव में और घोर आपत्ति आ जाने पर सद्यः शौच होगा। पराशर स्मृति के सप्तम अध्याय में कहा गया है कि राष्ट्र-विप्लव में, प्रवास में, रोगी होने पर, आपत्ति में देह रक्षा के लिए जो आवश्यक अपेक्षित हो वही करे।

उसमें धर्म व्यतिक्रम होने पर भी इस धर्मव्यतिक्रम के समाधान के लिए स्वस्थ होने पर पूर्ण धर्माचरण करे। दारुण या मृदु जिस किसी धर्म द्वारा दुःखी शरीर का उद्धार करके पीछे स्वस्थ होने पर पूर्ण धर्माचरण करे। पुनः कहा गया है—आपत्काल उपस्थित होने पर शौचाचार का विचार न करे। प्रथम स्वयं स्वस्थ होकर तभी धर्माचरण करे। सम्बर्तस्मृति के ५१ वें श्लोक में कहा है कि दीन, अन्धे और दरिद्र व्यक्तियों को दान देने से अधिक पुण्य होता है। दक्षस्मृति के पाँचवें अध्याय में दीन, अनाथ आदि को दान देने की बात कही गई है। दक्ष-स्मृति के पाँचवें अध्याय में कहा गया है कि आपत् काल में तथा अच्छी दशा में अशौच भिन्न भिन्न रूप में होता है। दक्ष स्मृति के छठे अध्याय में कहा है कि यज्ञ काल में, विवाह में राष्ट्र विप्लव में जननाशौच एवं मरणाशौच नहीं होगा। आगे कहा है कि यह जो अशौच-व्यवस्था की गयी है वह स्वस्थ दशा में समझनी चाहिये। इन सब विषयों की आलोचना करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा कि अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र का विरोधी नहीं होता।

जो समझते हैं कि दण्डनीतिशास्त्र में जिन सब कर्त्तव्य कर्मों का उल्लेख किया गया है, उन सब बातों को बुद्धिमान् व्यक्ति अन्वय व्यतिरेक द्वारा स्वयं ही अवधारण कर सकते है। इसके लिए किसी विशेष शास्त्र की अपेक्षा नहीं है। इसका समाधान हमने बहुत पहले ही कर दिया है। हमने इस प्रबन्ध में दशकुमार चरित के अष्टम उच्छ्वास की आलोचना में दिखा ही दिया है कि बिहारभद्र नामक अतिनीच राजा के अनुचर ने राज्य का विनाश करके राजा के विनाश साधन के लिए ये सब बातें बड़ी अतिरंजकता से कही हैं। महाभाष्य, न्याय, मीमांसा, आदि शास्त्र भी तो पण्डित जनों ने अपनी बुद्धि द्वारा ही उद्भावित किये हैं। इन शास्त्रों में जो कुछ आलोचित हुआ है वह भी तो पण्डित लोगों की ऊहापोह द्वारा ही निरूपित हो सका है। इसलिए क्या महाभाष्यादिशास्त्र अध्ययन के अयोग्य कहे जा सकते हैं? दुरूह तर्कशास्त्र, खगोल, भूगोल, गणित शास्त्र, रेखागणित, आदि सभी बातें सभी देशों में अवश्य अध्ययन के योग्य समझी जाती हैं और इन सबका अध्ययन भी सब ही देशों में किया जाता है। ये सभी शास्त्र मनुष्यों की बुद्धि द्वारा उत्प्रेक्षित हुए हैं। ऊहापोह में कुशल बुद्धिमान् असाधारण व्यक्तियों ने ही अनेक युक्तियों के द्वारा इन सब शास्त्रों को प्रपंचित किया है। यदि कोई व्यक्ति अपने को ही समझे कि मैं भी सबसे असाधारण बुद्धिमान् हूँ, क्या मैं इन शास्त्रों को नहीं बना सकता? ऐसा समझ कर यदि वह इन सब शास्त्रों के अध्ययन से विरत हो जाय तब उसको पशुओं में भी सबसे अधिक बुद्धिहीन (गर्दभ) के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? अर्थशास्त्र को हेय प्रतिपादित करने के लिए तथा इस शास्त्र में लोगों की प्रवृत्ति ही न होने पाय इसके लिए, दण्डनीतिशास्त्र को मनुष्य बुद्धि द्वारा ही उत्प्रेक्षित हुआ कह कर

उसको हेय प्रतिपादन करने की चेष्टा की गई और इसमें उनको सफलता भी मिली। इसका ही परिणाम हुआ कि भारतीय जनता दण्डनीतिशास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ रहने के कारण पिछले एक हज़ार वर्षों में पराधीन रह कर जो सुख भोग चुकी है वह तो सबको विदित ही है। दूसरे राष्ट्रों की कुछ भी खोजखबर न रख सकने वाले भारतीय कूपमण्डूक बने रहे और आज वर्तमान समय में स्वाधीनता प्राप्त करके भी शासन को सुव्यवस्थित रख सकने में व्याकुल हो उठे हैं। यह सब चिरकाल से उपेक्षित राजनीति का ही परिणाम हैं। धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान कर लेना सामान्य बुद्धि का काम है। किन्तु इसके लिए विरचित अनेक शास्त्र (न्याय आदि) का अध्ययन अध्यापन में आज भी अनेक लोग कर्तव्य समझ कर प्रवृत्त दीखते हैं और आर्य ऋषिगणों के द्वारा रचित हुआ भी अर्थशास्त्र पढ़ने योग्य नहीं माना जा रहा है। क्योंकि वह तो अन्वय व्यतिरेक द्वारा समझा ही जा सकता है। इस तरह की विवेचना पराधीन जाति के लिए उचित ही है। भरत जी को श्री रामचन्द्र जी ने और युधिष्ठिर को नारद जी ने जो दण्डनीति विषयक उपदेश दिये हैं उनकी कुछ भी आवश्यकता न होती यदि भरत जी और युधिष्ठिर भी इनकी तरह ही कह देते कि ये तो साधारण लोक बुद्धि से ही जाने जा सकते हैं। इनके उपदेश करने की जरूरत ही क्या है? महाभारत में सुविस्तृत राजधर्म और आपद्धर्म वर्णन करके अकारण महाभारत के कलेवर वृद्धि की आवश्यकता ही न होती, यदि भीष्म और युधिष्ठिर इन दण्डनीतिशास्त्र की अवहेलना करने वालों का सत्परामर्श सुन लेते। पैतामह, वैशालाक्ष आदि तन्त्रों के प्रणयन की भी जरूरत न होती। कौटिल्य को भी विपुल अर्थशास्त्र के प्रणयन का प्रयास न करना पड़ता। जब देश का पतन होता है या उसके पतनोन्मुख होने की सूचना मिल जाती है तब वहाँ की जनता की इसी तरह की विपरीत बुद्धि हो जाया करती है, जिससे उसका पतन अवश्यम्भावी होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में याज्ञवल्क्य ने अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र को प्रबल माना है। इसकी व्याख्या में मिताक्षराकार ने धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का विरोध होने पर अर्थशास्त्र ही वाधित होगा ऐसा कहा है। इसका उदाहरण दिखाते हुए कहा है कि मनुसंहिता के अष्टमाध्याय के ३५०।३५१ वें श्लोक में कहा गया है कि अपने को मारने के लिए आये हुए आततायी को बिना कुछ सोचे विचारे मार देना चाहिए। वह आततायी चाहे बहुश्रुत ब्राह्मण ही क्यों न हो, उसे मार ही डालना चाहिए। आततायी को मारने में मारने वाले को कोई दोष नहीं लगता है। मनुसंहिता की इन बातों को मिताक्षराकार ने अर्थशास्त्र कह कर निर्देश किया है। आगे मिताक्षरा में मनुसंहिता के ११ वें अध्याय के ९० वाँ श्लोक उद्धृत करके कहा है कि ब्रह्म हत्याओं के सम्बन्ध में जो सब प्रायश्चित्त कहे गये हैं वे सब अज्ञान कृत ब्रह्म हत्याओं के सम्बन्ध में ही समझने

होंगे। ज्ञान कृत ब्रह्म हत्या का कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। अन्य स्मृतिनिबन्धकारों ने अज्ञान कृत ब्रह्म हत्या के प्रायश्चित्त से ज्ञान कृत ब्रह्म हत्या में द्विगुण प्रायश्चित्त होगा, यह कहा है। फलतः मिताक्षराकार के मत से गुरु, वृद्ध, ब्राह्मण आदि को आततायी होने पर भी उनका वध करने से कठोर प्रायश्चित्त करना होगा। इन आततायियों को न मार कर स्वयं आततायियों के द्वारा मारे जाने, आततायियों का प्रतिरोध न कर गुरु, ब्राह्मण आदि आततायी को आत्म समर्पण कर देना अथवा आततायी जिनको मारना चाहें, उनको उनके (आततायियों के) हाथों में सौंपने पर, कैसा पुण्य होगा यह मिताक्षराकार ने नहीं कहा।

हम महाभारत के शान्तिपर्व में देखते हैं, कि शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म के पास उपदेश लेने के लिए जिस समय महाराज युधिष्ठिर जाते हैं उस समय वे परम पूज्य एवं मान्य गुरुजनों को युद्ध में गिरा कर विशेषतः परम पूज्य पितामह भीष्म को शरशय्याशायी करके लज्जावश और अभिशप्त होने के भय से भीष्म के सामने आने का साहस नहीं करते हैं, यह बात भगवान् श्री कृष्ण के कहने पर, भीष्म पितामह उसके उत्तर में कहते हैं—जैसे दान, अध्ययन एवं तपस्या ब्राह्मणों का धर्म है, वैसे ही युद्ध में शरीर पातन क्षत्रिय का धर्म है। पितृगण, पितामहगण, भ्रातृवर्ग एवं सम्बन्धि बान्धवगण में से जो कोई भी अन्याय प्रवृत्त हो उसी को राजा युद्ध में मार डाले, इससे राजा को धर्म ही होगा। मर्यादा को तोड़ने वाले अतिलोभी गुरुजनों को भी युद्ध में मार डालने वाला क्षत्रिय धर्मवीर कहलाता है। युद्ध के लिए ललकारा गया क्षत्रिय अवश्य युद्ध करेगा। यह युद्ध धर्म, स्वर्ग, और लोकप्रद होता है। यही भगवान् मनु ने कहा है—(शान्तिपर्व ६५ अध्याय० ११ से १९ तक श्लो०)।

भीष्म ने अन्याय प्रवृत्त दुर्योधन का पक्ष लिया था। अधर्म पक्ष का अवलम्बन कर भीष्म ने अपने को भी मिथ्या प्रवृत्त कह कर निर्देश किया है। इससे मिथ्या प्रवृत्त भीष्म को शरशय्या पर लिटा कर युधिष्ठिर को कुछ पाप नहीं हुआ; बल्कि उल्टा धर्म ही हुआ। यही बात भीष्म ने कही। महाभारत की इन सब बातों की आलोचना करने पर मिथ्या प्रवृत्त आततायी को अवश्य मार डालना चाहिए यही समझा जा सकता है। किन्तु आततायी को आत्म समर्पण कर देने का और उसके द्वारा मारे जाने का उपदेश महाभारतादि प्राचीन शास्त्रों में कहीं नहीं मिलता। यद्यपि कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया है। वह भी उन्होंने जो युद्ध में यदा कदाचित् अन्याय मार्ग का अवलम्बन करके पाप कर डाला है, उस पाप के क्षालनार्थ ही है। ऐसा कोई भी कार्य सम्भव नहीं जिसमें कभी कोई त्रुटि न हो सके एवं हिंसादि दोष न हो जाय। जिनके ध्यान में कुमार्ग गामियों को भी दण्ड देना अकर्तव्य समझा जाता है उनकी दृष्टि हम महाभारत के इस श्लोक पर आकृष्ट करते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्चभिक्षुकः ।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनिस्थिताः ।।
(शान्तिपर्व—१५ अ० १२ श्लोक)

मनुसंहिता के सप्तम अध्याय के २२वें श्लोक में कहा है कि सारा संसार ही केवल दण्ड के भय से सुपथ पर चलता है, नहीं तो विशुद्ध स्वभाव वाले मनुष्य विरले ही हैं। केवल दण्ड के भय से ही समग्र जगत् अपने कर्त्तव्य पथ पर स्थिर रहता है। इसलिए जो कोई व्यक्ति कुमार्ग गामी होगा वह अवश्य ही राजदण्ड के योग्य होगा। जिन्होंने प्राणिमात्र का वध ही अत्यन्त अधर्म समझ कर आततायी शत्रु का वध भी अधर्म समझ लिया है, उनके सामने हम महाभारत के दो श्लोक उद्धृत करते हैं—प्राणिवध बिना किये तपस्वियों का भी जीवन धारण सम्भव नहीं है। वे जो जल पीते हैं उस जल में भी तो अनेक जन्तु रहते हैं। जिस पृथ्वी पर वे घूमते हैं उसमें भी तो अनेक जीव हैं; घूमने से उनका वध अवश्यम्भावी है। जिन वृक्षों के फल खाकर वे जीवन धारण करते हैं उनमें भी तो अनेक अनेक प्राणी हैं। इनका वध बिना किये तपस्वीगण भी जीवन धारण नहीं कर सकता। केवल जल और पृथ्वी में ही प्राणी नहीं हैं, वायु में भी ऐसे अनेक सूक्ष्म कीटादि हैं जो चक्षुरादि से ग्राह्य न होने पर भी बुद्धिग्राह्य अवश्य हैं। ये सारे जन्तु इतने सूक्ष्म एवं दुर्बल हैं जो आँख की पलक गिराने पर भी मर सकते हैं (शान्तिपर्व १५ अ० २५।२६ श्लोक)। सुतरां मिताक्षराकार ने ब्राह्मणवध मात्र में जो प्रायश्चित्त निर्देश किया है, वह आततायी से भिन्न ब्राह्मण के वध में समझना होगा।

महाभारत के अनुशासनपर्व के २१२ वें अध्याय में उमामहेश्वर संवाद वर्णित है। उसमें भगवती पार्वती भगवान् शंकर से प्रश्न करती हैं कि अन्य मनुष्यों को भर्त्सित करके भी राजा मरणानन्तर स्वर्ग प्राप्त क्यों करता है? ऐसे जुगुप्सित कार्य करके तो उसको नरक ही होना उचित है; किन्तु शास्त्रों में उसको स्वर्ग प्राप्ति बतलाई गई है। इसलिए मैं राजधर्म सुनना चाहती हूँ। इसके उत्तर में महेश्वर कहते हैं, हे देवि! संसार के लिए हितकर राजवृत्त मैं तुम्हारे सामने कहूँगा। इस अध्याय में महेश्वर ने राजधर्म की बहुत सी बातें कही हैं। उनका सारांश यही है कि शास्त्रोपदिष्ट मार्ग से राजा जो प्रजा-पालन करता है तथा दुर्वृत्त प्राणियों का दमन करता है, इससे राजा को पुण्य प्राप्त होता है। इस पुण्य के प्रभाव से ही राजा को स्वर्ग मिलता है। इस अध्याय में भगवान् शंकर ने पार्वती से दण्डनीतिशास्त्र के अनेक सिद्धान्त कहे हैं। साधारण लोग उमा महेश्वर संवाद से समझते होंगे कि महेश्वर ने किसी मन्त्र के सम्बन्ध में या किसी जप के बारे में अथवा किसी अपूर्व तपस्या के विषय में या किसी पुरश्चरण विधि के लिए या किसी उपासना के सम्बन्ध में कुछ कहा होगा। एक मात्र महा-

भारत ही इस तरह का ग्रन्थ है जिसमें उमामहेश्वर संवाद में भी दण्डनीतिशास्त्र के सिद्धान्त वर्णित हुए हैं। भारत की पूर्ण उन्नति के समय ही रामायण और महा-भारत इन दो ग्रन्थों की रचना हुई थी। इन दोनों ग्रन्थों में जो बात संभव है वह और ग्रन्थों में नितान्त असंभव है। हमने रामायण के जिस अध्याय की पूर्व आलोचना की है उसमें हम स्पष्ट देखते हैं कि श्रीरामचन्द्र दण्डनीतिशास्त्र के प्रवक्ता एवं भारत सम्राट् भरत उसके श्रोता हैं। श्रीरामचरित को लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। किन्तु उनमें एकमात्र बाल्मीकि रामायण को छोड़कर और किसी भी रामायण में श्रीरामचन्द्र जी को दण्डनीतिशास्त्र का प्रवक्ता नहीं देखा जाता।

भारतीय दण्डनीतिशास्त्र का आदि ग्रन्थ है पैतामहतन्त्र। इस पैतामह-तन्त्र से लेकर कौटिल्य अर्थशास्त्र पर्यन्त जो परम्परा या धारा-क्रम वर्तमान समय में उपलब्ध है, वही दण्डनीतिशास्त्र की एक अविच्छिन्न धारा कही जा सकती है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की समाप्ति में कहा गया है कि इस शास्त्र के बहुत विस्तृत होने के कारण इस के व्याख्यातृगणों में अनेक मतभेद हो गये थे। इससे इस शास्त्र का सिद्धान्त निरूपण कठिन हो गया है। इसलिये विष्णुगुप्त कौटिल्य ने स्वयं ही इस शास्त्र के सूत्र और भाष्य का प्रणयन करके व्याख्यातृगणों के मत-विरोध की समाप्ति करदी है।

कौटिल्य के बाद कामन्दक ने कौटिल्य अर्थशास्त्र का सार संकलन किया है। कामन्दक नीतिग्रन्थ का भी बहुत सा अंश विलुप्त हो गया है। महाराज यशोधर के समय में सोमदेव सूरि ने नीतिवाक्यामृत नामक दण्डनीति का ग्रन्थ प्रणयन किया। ये दोनों ही ग्रन्थ संक्षिप्त हैं। दण्डनीतिशास्त्र की परम्परा आलोचित होने पर जाना जा सकता है कि, इस शास्त्र प्रवाह का आदि ग्रन्थ पैतामहतन्त्र तथा सर्व शेष ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र है।

भारतीय आर्य सभ्यता के प्रारम्भ से जो शास्त्रप्रवाह निर्वाध गति से प्रवाहित होकर भारतीय सभ्यता का असाधारण आश्रय रहा, उस शास्त्र का प्रवाह बौद्धों की बाढ़ में बह गया। इसी से भारतीय सभ्यता का विलोप हो गया। बौद्धों की बाढ़ का फल यह हुआ कि भारतीय जनता के हृदय में एक अस्वाभाविक वैराग्य उत्पन्न हो गया। यह अनैसर्गिक वैराग्य ही भारत के अध:पतन का मूल कारण हुआ। भारतीय विद्वत्समाज यहाँ तक कि भारतीय नृपतिवृन्द भी राज्य परिपालन में उदासीन होकर केवल मात्र अस्वाभाविक उत्कट वैराग्य की आलो-चनाओं में ही अपना समय बिताना उचित समझने लगा। यह बौद्ध धर्म का प्रचार केवल बौद्ध पण्डितवर्ग तक ही सीमित नहीं रहा अपितु आर्य दार्शनिकगण भी इससे प्रभावित हो उठा और उसने भी इसी स्वर में अपना स्वर मिलाना कर्तव्य समझ लिया। यद्यपि आर्य दार्शनिकगण ने बौद्ध दार्शनिकों की युक्तियों

का खण्डन करने के लिए सफल प्रयास किया तथापि अनैसर्गिक उत्कट वैराग्य उनको भी अपने प्रभाव से प्रभावित किये बिना न रहा।

ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी पर्यन्त भारतवर्ष में बहुत से दार्शनिक मतों की सृष्टि हुई। इन सभी दार्शनिकों की दृष्टि संकुचित होने के कारण छोटे छोटे अनेक सम्प्रदाय बन गये और राष्ट्रिय भावनाओं से शून्य होने के कारण वे सभी आपस में एक दूसरे से विद्वेष रखने लगे। जिससे भारतीय जनता पारस्परिक कलह में सम्प्रवृत्त हो अपनी सामूहिक शक्ति खो बैठी। उदार दृष्टि न होने के कारण भारतीय जनता उन छोटे छोटे सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय में अपने को मान कर दूसरे सम्प्रदाय वालों से द्वेष करने लगी। इस समय भारत में साम्प्रदायिकता के साथ ही प्रान्तीयता का इतना जोर बढ़ा कि धर्मशास्त्रों के द्वारा भी उन उन विशेष देशों या प्रान्तों के अनुसार धर्म निर्णय के लिए स्मृतिनिबन्ध लिखे जाने लगे। जिससे प्रान्तीयता की भावनायें सुदृढ़ होती चली गई। राष्ट्र के अधः पतन के समय विद्वानों की बुद्धि में भी प्रान्तीय धारणायें स्थान बना लेती हैं। राष्ट्रिय कल्याण साधन में उदासीन होकर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए ही सामूहिक दृष्टि संकुचित होती चली गई। इसका परिणाम हुआ कि राष्ट्र अनेक भागों में विभक्त होकर आपस में एक दूसरे से विच्छिन्न हो गया। यहाँ तक कि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अपने धार्मिक विचार भी अपने ही प्रदेश के लिये सीमित बना लिए एवं देश की रीति रिवाजों की प्रधानता से अपने को दूसरे प्रान्तों से सर्वथा विच्छिन्न कर लिया। देश की जनता यदि अपनी अपनी चिन्ता में ही मग्न रहने लगे तब देश की एकता एवं देश की कल्याण-चिन्ता का अवकाश नहीं रह जाता। इस दशा में देश को अपनी रक्षा एवं सुव्यवस्था के लिए दूसरे के पैरों पर झुकने के सिवाय दूसरा उपाय ही नहीं रह जाता। जिस समय तक सबके कल्याण की चिन्ता एवं तदनुरूप कार्य नहीं किया जाता, केवल व्यक्तिगत स्वार्थ सम्पादन के ही कार्य सोचे एवं किये जाते हैं, तब तक देश की एकता संकट में रहती है। इसमें कुछ सन्देह नहीं।

आश्चर्य की बात यह है कि जिस चिन्ता धारा वा कार्यधारा ने भारत की संहति को विच्छिन्न कर दिया, आज वर्तमान में भी लोग उसकी ही प्रशंसा करते देखे जाते हैं। आपस में अलग अलग होकर छोटे छोटे सम्प्रदाय बन जाने से देश का पतन अवश्यम्भावी है, यह बात हमारे ध्यान में ही नहीं आती। भारत की विचारधारा और कार्यधाराओं में जो बहुत बड़ा अंतर अधिक समय से चला आ रहा है, आज तक उसकी समाप्ति का कोई उपाय नहीं दीख पड़ता। केवल समय के भेद से उसके आकार प्रकार में भेद भले ही हो गया हो किन्तु भेद वही चल रहा है।

जिन्होंने भारत की विचारधारा एवं कार्य धाराओं के भेद की नीव डाली

और अन्यान्य विद्वेष की रचना की, उनको भारत का कल्याणकारी किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता। जो भारत की इस चिन्ता और कार्य में भेद रखने का समर्थन करते हैं वे ही पूछते हैं कि भारत का अधःपतन कैसे हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में उनसे क्या कहा जाय। दुःख की बात यह है कि अपनी इस स्थिति को समझने की शक्ति भी हम खो बैठे हैं। एक ओर राष्ट्रिय भावनाओं का विलोप और दूसरी ओर चिन्ता जगत में विप्लव, दोनों भारतवर्ष को पंगु बनाने पर तुले हैं।

पंचम अध्याय

पैतामहतन्त्र

भारत का सबसे प्रथम दण्डनीति का ग्रन्थ—केवल भारत का ही क्यों संपूर्ण मानव समाज की आदि दण्डनीति का शास्त्र जो कि पैतामहतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध था, आज हम उसी ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की समालोचना करेंगे।

भगवान् ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों में जो सुविशाल ग्रन्थ बनाया उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय महाभारत के राजधर्मपर्व के ५९ वें अध्याय में आलोचित हुए हैं। हमने इस अध्याय के विषय में पहले भी कहा है। यह अध्याय सूत्राध्याय नाम से प्रसिद्ध है।

इस शास्त्र में—त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता और विस्तृत रूप में दण्डनीति प्रदर्शित हुई है। मन्त्री, पुरोहित तथा अमात्यगणों के लक्षण और उनकी रक्षा के उपाय बतलाये गये हैं। अमात्य आदि की रक्षा के लिए प्रणिधियों (गुप्तचर) के विभाग की बात कही गई है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथमाधिकरण के सप्तम और अष्टम प्रकरणों में गुप्तचर विभाग का विशद वर्णन है। इसके बाद पैतामहतन्त्र में राजपुत्र की रक्षा की व्यवस्था बतलायी गई है। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के प्रथमाधिकरण के तेरहवें प्रकरण में राजपुत्र की रक्षा की व्यवस्था विशेष रूप में प्रदर्शित हुई है। पैतामहतन्त्र में अनेक प्रकार के गुप्तचरों और उनके कार्यों का निर्देश किया गया है। साम, दान, भेद दण्ड और उपेक्षा इन पाँच प्रकार के उपायों का पूर्ण रूप से उल्लेख है। राजसभा में मन्त्रणा की रीति, मन्त्रणा का कार्य से पूर्व प्रकट हो जाना, मन्त्रणा में भ्रम होना, एवं उसकी सफलता और असफलता का फल कहा गया है। हीनसंधि, मध्यमसंधि और उत्तम-संधि इन तीन प्रकार की संधियों का विवरण प्रतिपादित हुआ है। डर से की गई संधि हीनसंधि होती है। सत्कार मात्र से प्रसन्न हो की गई संधि, मध्यमसंधि कहलाती है। पराजित राज्य पर कर लगा कर धन ग्रहण पूर्वक संधि, उत्तमसंधि होती है। भय, सत्कार और धन ये ही तीन संधि के कारण होते हैं। इन तीनों तरह की संधियों का विस्तृत विवरण पैतामहतन्त्र में मिलता है। इसी तरह युद्ध के भी चार कारण निर्दिष्ट हुए हैं। अपने मित्रों की वृद्धि और कोष वृद्धि के लिए, तथा शत्रु के मित्रों का नाश और शत्रु के कोष विनाश के लिए

युद्ध संघटित हो सकता है। इसलिये युद्ध के ४ कारण माने गये हैं। धर्म विजय, अर्थ विजय, आसुर विजय ये तीन प्रकार की विजय वर्णित हुई है।

अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और बल (सेना) यह पंच वर्ग, उत्तम मध्यम और अधम भेद से दिखाया गया है। प्रकाश्य दण्ड आठ तरह का और गुप्त दण्ड अनेक तरह का वर्णित हुआ है। रथ, हाथी, घोड़ा, पैदल, विष्टि, नौसेना, चर और दैशिक; इस अष्टाङ्ग सेना का विशेष विवरण दिया गया है। पैतामहतन्त्र में जो अष्टाङ्ग सेना कही गई है उसमें विष्टि पंचम अङ्ग होती है। इस पंचम अङ्ग विष्टि का कार्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के दशम अधिकरण के चतुर्थ प्रकरण में विशदरूप से विवृत हुआ है। उसमें कहा गया है—डेरे आदि लगाना, फौज के चलने के रास्ते का संशोधन करना, फौज के रास्ते में आई हुई नदी आदि का पुल बाँधना, फौज के लिए कुएँ बनाना, पहले बने हुए तालाब आदि का संशोधन करना, तोप आदि यन्त्रों, तलवार आदि आयुधों एवं शरीर रक्षार्थ कवच आदि को ले चलना, युद्ध काल में अस्त्र और कवच आदि सैनिकों को देना, एवं घायल सैनिकों को युद्ध भूमि से हटाकर निरापद स्थान में ले जाना ये सब कार्य पंचम अङ्ग भूत विष्टि सेना के होते हैं।

परराष्ट्र में गुप्त रूप में रह कर जो शत्रु राज्य का संवाद संग्रह कर अपने राष्ट्र को सतत समाचार देता रहे उसको चर कहते हैं। शत्रु राज्य पर आक्रमण करने के लिए सेना का अभियान होने पर सेना को उचित मार्ग का निर्देश करके जो सहायता करता है उसको दैशिक कहते हैं। सेना के ये आठ अङ्ग प्रकाश्य अङ्ग कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त सेना के अप्रकाश्य अङ्ग भी होते हैं। पैतामहतन्त्र में सर्पादि जंगम विष एवं अनेक तरह के उद्भिज्ज और रासायनिक स्थावर विष, जो ओढ़ने पहनने के वस्त्रों में लगा देने से स्पर्श करने पर प्राणि को मूर्च्छित कर सकते हैं तथा जो खाने-पीने की चीजों में निक्षिप्त होने से तत्काल ही मारक सिद्ध होते हैं; इस तरह के अनेक विष और चूर्ण-योग जो गुप्त रूप से शत्रु को मारने के लिए काम में लाये जा सकते हैं, वे सब बतलाये गये हैं।

शत्रु, मित्र और उदासीन, इन तीन तरह के राजाओं के साथ किस तरह का व्यवहार करना चाहिए यह सब इस शास्त्र में वर्णित हुआ है। जय और पराजय की सूचना देने वाले ग्रह और नक्षत्र आदि की अनुकूल गति का भी इस तन्त्र में यथार्थ वर्णन मिलता है। जंगल तथा निम्न प्रदेश एवं मरूस्थल आदि अनेक प्रकार की भूमि के गुण इसमें बतलाये गये हैं। अपनी सेना की रक्षा, तथा उसे प्रोत्साहन देना, किसी आपत्ति के आने पर उसको आश्वासन देना, तथा रथ, यन्त्र, शस्त्र आदि की पूरी परीक्षा का विवरण इस शास्त्र में दिया गया है। शत्रु के द्वारा अपनी फौज के नाश करने के प्रयोगों का वर्णन किया गया है। चक्र,

क्रौंच, आदि अनेक तरह के व्यूहों की रचना इस शास्त्र में बतलाई गई है। विचित्र युद्ध कौशल का विषय भी वर्णित है। अनेक प्रकार के ग्रहयुद्ध, धुमकेतु आदि राष्ट्र के अकल्याणसूचक उत्पात एवं उल्कापात भूकम्प आदि दु:शकुनों का वर्णन मिलता है। इस शास्त्र में शत्रुओं के विनाश के लिए जैसे सुयुद्ध वर्णित है इसी तरह अन्य स्थलों में समयानुरूप अपनी रक्षा के लिए युद्ध से भाग जाना भी बतलाया गया है।

युद्ध में काम आनेवाले शस्त्रों का संग्रह तथा युद्ध में उनके उपयोग का परिज्ञान भी इस शास्त्र में बतलाया गया है। अपनी ही सेना में आपस में विरोध तथा राजा के प्रति सेना की प्रतिकूलता एवं सेना में किसी संक्रामक रोग के फैल जाने आदि को सैन्य-व्यसन कहते हैं। इस व्यसन की उत्पत्ति एवं उसका उपशम इस शास्त्र में अच्छी तरह वर्णित है। सेना का उत्साह बढ़ाने के लिए अनेक तरह के खेलों का वर्णन किया गया है। सेना के कष्ट (रोगादि) को जानना, उसकी आपत्ति को समझाना और उसकी स्वाभाविक दशा का परिज्ञान इस शास्त्र में अच्छी तरह समझाया गया है।

युद्ध के लिए यात्रा करने के समय, सेना को अनेक तरह के इशारों को जानने के लिए शंख, दुन्दुभि, आदि के शब्द से सेना को उसका कर्त्तव्य बताना, इधर उधर घूमती हुई फौज को सहसा इकट्ठा कर देना, एवं फौज को चलने का निर्देश करने आदि का यथोचित वर्णन किया गया है। अनेक तरह के चोर और डाकुओं द्वारा एवं जंगली मनुष्यों के द्वारा शत्रुराज्य का पीड़न करना बतलाया गया है। आग लगाने वाले, जहर देने वाले, और भी अनेक तरह के भय देने वाले व्यक्तियों के द्वारा शत्रुराष्ट्र का पीड़न इसमें कहा गया है। दूसरे राष्ट्र के सामन्त राजाओं में आपस में भेद पैदा कर देना, अन्न की खेती का विनाश, हाथी, घोड़े आदि को दूषित कर देना, अर्थात् काम करने लायक न रहने देना, शत्रु की फौज में अनेक तरह का भय पैदा कर देना, दूसरे राष्ट्र में रहने वाले विजिगीषु के अनुकूल व्यक्तियों को आश्वासन देना और उनके लिए अनेक प्रकार की सुख-सुविधा कर देना और उनको पूर्ण विश्वास दिला कर शत्रुराष्ट्र को उनके द्वारा तकलीफ पहुँचाना इस पैतामहतन्त्र में वर्णित है।

१. स्वामी, २. अमात्य, ३. सुहृद्, ४. कोष, ५. राष्ट्र, ६. दुर्ग, ७. सेना ये ही सात अङ्ग राज्य की वृद्धि और ह्रास के कारण इस शास्त्र में निर्दिष्ट हुए हैं। राजदूत का कर्त्तव्य बतलाया गया है। दूत का कहाँ तक क्या अधिकार है वह बतलाया गया है। राष्ट्र की वृद्धि के सभी उपाय इसमें विशद रूप से वर्णित हुए हैं। विजिगीषु राजा का शत्रु, मध्यस्थ, उदासीन और भिन्न राजाओं के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, यह विस्तृत रूप से बतलाया गया है। जो राजा विजिगीषु राजा के शत्रु और मित्र होने के साथ समान

सम्बन्ध रखता है उसको मध्यस्थ या मध्यम राजा कहा जाता है एवं जो राजा विजिगीषु राजा के शत्रु और मित्र दोनों के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं रखता वह विजिगीषु राजा के लिए उदासीन राजा होता है। अपने से प्रबल राजा के राज कार्यों में अनेक विघ्न डालना एवं प्रबल राजा के राज्य में उच्छृङ्खलता बढ़ाना पैतामहतन्त्र में वर्णित है।

दीवानी और फौजदारी न्यायालयों के विभागों के सभी कार्यों का सम्यकतया निरूपण किया गया है। अपने राष्ट्र के उत्पातकारी चोर डाकू और द्यूत क्रीड़ाकारी आदि कण्टक वर्ग का निराकरण, अनेक प्रकार के कुश्ती के खेल (मल्लक्रीड़ा), बहुत तरह के शस्त्रों का परिज्ञान, राष्ट्र के कल्याण के लिए धन का व्यय, राष्ट्रोपयोगी वस्तुओं का संग्रह, इस तन्त्र में वर्णित हुआ है। राष्ट्र के अरक्षित जनों की रक्षा एवं रक्षित जनों को अनेक तरह के कामों में लगाना, दुर्भिक्ष के समय दुःखी जनों को धनादि देना, राष्ट्र में परस्त्री (वेश्यादि) एवं शराब आदि दुर्व्यसनों को रोकना, इस शास्त्र में कहा गया है। उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति, और मन्त्रशक्ति आदि राजगुणों का एवं सेनापति के गुणों का निरूपण किया गया है। उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्ति इस त्रिवर्ग के गुण दोषों का युक्ति पुरःसर विवेचन भी इस तन्त्र में मिलता है। वाग्मिता, प्रगल्भता आदि राजगुण भी इसमें बतलाये गये हैं। कामन्दक नीति शास्त्र के चौथे अध्याय में पंद्रह से उन्नीसवें श्लोक तक जो राजा के गुणों का वर्णन मिलता है, वह इसी से उद्धृत हुआ ज्ञात होता है। सेनापति के गुणों का वर्णन इसमें यथेष्ट मिलता है। उत्साहशक्ति आदि त्रिवर्ग का कारण इसमें उपपादित हुआ है, तथा उनके गुण दोषों की भी समीक्षा की गई है।

इस ग्रन्थ में राजा के अनुजीवियों के व्यहार एवं उनके दुष्कार्यों की विशेष समालोचना की गई है। राजा के द्वारा अलब्ध वस्तु का लाभ एवं लब्ध वस्तु की सुरक्षा और विवर्धन, एवं वर्धित वस्तु का यथोपयुक्त कार्यों में लगाना आदि अच्छी तरह बतलाया गया है। इसमें धर्म, अर्थ, काम के लिए तथा दुर्व्यसनों एवं आपत्तियों को दूर करने के लिए धन के व्यय करने की व्यवस्था बतलायी गई है। १—शिकार करना, २—जुआ खेलना, ३—दिन में अनावश्यक सोना, ४—दूसरे के दोषों का सतत कीर्तन, ५—अधिक मात्रा में स्त्री संभोग, ६—ज्यादा मद्य सेवन, ७—नृत्य, ८—गीत, ९—वाद्य, १०—व्यर्थ घूमना, इन दश कामज दुर्व्यसनों एवं १—चुगलखोरी, २—दुष्कर्मों में साहस, ३—दूसरों को सताना, ४—दूसरों की उन्नति देखकर डाह करना, ५—दूसरों की निन्दा करना, ६—दूसरों का धन अपहरण करना तथा दूसरे को दिये जाने वाले धन को न देना, ७—गाली गलौज करना, ८—क्रोध परवश दूसरों को व्यर्थ मारना, इन आठ क्रोधज दुर्व्यसनों का इस तन्त्र में विस्तार से निरूपण किया गया है। इन कामज व्यसनों में से मृगया (शिकार खेलना), जुआ खेलना अधिक मात्रा में स्त्री संभोग और

बहुत ज्यादा शराब पीना, ये चार दुर्व्यसन बहुत निकृष्ट बताये गये हैं। इसी प्रकार क्रोधज ८ व्यसनों में गाली गलौज करना क्रोध परवश हो दूसरे को व्यर्थ मारना, और दूसरे के धन का अपहरण या दूसरे को दिया जाने वाला पैसा न देना ये तीन व्यसन अति निकृष्ट बतलाये गये हैं।

अनेक तरह के यन्त्र और उनका व्यवहार इस तन्त्र में वर्णित है। यन्त्र दो प्रकार के कहे गये हैं, स्थित-यन्त्र और चल-यन्त्र। स्थित-यन्त्र भी बहुत तरह के कहे गये हैं। जैसे सर्वतोभद्र, यामदग्न्य वहुमुख, विश्वासघाती, संघाटि, यानक, पर्जन्यक, ऊर्ध्वबाहु, अर्द्धबाहु आदि। इसी तरह चल-यन्त्र भी अनेक तरह के प्रतिपादित हुए हैं। जैसे पंचालिक, देवदण्ड, सूकरिका, मुसल, यष्टि, हस्तिवारक, तालवृन्त मुद्गर, द्रुघण, गदा, शृंखला, कुद्दलिक, आस्फोटिम, उद्घातिम, उत्पाटिम, शतघ्नी, त्रिशूल, चक्र आदि। इन समस्त यन्त्रों का विशेष विवरण कौटिल्य अर्थशास्त्र के अध्यक्ष प्रचार नामक द्वितीय अधिरण में आयुधागाराध्यक्ष प्रकरण में विशेष रूप से व्याख्यात हुए हैं (कौ० अ० २५ प० गणपति सं०)। अनेक उपायों से शत्रुराज्य का उत्पीड़न शत्रुराष्ट्र के सीमा वृक्ष आदि को नष्ट कर देना, अपने राष्ट्र में खेती के उपयोगी सब कामों की सुव्यवस्था, अनेक तरह की आवश्यक अपेक्षित वस्त्र आदि और कवच आदि सामग्री के निर्माण की व्यवस्था—हीरे, पन्ने, पद्मराग आदि मणियाँ, हाथी घोड़े आदि पशु, अनेक तरह के वस्त्र, दास दासी आदि सेवक वर्ग, एवं सोना चाँदी आदि धातुयें, इन सभी चीजों के उचित मात्रा में संग्रह करने की व्यवस्था, इस तन्त्र म दिखाई गई है।

पणव, आनक, शंख, भेरी, आदि युद्धोपयोगी वाद्य यन्त्रों के बनाने की व्यवस्था बतलाई गई है। नवीन प्राप्त किये राज्य के आश्वासन की व्यवस्था—उस राज्य के सज्जनों के सत्कार की सुव्यवस्था, विद्वानों से मिलने की व्यवस्था—दान होम आदि धर्म कार्यों की व्यवस्था, मांगलिक कर्मों का अनुष्ठान, राजपरिच्छद का निर्णय, राजा के भोजनादि की व्यवस्था, राजा के व्यक्तिगत कार्यों की व्यवस्था, राजा की सत्यनिष्ठता और राजा के मधुरभाषी होने का प्रयोजन, राज्य में अनेक तरह के उत्सवों के करने की व्यवस्था, सभी तरह के जन समाजों में राजा के प्रत्यक्ष और परोक्ष कार्यों की व्यवस्था—राजकर्मचारियों के सभी कार्यो के देखने की व्यवस्था, नागरिक एवं जनपदवासी जनता के रक्षण तथा संवर्द्धन की व्यवस्था, द्वादशराज-मण्डल में राजा के कार्यों की व्यवस्था कही गई है। यह बारह राजमण्डल की बात मनुसंहिता के सप्तम अध्याय में १५६ वें श्लोक में बतलाई गई है। इसका परिचय मनु के मेधातिथिभाष्य में इस तरह बतलाया गया है—विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन ये चार राजा की मूलप्रकृति होती है। कामन्दक नीतिशास्त्र के अष्टम अध्याय के १८।१९।२० श्लोकों में भी इन्हीं चारों को राजा की मूल-प्रकृति कही गयी है।

अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड इन पाँचों को विजिगीषु राजा की द्रव्य-प्रकृति कहा है। इन पांच प्रकृति सम्पद् से सम्पन्न राजा आत्मसम्पद् युक्त होकर जिस समय दूसरे राष्ट्रों को जीतने के लिए तैयार होता है उस समय उसको विजिगीषु कहा जाता है। इस विजिगीषु राजा के राज्य से मिले हुए दूसरे राष्ट्र के अधिपति को अरिप्रकृति या शत्रुप्रकृति कहते हैं। विजिगीषु राजा के राज्य के चारों ओर जो राष्ट्र अव्यवस्थित रूप में स्थित होते हैं उन सभी राष्ट्रों के अधिपति अरिप्रकृति अर्थात् स्वभावशत्रु होते हैं। इन शत्रुराज्यों के परवर्ती राष्ट्र के अधिपति को मित्रप्रकृति अर्थात् स्वभावमित्र कहते हैं। सुतरां शत्रु-राज्य का अनन्तर्वर्ती राज्य मित्रराज्य होता है। उसके बाद का राष्ट्र मित्र के मित्र का राष्ट्र और उस राष्ट्र का परवर्ती राष्ट्र शत्रु के मित्र का मित्रराज्य। सुतरां विजिगीषु राजा के सम्मुख भाग में यथाक्रम ये पाँच राष्ट्र रहते हैं यह समझ लेना चाहिये; १—शत्रु, २—मित्र, ३—शत्रु का मित्र, ४—मित्र का मित्र, ५—शत्रु के मित्र का मित्र। इसी तरह विजिगीषु राजा के पश्चात् भाग में जो राज्य रहता है उसके राजा को पार्ष्णिग्राह कहा जाता है। यह पार्ष्णिग्राह राजा के शत्रु का मित्र होता है। विजिगीषु राजा जब अपने पुरोवर्ती राजा पर आक्रमण करता है तब यह पार्ष्णिग्राह राजा उसके हित के लिए विजिगीषु पर पीछे से आक्रमण कर उसको पीछे से रोक रखता है। इसी कारण से इसको पार्ष्णिग्राह कहा जाता है। इसलिए पार्ष्णिग्राह शत्रु का मित्र होता है। इस पार्ष्णिग्राह के अनन्तरवर्ती पिछले राज्य के राजा को आक्रन्द कहते हैं। यह आक्रन्द विजि-गीषु राजा का मित्र होता है। क्योंकि यह विजिगीषु राजा के पीछे से आक्रमणकारी पार्ष्णिग्राह राजा को विजिगीषु पर आक्रमण करने से रोकने के लिए विजिगीषु राजा के द्वारा अपनी सहायता के लिए पुकारा जाता है, इसी से इसको आक्रन्द कहते हैं। आक्रन्द राजा के भी पीछे बसने वाले राष्ट्र के राजा को पार्ष्णिग्राहा-सार कहते हैं। यह विजिगीषु राजा के शत्रु के मित्र का मित्र होता है। पार्ष्णिग्राह शत्रु का मित्र होता है और आसार उसका मित्र होता है। क्योंकि यह राजा पार्ष्णिग्राह की सहायता करता है इसी लिये इसको पार्ष्णिग्राहासार कहा जाता है। इसी तरह इससे भी पिछले राज्य के राजा को आक्रन्दासार कहते हैं। यह राजा विजिगीषु राजा के मित्र का मित्र होता है। क्योंकि विजिगीषु राजा का मित्र आक्रन्द और उसका मित्र आक्रन्दासार कहा जाता है। इसी तरह विजिगीषु राजा के आगे रहने वाले पाँच राज्य एवं पीछे रहने वाले चार राज्य इस तरह नौ राष्ट्र होते हैं और विजिगीषु जोकि इनके बीच में रहता है सब मिलकर दशराजमण्डल बनते हैं। इस दश राजमण्डल के साथ मध्यम और उदासीन दो राजाओं की गणना की जाने पर द्वादशराजमण्डल पूरा होता है।

हमने जो पहले मनुसंहिता से प्रकृतिभूत चार राजाओं का उल्लेख किया है—उनमें विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन ये चार राजा होते हैं। दश राजाओं के समुदाय में विजिगीषु और शत्रु ये दो राजा, एवं मध्यम और उदासीन ये दो राजा, इस तरह ये चार राजा राजमण्डल के मूलप्रकृति कहलाते हैं। इसके बाद जो मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र और अरिमित्रमित्र ये चार, तथा पार्ष्णि-ग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, और आक्रन्दासार ये चार, सबको मिला कर आठ राजा प्रकृतिभूत राजमण्डल के अङ्ग होते हैं। सुतरां अङ्ग और अङ्गी सब मिलाकर १२ राजा हुए। इसी को द्वादशराजमण्डल कहा जाता है। इस द्वादशराज-मण्डल में वरगोष्ठीन्याय से कभी कोई प्रकृतिभूत विजिगीषु आदि चार राजाओं में से अङ्गी होता है कभी वही कहीं अङ्ग भी हो सकता है। शत्रुराज्य और विजिगीषु राज्य के ठीक दक्षिण या बाम भाग में अवस्थित राजा युद्ध में प्रवृत्त अथवा कृतसंधिशत्रु और विजिगीषु दोनों ही राजाओं के अनुग्रह में समर्थ तथा विजिगीषु और शत्रु दोनों में युद्ध छिड़ जाने पर दोनों में से एक का पक्ष लेकर दूसरे को दबा सकने में समर्थ, ऐसा राजा मध्यम राजा कहलाता है। सुतरां यह मध्यम राजा विजिगीषु और शत्रु राजा के दक्षिण या बाम पार्श्व में रहने वाला होता है। शत्रु और विजिगीषु के सम्मुखवर्ती और पृष्ठवर्ती राजाओं का परिचय कह दिया गया। अरि, विजिगीषु मध्यम, और उदासीन, ये जो मूलप्रकृतिभूत चार राजा होते हैं, उनमें से विजिगीषु, शत्रु, मध्यम इन तीन राजाओं का परिचय बतलाया जा चुका। अब चौथे उदासीन राजा का परिचय दिया जाता है। विजिगीषु आदि तीनों राजाओं के राष्ट्रों से बाहर प्रदेश में रहने वाला एवं मध्यम राजा से भी बलवान् अर्थात् अधिकतम कोष, दण्ड आदि से युक्त तीनों ही राजाओं के आपस में युद्ध प्रवृत्त होने पर एक किसी को साहाय्य देकर विजयी बना सके या युद्ध छिड़ने पर किसी एक को दबा सके, ऐसे राजा को उदासीन राजा कहते हैं। मूलप्रकृतिभूत अरि, विजिगीषु और मध्यम इन तीनों ही राजाओं से असम्बद्ध भूभाग का स्वामी उदासीन कहलाता है। यह उदासीन राज्य अरि, विजिगीषु और मध्यम राजा के साथ सम्बद्ध नहीं होता।

विजिगीषु, अरि, मध्यम और उदासीन इन चार राजाओं को मूलप्रकृति बत-लाया है। इन चारों में ही प्रत्येक राजा का १८ अवयव युक्त एक एक मण्डल होता है, जैसे—१—विजिगीषु, २—विजिगीषु का मित्र, ३—उसके मित्र का मित्र, ये इन तीनों राजाओं का एक प्रकृतिमण्डल होता है। मूलप्रकृति विजिगीषु एवं उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र मूलप्रकृति का अङ्ग होने से उसको प्रकृति कहा जाता है। इन तीनों ही राजाओं में प्रत्येक राजा के अमात्य, देश, दुर्ग, कोष और सैन्य (दंड) ये पाँच अङ्ग होते हैं। इसलिये विजिगीषु राजा और उसके अमात्य आदि पाँच अङ्गों को मिलाकर छै की संख्या हुई। इसी तरह विजि-

गीषु का मित्र भी अमात्य आदि पाँच अङ्गों सहित छै संख्या पूर्ण होता है। ऐसे ही उसके मित्र का मित्र अमात्यादि पंचावयव युक्त होकर मिलित रूप में छै संख्या वाला होता है। इस प्रकार विजिगीषु के साथ सम्बद्ध हो १८ अवयव युक्त एक राजमण्डल बनता है। इसी तरह अरि, उसका मित्र और उसके मित्र का मित्र, इन तीनों को प्रकृति राजा की मूलप्रकृति कहा जाता है। इन तीनों में भी प्रत्येक अमात्य आदि पाँच अङ्गों से युक्त होने पर १८ हो जाते हैं। यह शत्रु-राजा का एक मण्डल होता है। इसी क्रम से मध्यम और उदासीन राजा का भी अमात्य आदि पाँच अङ्गों से युक्त होने पर १८।१८ संख्यायुक्त एक एक राज मण्डल कहलाता है।

इस तरह चारों मण्डलों में सब मिलितरूप में १२ राजा होंगे। इस को ही द्वादशराजमण्डल कहा जाता है। और इन बारह राजाओं में प्रत्येक के अमात्य आदि पाँच अङ्ग होते हैं। इस तरह बारह राजाओं के पाँच पाँच अङ्गों की गणना ६० होती है, जिनको द्रव्यप्रकृति कहा जाता है। बारह राजाओं की ६० द्रव्य-प्रकृति मिलित रूप में राजाओं सहित ७२ संख्यक होती है। इन ७२ में प्रत्येक का उत्कर्ष और अपकर्ष, सम्पद् और विपद् की, इस पैतामहतन्त्र में विशदरूप से आलोचना की गई है।

यही बात मनुसंहिता के सप्तम अध्याय मे १५५।१५६।१५७ श्लोकों में कही गई है। पैतामहतन्त्र में जो कहा गया है वही बात मनुसंहिता के भी उक्त अध्याय में कही गई है तथा यही बात सबसे अन्तिम भारत के दण्डनीतिशास्त्र कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी इसी तरह कही गई है। यह वस्तु के स्वभाव और प्रकृति पर आधारित है। इसलिये यह द्वादशराजमण्डल आज वर्तमान समय में भी उसी रूप में है और आगे भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। वस्तुस्वभाव काल भेद से बदला नहीं जा सकता।

इस तरह बतलाये गये द्वादशराजमण्डल की आपस में संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, और संश्रय, इन छहों गुणों की विवेचना को द्वादशराजमण्डल की चिन्तना कहा जाता है। ये इस पैतामहतन्त्र में विस्तार से वर्णित हुए हैं तथा प्रधान पुरुष की शरीर रक्षा के लिए संवाहन, अभ्यंग, उत्सादन, स्नान, अनुलेपन आदि कर्म वर्णित हुए हैं। इस तन्त्र में देशधर्म, जातिधर्म एवं अनेक प्रकार के कुलधर्म कहे गये हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चतुर्विध पुरुषार्थ इस शास्त्र में वर्णित हुए हैं। अर्थ प्राप्ति के बहुत से उपाय भी इसमें बतलाये गये हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णो में विभक्त मनुष्य समाज की रक्षा के लिए अत्यन्त अधार्मिक शत्रु राजा के द्वारा या अतिक्रूरकर्मा मनुष्यों के द्वारा होने वाली जनसंहारक आपत्ति उपस्थित होने पर और किसी तरह उसका प्रतिकार न हो सकने पर, मूलकर्म करने का आदेश इस शास्त्र में पाया जाता

है। इस मूलकर्म से अत्यन्त अधार्मिक एवं नृशंस शत्रुओं का विनाश किया जा सकता है। वह मूलकर्म इस तरह उपदिष्ट हुआ है कि अतितीक्ष्ण अनेक प्रकार के उद्भिज विषों के द्वारा शत्रुराज्य का जल दूषित कर दिया जाय और ये ही विषाक्त द्रव्य अग्नि में डालने पर उस अग्नि से निकले हुए धुएँ से शत्रु-राज्य का वायुमण्डल दूषित कर दिया जाय तथा उन्हीं विषाक्त द्रव्यों के संस्पर्श से शत्रुराज्य में काम आने वाले अन्न और वस्त्र विषाक्त कर दिये जाय तथा पशुओं के काम में आनेवाले घास आदि द्रव्यों को जहरीला बना दिया जाय। इस तरह उत्कट विषाक्त उद्भिजों की सहायता से जलादि को दूषित करके अति-नृशंस अधार्मिक शत्रु के विनाश की व्यवस्था इस तन्त्र में उपदिष्ट हुई है। अति नृशंस अधार्मिक शत्रु के विनाश के लिए अनेक तरह से विषाक्त उद्भिजों के प्रयोग को ही मूलकर्म कहते हैं। इस मूलकर्म का प्रयोग कहाँ करना चाहिये यह भी बतला दिया है : यदि साधारण जनों के लिए इसका प्रयोग किया जायं तो वह महापाप समझा जायगा।

मनुसंहिता के ९ वें अध्याय के २९० श्लोक में मूलकर्म करने वाले को अत्यन्त कठोर राजदण्ड की व्यवस्था बतलाई गई है। इसी तरह वशीकरण आदि तान्त्रिक विधानों के प्रयोग करने वालों को भी राजदण्ड की व्यवस्था उपदिष्ट हुई है। किंतु पैतामहतन्त्र में जो मूलकर्म जिस दशा में जिसके लिए प्रयुक्त करने का आदेश है, वह अधर्म नहीं कहा जा सकता। निरपराध बहुत से लोगों की रक्षा के लिए अतिशय दुर्दान्त अधार्मिक शत्रु का विनाश राज्य की रक्षा के लिए उपयोगी है। अतः वह विहित है और इससे धर्म ही होता है। जैसे अनेक मनुष्यों के वध करने वाले चोर डाकुओं का वध धर्म ही होता है। वैसे ही बहुत से निरपराध व्यक्तियों की रक्षा के लिए सापराध व्यक्ति का विनाश परम धर्म है। जो लोग हिंसामात्र को ही अधर्म समझते हैं, वे हिंसा के भय से दुराचारी जनों की हिंसा से सर्वथा विरत होकर दुराचारियों के द्वारा सज्जनों की हिंसा का प्रकारान्तर से समर्थन ही करते हैं। गौओं के एक झुण्ड में प्रविष्ट सिंह आदि की हिंसा न करना वास्तविक गौ समुदाय की हिंसा करना है। इसलिये महाभारत के राजधर्म प्रकरण के पंद्रहवें अध्याय के ४९ श्लोक में बतलाया है कि "अहिंसा साधु हिंसेति श्रेयान् धर्म परिग्रहः" इसका अर्थ यह है कि जो लोग सर्वत्र एकान्त अहिंसा के ही पक्षपाती हैं, वे सज्जनों की हिंसा के ही समर्थक कहे जा सकते हैं।

सज्जनों की रक्षा के लिए दुराचारियों की हिंसा धर्म ही हो सकती है। मनु के पंचमाध्याय के ४५ वें श्लोक में कहा है कि जो व्यक्ति अपने सुख के लिए अहिंसक अनेक जन्तुओं का वध करते हैं वे जीवित दशा में और मरने पर परलोक में कहीं भी सुख नहीं पाते। इसी श्लोक के भाष्य में मेधातिथि कहते हैं कि मनु के उक्त श्लोक में अहिंसक जन्तुओं का वध निषिद्ध होने पर भी सर्प, व्याघ्र,

आदि हिंसक जन्तुओं का वध निषिद्ध नहीं है। सुतरां अहिंस्र प्राणियों के प्रति ही अहिंसा प्रयुक्त हो सकती है हिंसक जन्तुओं के प्रति नहीं। इसी मूलकर्म के विषय में विशेष आलोचना कौटिल्य अर्थशास्त्र के चौदहवें अधिकरण में की गई है। पैतामहतन्त्र में शत्रु राजाओं को वश में करने के लिए अनेक मायामय प्रयोग बतलाये गये हैं एवं शत्रुराज्य की नदियों के जल दूषित करने के लिए भी अनेक क्रियायें वर्णित हुई हैं। जिन सब व्यवस्थाओं को काम में लेने पर राष्ट्र की सारी प्रजा आर्यजनोचित मार्ग से विचलित न हो सन्मार्ग पर दृढ़ रह सके, वे सभी उपाय इस पैतामहतन्त्र में बतलाये गये हैं।

वैशालाक्षतन्त्र

पैतामहतन्त्र का सार संकलन करके भगवान् उमापति शंकर ने जो शास्त्र बनाया उसका नाम वैशालाक्षतन्त्र हुआ। नीतिशास्त्र में भगवान् शंकर ही विशालाक्ष नाम से पुकारे गये हैं। इसलिये विशालाक्ष शंकर द्वारा प्रणीत ग्रन्थ वैशालाक्षतन्त्र का हम यहाँ कुछ आभास देंगे। भगवान् आदि शंकराचार्य के साक्षात् शिष्य विश्वरूपाचार्य ने जो सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, याज्ञवल्क्य-स्मृति की बालक्रीड़ा नाम की एक टीका लिखी है। इस टीका के बनने के बहुत दिनों बाद भगवत्पाद विज्ञानेश्वर भट्टारक ने याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका लिखी जिसमें उन्होंने आचाराध्याय के ८१ वें श्लोक की व्याख्या में विश्वरूपाचार्य के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है एवं टीका के प्रारंभ में ही विश्वरूपाचार्य की बनाई हुई टीका का भी उल्लेख कर दिया है। विश्वरूपाचार्य ने अपनी बनाई बालक्रीड़ा नामक टीका में वैशालाक्षतन्त्र से एक सूत्र उद्धृत किया है। इससे जाना जा सकता है कि विश्वरूपाचार्य के समय में वैशालाक्षतन्त्र मौजूद था। किन्तु वर्तमान समय में वैशालाक्षतन्त्र कहीं उपलब्ध है भी कि नहीं यह कहना असम्भव है।

विजिगीषु राजा रात के चौथे पहर में अनेक तरह की वाद्य ध्वनियों से जागृत हो आलस्य दूर कर अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा से अपने कर्तव्यों का विचार करे। विशेष दक्षता से राष्ट्र वृद्धि कारक नीति का विचार कर अपने तथा अन्य राष्ट्र मण्डलों में गुप्तचरों को भेजने का प्रबन्ध करे। राजा अपने नीति-चातुर्य से शत्रुराज्य के जिन सचिव आदि प्रधान कर्मचारीवर्ग को शत्रुराज्य के प्रति विरक्त एवं अपने राज्य के प्रति अनुरक्त कर लेता है और शत्रुराज्य के मन्त्री आदि प्रधान कर्मचारियों में आपस में भेद डालने में समर्थ होता है। उनके पास भी उनका विशेष सम्मान प्रदर्शित करते हुए गुप्तचरों को भेजे एवं जंगली राजाओं के पास तथा अपने अन्तर्गत राजमण्डल के पास गुप्तचरों को भेजे। ये ही सब बातें भगवान् विशालाक्ष ने अपने वैशालाक्षतन्त्र में कही है। आगे पीछे की

सभी बातों पर दूरदर्शिता से अच्छी तरह विचार कर जंगली राजाओं के पास जंगल में घूमने वाले गुप्तचरों को भेजे तथा अपने मण्डल के अन्तर्गत राजाओं के और शत्रुराजमण्डल के पास उन उन मण्डलों में घूमने वाले गुप्तचरों को भेजे, एवं जिनके पास गुप्तचरों को भेजे, उनके प्रति वे विशेष सम्मान प्रदर्शित कर सकें ऐसा विधान उनको बतलादे। "वन्यान्वनगतैर्नित्यं मण्डलस्थास्तथाविधैः। चारैरालोच्य सत्कुर्याज्जिगीषुर्दीर्घदूरदृक्" ।। विशालाक्ष सूत्र, याज्ञवल्क्य बालक्रीड़ा आचाराध्याय—३२९ श्लोक।

वार्हस्पत्यतन्त्र

याज्ञवल्क्य आचाराध्याय ३०७ वें श्लोक की व्याख्या में बालक्रीड़ा टीका में विश्वरूपाचार्य ने वार्हस्पत्यतन्त्र से कई सूत्र उद्धृत किये हैं एवं ३२३ वें श्लोक की टीका में भी वार्हस्पत्यतन्त्र से एक सूत्र उद्धृत किया गया है। ३०७ वें श्लोक की टीका में विश्वरूपाचार्य ने वार्हस्पत्यतन्त्र से सेनापति का लक्षण, दूत का लक्षण, मन्त्री का लक्षण और उपरिक का लक्षण बतलाया है।

१—सेनापति—अपने धर्म का जानने वाला, राजा तथा राष्ट्र का हितचिन्तक, उपधाशुद्ध (अनेक तरह के छल छद्मों से जिसकी परीक्षा करके सब तरह शुद्ध पाया गया हो) अनुद्धत, अदाम्भिक, उत्साही, देश की परिस्थिति का पूर्ण ज्ञाता, दण्डनीतिशास्त्र का पूर्ण अभिज्ञ, वेद और इतिहास में कुशल, कामज दश दोषों से तथा क्रोधज आठ दोषों से रहित, शान्त स्वभाव, अर्थशास्त्रोक्त नीति प्रयोगों में निपुण, हाथी, घोड़े आदि की चाल को जानने वाला अर्थात् कितने समय में कौन कितना रास्ता तय कर सकता है इसको निश्चित रूप से समझने वाला, अपनी चतुरङ्गिणी सेना का अधिनायक सेनापति होगा।

२—प्रतिहार—अच्छे खानदान में पैदा हुआ, उत्साही, शान्त स्वभाव, गंभीर प्रकृति, युद्ध के लिए सदा तैयार रहने वाला, वीर राजा में अनुराग रखने वाला, शत्रु राजा जिसको अपनी तरफ आकृष्ट न कर सके, सेनाओं को यथोचित रूप से अवस्थित कर सकने वाला, एवं दूसरों की चेष्टाओं से उनके हृद्गत भावों को समझने वाला प्रतिहार होगा।

३—गजाध्यक्ष—हाथियों के बन, तथा उनका जाति-विशेष और हाथियों के अनुकूल प्रतिकूल समय को समझने वाला, हाथियों के खाद्य आदि को जानने वाला, हाथी के गुण, अवस्था, स्वभाव आदि का निश्चय कर सकने वाला, जंगलों से हाथियों को पकड़ने में होशियार, हाथियों को चलाने में सुदक्ष, निर्भीक, राजा की विजय की विशेष अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति गजाध्यक्ष होगा।

४—अश्वाध्यक्ष—घोड़ों की उत्पत्ति के विषय में पूर्ण ज्ञान रखने वाला अर्थात् किन किन देशों में अच्छे घोड़े होते हैं, इसको जानने वाला घोड़ों की जाति जानने

वाला, घोड़ों के अनुकूल प्रतिकूल खाद्य को समझने वाला, घोड़ों के गुण, दोष, अच्छे बुरे का चिन्ह, तथा उनके परिचालन को अच्छी तरह समझने वाला, शस्त्र परिचालन में सतताभ्यास रखने वाला, उपधा शुद्ध, शान्त प्रकृति एवं राजा के प्रति पूर्ण अनुराग रखने वाला व्यक्ति अश्वाध्यक्ष होगा।

५—दूत—शत्रुभावापन्न राजाओं के साथ संधि करा सकने में समर्थ एवं अनेक राजाओं के परस्पर मिल जाने पर उनमें आपस में भेद डाल सकने में सुदक्ष तथा किस समय किससे संधि की जा सकती है इस विषय में पूर्ण अभिज्ञ, अपने राजा के प्रति विशेष अनुरक्त, उपधाशुद्ध, दक्ष, जिसकी स्मरण शक्ति विशेष हो, देश काल को अच्छी तरह समझने वाला, दर्शनीयाकृति, नीतिशास्त्र का पूर्ण वेत्ता, प्राज्ञ एवं वाग्मी व्यक्ति दूत होगा।

६—मन्त्री—जिसका पितृवंश तथा मातृवंश सर्वथा विशुद्ध है, निर्मल बुद्धि, मनु प्रणीत अर्थशास्त्र, वार्हस्पत्यं अर्थशास्त्र और औशनस अर्थशास्त्र में कुशल, दण्ड-नीति शास्त्र में कहे गये उपायों का उचित रूप में प्रयोग कर सकने वाला, निडर, कर्तव्य एवं अकर्तव्य कार्यों को अच्छी तरह समझने वाला, शत्रुवर्ग के षड्यंत्रों से जिसकी बुद्धि कुण्ठित न हो सके, किसी भी हालत में शत्रुओं का साथ न दे सकने वाला, धर्मोंपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, और भयोपधा इन चारों ही उपधाओं से विशुद्ध प्रमाणित, किसी भी दशा में गुप्त मन्त्रणा को प्रकाशित न कर देने वाला, ऐसा गूढ़मन्त्र व्यक्ति मन्त्री हो सकेगा।

७—उपरिक—किसी भी अवस्था में जिसकी बुद्धि कुंठित न हो, जिसकी सभी इन्द्रियाँ ठीक काम करती हों, प्रतापशाली, सुन्दर मूर्ति, हर समय प्रसन्न मुख रहने वाला, अकृपण, हर समय सतर्क रहने वाला, कार्यकुशल, अनुकूल बुद्धि युक्त, चरित्र-वान् एवं अनेक संदिग्ध कार्यों में उचित निर्णय कर सकने वाला उपरिक पद पर नियुक्त किया जा सकता है। सभी विभागों के कार्यों की सम्पन्नता और असम्पन्नता के निर्णय करने वाले को उपरिक कहा जाता है। सभी कार्यों का पर्यवेक्षण इसके द्वारा किया जाता है।

याज्ञवल्क्य आचाराध्याय के ३२३ वें श्लोक की व्याख्या में विश्वरूपाचार्य ने और भी एक सूत्र वार्हस्पत्यतन्त्र से उद्धृत किया है। राजा रात्रि के चौथे पहर में वेद ध्वनि, शंख शब्द, स्तुतिपाठक बन्दी मागध जनों के स्तुति-शब्दों एवं पुण्याह शब्दों से जागृत हो संध्योपासन पूर्वक, अथवा देवगण, पितृगण, ब्राह्मणगणों को मन ही मन प्रणाम करके, उपधाशुद्ध, धोखा न दे सकने वाले, शस्त्रधारी, अत्यन्त विश्वसनीय, हर समय पास रहने वाले अंग रक्षक जनों से परिवृत हो राष्ट्र के आय व्यय का हिसाब देखे। बालक्रीड़ा टीका में अति प्राचीन वैशालाक्षतन्त्र तथा वार्हस्पत्यतन्त्र से कई वाक्य उद्धृत हुए हैं। इस बालक्रीड़ा टीका के बाद के टीकाकारों ने प्राचीन राष्ट्रतन्त्रों से कहीं भी कोई बात उद्धृत न कर पाई।

मालूम होता है कि उनके समय में ये सब ग्रन्थ लुप्त हो गये थे। महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री महोदय ने त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज से प्रकाशित बालक्रीड़ा नामक टीका का सम्पादन किया है। म० म० शास्त्री महाशय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है कि बालक्रीड़ा टीका में वैशालाक्षतन्त्र से तथा वार्हस्पत्यतन्त्र से बहुत से अंश उद्धृत किये गये हैं। किंतु कौटिल्य अर्थशास्त्र से कोई भी अंश कहीं उद्धृत नहीं हुआ है। कौटिल्य, याज्ञवल्क्य का परवर्ती है, अतः याज्ञवल्क्य की उक्ति का तात्पर्य वर्णन करने के लिए कौटिल्य अर्थशास्त्र की उक्ति का उल्लेख करना बालक्रीड़ा के टीकाकार ने संगत नहीं समझा।

म० म० गणपति शास्त्री महाशय की यह उक्ति हमको संगत नहीं जंचती। कारण याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के १८२ पृष्ठ में बालक्रीड़ाकार ने कौटिल्य अर्थशास्त्र के वाक्य उद्धृत किये हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय में ३०४ श्लोक से लेकर ३०६ श्लोक तक तीन श्लोकों में याज्ञवल्क्य ने विजिगीषु राजाओं के गुणों का वर्णन किया है। वे ही सम्पूर्ण गुण विजिगीषु राजा की तरह शत्रुराजा में भी यदि हैं तो वह शत्रुराजा अतिकष्टोच्छेद्य हो सकता है; अर्थात् उसको उच्छिन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु विजिगीषु राजा के गुणों के विपरीत विजिगीषु राजा का शत्रुराजा विपरीत गुण सम्पन्न हो तो वह सुखोच्छेद्य होता है। जिन गुणों के रहने पर शत्रुराजा सुखोच्छेद्य हो सकता है; नीतिशास्त्र में उन सब गुणों को शत्रुसम्पद् कहा जाता है। इस शत्रुसम्पद् को दिखाने के लिए बालक्रीड़ाकार ने कौटिल्य अर्थशास्त्र के वाक्य उद्धृत किये हैं। इन वाक्यों का अर्थ है—शत्रुराजा यदि राजवंश में पैदा हुआ न हो तथा लोभ परवश हो एवं उसकी मन्त्रिपरिषद् के लोग यदि तुच्छबुद्धि या दुष्टबुद्धि हों, उसके मन्त्री आदि प्रधान कर्मचारी उससे विरक्त हों या शत्रुराजा अन्यायकारी हो अर्थात् नीतिशास्त्रानुसार कार्य न करता हो तथा उत्थानशील न हो एवं कामज तथा क्रोधज १८ दोषों से युक्त हो, यदि उत्साहशून्य एवं विवेचित कार्य को भी न कर सकने वाला हो एवं विपत्ति के समय जिसका कोई विशेष आश्रय न हो अर्थात् उसका कोई विशेष दुर्गादिक सुरक्षित स्थान न हो अथवा कोई विशिष्ट राजा उसका मित्र न हो और वह प्रजा को सताने वाला हो—इस प्रकार की शत्रुसम्पद् से सम्पन्न राजा को विजिगीषु अनायास ही उच्छिन्न कर सकता है। ये वाक्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के षष्ठ अधिकरण के सातवें अध्याय में है। और बालक्रीड़ाकार ने उन्हीं को उद्धृत किया है। कौटिल्य के वाक्यों में से एक दो ही बालक्रीड़ा की टीका मे छूट गये हैं। हमारे ध्यान से लेखक के प्रमाद से ही ऐसा हो गया है।

इसी आचाराध्याय के ३४३ वें श्लोक की व्याख्या में बालक्रीड़ाकार ने कौटिल्य का एक वाक्य उद्धृत किया है। यह वाक्य कौटिल्य अर्थशास्त्र के सप्तम अधिकरण के पाँचवें अध्याय के प्रारंभ में ही कहा गया है। इसका मतलब

यही है कि मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति युक्त एक विजिगीषु राजा यातव्य (जिस पर आक्रमण करना है) और चिरशत्रु इन दोनों ही राजाओं को यदि समान आपत्ति में फँसा हुआ समझे तो पहले यातव्य राजा पर चढ़ाई न करके चिरशत्रु के विनाश में लग जाना चाहिए। इस तरह चिरशत्रु का विनाश कर बाद में यातव्य राजा का विनाश करना चाहिये। यहाँ कौटिल्य अर्थशास्त्र का वाक्य बालक्रीड़ा टीका में कुछ विकृत हो गया है। उसका कारण है कौटिल्य अर्थशास्त्र का अपरिज्ञान। लेखक और पाठक दोनों ही के द्वारा कौटिल्य अर्थशास्त्र का अनुशीलन न होने के कारण बालक्रीड़ा टीका में ऐसा हो गया है। सुतरां देखा जाता है कि कौटिल्य याज्ञवल्क्य के बाद हुआ है, अतः कौटिल्य का वाक्य बालक्रीड़ाकार ने उद्धृत नहीं किया है, यह बात जो शास्त्री महोदय ने कही है वह संगत नहीं कही जा सकती। अमरकोषादि के वाक्यों से जाना जाता है कि टीकाकारगण अति प्राचीन ग्रंथों की व्याख्या कर गये हैं। सुतरां यह कहना कभी भी संगत नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती ग्रंथों के द्वारा पूर्ववर्ती ग्रंथों की व्याख्या संगत नहीं होती।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वार्हस्पत्यतन्त्र से अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ा नामक टीका में भी वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र के बहुत से वाक्य उद्धृत हुए हैं। हमारे सामने आज सम्पूर्ण वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र न होने पर भी हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र भारत में बहुत दिनों तक प्रचलित था, इसमें कोई सन्देह नहीं। महाभारत के शान्तिपर्व के कई स्थानों में वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र के बहुत से वाक्य उद्धृत किये गये हैं। यहाँ हम उन वाक्यों को उद्धृत करके वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र का परिचय देंगे। यहाँ एक विशेष बात ध्यान में रखनी होगी कि दण्डनीतिशास्त्र के एक प्रधान आचार्य भरद्वाज, वृहस्पति के ही ज्येष्ठ पुत्र हैं। यह बात महाभारत अनुशासनपर्व में ३०वें अध्याय के २४वें श्लोक में बताई गई है—'तमुवाच भरद्वाजो ज्येष्ठः पुत्रो वृहस्पतेः'। सुतरां इससे प्रमाणित हो जाता है कि वृहस्पति तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरद्वाज दोनों ही व्यक्ति दण्डनीतिशास्त्र के प्रणेता हुए हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी भरद्वाज प्रणीत दण्डनीतिशास्त्र से अनेक वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

शान्तिपर्व के २३ वें अध्याय के १४।१५ श्लोक में वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र के वाक्य उद्धृत करके बतलाया गया है कि दूसरे राजाओं के साथ विरोध न चाहनेवाले राजा एवं परदेश जाने की इच्छा न रखने वाले ब्राह्मण को पृथ्वी ग्रास कर लेती है, जैसे सर्प बिल में रहने वाले मूषकादि जंतुओं को खा डालता है। शान्तिपर्व के ५६ वें अध्याय के ३८ वें श्लोक में वार्हस्पत्यनीतिशास्त्र से वाक्य उद्धृत करके कहा गया है कि यदि राजा केवल क्षमाशील ही हो, दण्ड प्रयोग करने का सामर्थ्य न रखता हो, तो छोटे से छोटा आदमी भी उसके सिर पर चढ़ सकता है। जैसे,

फीलवान बड़े से बड़े हाथी के सिर पर चढ़ जाता है। इसलिये राजा को अत्यन्त मृदु या अत्यन्त उग्र-दण्ड नहीं होना चाहिये, किन्तु बसन्त कालीन सूर्य की तरह मध्यमवृत्ति होना चाहिए। बसन्त कालीन सूर्य शिशिर ऋतु के सूर्य के समान अति मृदु भी नहीं होता और ग्रीष्म कालीन सूर्य की तरह अत्यन्त तीक्ष्ण भी नहीं होता।

शान्तिपर्व के ५६ वें अध्याय के १२ वें श्लोक से लेकर १८ वें श्लोक तक वार्हस्पत्य नीतिशास्त्र के वाक्य उद्धृत किये गये हैं। अपने नीतिशास्त्र में वृहस्पति कहते हैं कि राजा को सर्वदा उत्थान परायण होना चाहिए अर्थात् संपूर्ण कार्यों में सतत उपयोग-सम्पन्न रहना चाहिए, आलसी नहीं होना चाहिए। उद्योग-शीलता ही राजधर्म का मूल है। इसके दृष्टान्त में वृहस्पति कहते है कि देवताओं ने उद्योगशील होने के कारण ही अमृत पा लिया एवं उद्योगशील होने से ही वे असुरों पर विजय प्राप्त कर सके तथा उद्योगशील होने के कारण ही वे सबसे श्रेष्ठ समझे गये। जो केवल बात ही बना सकते है, अपने कहने के अनुकूल कार्य नहीं करते, वे पुरुष निकृष्ट होते है और जो जितना कहते हैं उतना ही करते भी हैं, वे उत्तम पुरुष कहलाते हैं। बात ही बनाने वाले व्यक्ति कार्य करने वाले व्यक्तियों की प्रशंसा करके उनका मनोविनोद किया करते हैं। विष रहित सर्प जैसे अनायास ही मार डाला जाता है इसी तरह राजा बुद्धिमान् होते हुए भी उद्योगशील न होने से शत्रुओं से सदा धर्षित हुआ करता है।

अत्यन्त बलशाली विजिगीषु राजा को भी छोटे से छोटे शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। दुर्वल शत्रु भी कभी अधिक अनिष्ट कर सकता है। थोड़ी सी भी अग्नि ग्राम, नगर, जंगल को जला सकती है। थोडा सा भी विष प्राणी को मार सकता है। दुर्वल शत्रु भी कभी किसी तरह बल पा जाता है या अपने सुरक्षित किले आदि का सुदृढ़ आश्रय पा लेता है तो राजा एवं राज्य सभी को नष्ट कर सकता है। शान्तिपर्व के ६८ वें अध्याय में वार्हस्पत्यतन्त्र का सार संकलन करके बहुत सी बातें कही गई है। कोशलराज वसुमना को जो राष्ट्रनीति का उपदेश वृहस्पति ने किया है, वे सभी उपदेश उक्त अध्याय में वर्णित हुए हैं।

वृहस्पति ने कहा है कि राष्ट्रवासी समस्त प्रजा के कल्याण का मूल राजा ही होता है। राष्ट्रवासी प्रजा केवल राजदण्ड के भय से ही आपस में एक दूसरे को नहीं सता पाती। राजा ही सब लोगों को विद्या और धन आदि के द्वारा समृद्ध बना सकता है। राजा अपनी प्रजा को समृद्ध बना कर स्वयं भी समृद्धशाली हो सकता है। राजशासन न होने पर सारी प्रजा ही आपस में लड़ाई झगड़ा कर नष्ट हो सकती है। आकाश में चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश न रहने पर सभी प्राणी एक दूसरे को नहीं देख सकते और घोर अंधकार में पड़ सकते हैं। जैसे अल्प

जल वाले कीचड़ युक्त तालाब आदि में स्थित मछलियाँ अपने इच्छानुसार कीचड़ में फँसी दूसरी मछलियों को नष्ट कर सकती हैं, इसी तरह राजा के न रहने पर प्रजापुंज आपस में एक दूसरे पर आक्रमण एवं धर्षण कर बहुत शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। जैसे रक्षक विहीन पशुगण नष्ट हो जाता है इसी तरह अराजक राज्य की प्रजा भी नष्ट हो सकती है। यदि दुर्बल किसी को सताता है तो उससे प्रबल उसको सताने लगता है, उससे भी प्रबल व्यक्ति उसको सताने लगता है। राजा के न होने से किसी का भी किसी वस्तु पर अधिकार नहीं हो सकता। यह धन, यह खेत, यह मकान हमारा है यह कोई नहीं कह सकता। स्त्री, पुत्र, धन आदि किसी पर भी मनुष्य का अधिकार नहीं हो सकता। राष्ट्र परिचालक राजा के न होने पर सारी मर्यादायें नष्ट हो जायंगी। प्रजा जनों की अनेक तरह की सवारियाँ, वस्त्र, अलंकार, एवं अनेक तरह के रत्न आदि दुराचारी लोग (चोर डाकू) जबर्दस्ती अपहरण कर लेंगे। राष्ट्र के धार्मिक व्यक्तियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार एवं अधर्म की वृद्धि हो सकती है। यदि राजा रक्षक न हो तो माता, पिता, आचार्य, वृद्ध, अतिथि गुरु आदि अनेक तरह के क्लेश पा सकते हैं। यदि राष्ट्र का कोई शासक न हो तो धनी लोगों का धन के कारण बन्धन यहाँ तक कि वध भी किया जा सकता है। यदि राजा रक्षा न करे तो राज्य के सभी लोग चोर डाकुओं से हर समय त्रस्त रहेंगे, प्रजा को हर समय ही मृत्यु की विभीषिका सताती रहेगी, यहाँ तक कि संपूर्ण राष्ट्र ही इन भयानक दुरव्यवस्थाओं के कारण नरक बन जायगा। यदि राजा रक्षक न हो तो दुराचारी लोग बेखटके स्त्रियों को धर्षित करने लगें, खेती, वाणिज्य, व्यापार आदि उच्छिन्न हो जायं एवं धर्म का उच्छेद और वेदों का विनाश हो जाय। यदि राजा पालक न हो तो यज्ञ आदि सब तरह के धर्म कार्यों का उच्छेद हो जाय एवं विवाह, समाज आदि लुप्त हो जाय। यदि राजा रक्षक न हो तो सभी पशुपालन कर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, बैलों से खेती नहीं की जा सके। दूध, दही, घृत आदि भी संभव नहीं हो सकेंगे। राजा के द्वारा राष्ट्र का सुशासन न होने पर सारा राष्ट्र त्रस्त एवं उद्विग्न हो उठे और प्रजा में हाहाकार मच जाय एवं थोड़े ही समय में सब कुछ नष्ट हो जाय। चिरकाल में समाप्त होने वाले बहुदक्षिणा युक्त सब धर्म कार्य नष्ट हो जाय। तपस्वी और ब्राह्मण लोग फिर वेदाध्ययन नहीं करेगें। फिर विद्या स्नातक, और व्रत स्नातक कहीं भी न मिल सकेंगे। धर्म का नामो-निशान मिट जायगा। अकारण सब लोग असमय में ही काल कवलित हो जायगें यदि राजा प्रजा का नियन्ता न होगा। चोर जबरदस्ती दूसरों का धन छीन लेंगे और चोरों में भी आपस में सब एक दूसरे का धन दबा लेगा। सभी मर्यादायें नष्ट होने पर सब लोग भय त्रस्त होकर इधर उधर अपनी रक्षा के लिए भागने लगेंगे। सारी दुर्नीतियाँ बेरोकटोक प्रवृत्त होने लगेंगी। वर्णसंकर

प्रजा पैदा होने लगेगी। सर्वत्र ही घोर दुर्भिक्ष का साम्राज्य हो जायगा। राष्ट्र परिचालक राजा के न होने पर ये अनर्थ होंगे।

राजा के द्वारा रक्षित होने पर सारा राष्ट्र निर्भय रह सकता है। राष्ट्र-वासी प्रजा घर के द्वार खोल कर निर्भयता से सुख पूर्वक सो सकती है। राजा से रक्षित होने पर राज्यवासी सभी लोग आपस में एक दूसरे के अन्याय को सहन न कर सकेंगे और न कोई किसी का धन ही अपहरण कर सकेगा। सब अलंकारों से सुसज्जित हो रमणियाँ अपने अपने रक्षक पुरुषों के बिना ही सर्वत्र यथेच्छ आ जा सकेंगीं। राजा से रक्षित राष्ट्र में धर्म की वृद्धि एवं सब हिंसाओं की निवृत्ति तथा आपस में एक दूसरे पर सद्भावनाओं की वृद्धि हो सकेगी। राजा से रक्षित राज्य में अनेक बड़े बड़े यज्ञों का सम्पादन तथा सब प्रकार की विद्याओं का निर्बाध अध्ययन सम्पन्न हो सकेगा। सुरक्षित राज्य में खेती बारी, वाणिज्य व्यवसाय, पशुपालन आदि धनोत्पादक वार्ताशास्त्र का समस्त कार्य कलाप निर्विघ्नता से सम्पादित हो सकेगा जिसके द्वारा सारा राष्ट्र समृद्धिशाली हो सकेगा। राज्य की रक्षा के लिए राजा जब समदृष्टि होकर उसका संरक्षण पूर्ण उत्तर-दायित्व से करता है तो उसकी सारी प्रजा अत्यन्त प्रसन्न मन से उस राज्य में निवास कर सकती है। जिसके अभाव में सब का अभाव हो सकता है और जिसके रहने पर सभी लोग प्रसन्नता से रह पाते है एवं सभी बातें ठीक ठीक चल सकती हैं, ऐसे राजा के प्रति किसकी श्रद्धा न उत्पन्न हो सकेगी। राजा राष्ट्र का जो गुरुतर भार वहन करता है उसके लिए उस राजा का जो प्रिय और हितकार्य करता है वह इस लोक में तथा परलोक में सदा सुखी होता है। राजा से सुरक्षित राष्ट्र के जो लोग उस राजा का अनिष्ट सोचते या करते हैं वे इस लोक तथा परलोक में दुःखी रहते हैं। राजा को सामान्य मनुष्य समझ कर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। राजा में ईश्वर की कोई विशेष शक्ति अपने हित के लिए अवतीर्ण हुई है, ऐसा जानना एवं मानना चाहिये।

यही बात मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के ८ वें श्लोक में कही गई है। राष्ट्र का रक्षक राजा प्रयोजनानुसार पाँच प्रकार का रूप धारण करता है—कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर, कभी यमराज। जिस समय राजा उग्रतेज युक्त होकर पापियों को दण्ड देता है तब वह अग्नि मूर्ति होता है। जिस समय राजा गुप्तचरों के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से सारे राष्ट्र का अवलोकन कर उसकी रक्षा आदि के लिए अनेक कार्य करता है तब राजा सूर्यमूर्ति कहलाता है। जब राजा उग्रमूर्ति धारण कर पापियों के विनाश में प्रवृत्त होता है, उस समय राजा को मृत्यु स्वरूप माना जाता है। जिस समय राजा सम दृष्टि होकर स्थिर चित्त से दुराचारियों को तीक्ष्ण दण्ड से दण्डित करता है एवं सज्जनों की कृपा-परिभूत हो रक्षा करता है उस समय राजा को यममूर्ति कहा जाता है। जिस

समय राजा धन द्वारा प्रजा को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता है तब राजा को कुबेरमूर्ति कहा जाता है। यही राजा जब प्रसन्न होकर सत्कर्मकारियों को श्री-समृद्ध करता है तथा दुष्कर्मकारियों की सब तरह की सम्पत्ति को नष्ट करता है, उस समय इसको कुबेर की मूर्ति समझा जाता है। ये सब बातें मनु के सातवें अध्याय के सातवें श्लोक में कही गई हैं। वेद में भी ये सब बातें अति विस्तृत रूप से कही गई हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय के ३५० वें श्लोक की व्याख्या बालक्रीड़ा में वे सब श्रुतियाँ दिखाई गई हैं। ऐसे राजा का विरोध करना राष्ट्रवासियों के लिए कभी संगत नहीं कहा जा सकता।

राजा का विरोधी व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता वह चाहे राजा का पुत्र, भाई, मित्र, कोई भी सम्बन्धी क्यों न हो। जो कोई भी राजा का अनिष्ट करेगा वह सुख से नहीं रह सकता। राजविरोधी व्यक्ति का परिणाम बड़ा भयावह होता है। किसी दशा में भी राजा का धन अपहरण नहीं करना चाहिए। हरिण जैसे अपने पकडने के पाश को छूते ही पकड़ा जाता है, वैसे ही राजा का धन अपहरण करने वाला व्यक्ति सद्यः नष्ट हो जाता है। राष्ट्रवासी प्रत्येक व्यक्ति जैसे अपने धन की रक्षा करता है, वैसे ही सब को राजधन की रक्षा करनी चाहिये। राजधन का अपहरण करने वाला व्यक्ति नरक में जाता है। प्रजा को रंजित करने से ही राजा कहलाता है। प्रजा को सब तरह के सुख का अधिकारी बनाता है, इसीलिए राजा को भोज भी कहा जाता है। अनेक तरह के मृदु, तीक्ष्ण आदि रूप धारण करने के कारण उसको विराट् कहा जाता है। अत्यन्त श्रीमान् होने से उसको सम्राट् कहा जाता है। विपत्तियों से प्रजा को बचाता है इससे उसको क्षत्रिय कहा जाता है, एवं पृथ्वी का सब तरह कल्याण करता है इसलिये उसको पृथ्वीपति कहा जाता है। दण्डनीतिशास्त्र की ये सब बातें वृहस्पति ने कोशल राज बसुमना को कही हैं। महाभारत के शान्तिपर्व ६८वें अध्याय में वृहस्पतिनीति समुपवर्णित है।

शान्तिपर्व के १०३ रे अध्याय में इन्द्र-वृहस्पति संवाद वर्णित हुआ है। उसमें इन्द्र ने वृहस्पति से पूछा है कि शत्रुओं के साथ हम किस तरह का व्यवहार करें। शत्रुओं का सर्वथा विनाश किये बिना हम कैसे उनको संयत कर के रख सकते हैं? युद्ध के द्वारा शत्रु का विनाश किया जा सकता है। किन्तु सेना की सहायता से जो युद्ध किया जायगा उससे हमारी एकान्त जय की आशा नहीं की जा सकती। सुतरां किस उपाय से हमारा प्रताप सर्वत्र फैल सके वह बतलाइये।

इन्द्र के इस प्रश्न के उत्तर में राजधर्मवेत्ता वृहस्पति जी कहते हैं:

हे देवराज! केवल युद्ध से शत्रु को पराजित करने का प्रयास करना उचित नहीं। असहिष्णुता से अत्यन्त क्रोधित हो सहसा शत्रु से युद्ध करना नितान्त बालकोचित कार्य है।

जिस शत्रु को मारना भी हो उससे भी प्रत्यक्ष रूप में शत्रुता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। शत्रु के ऊपर क्रोध दिखाना और शत्रु के प्रताप से डर जाना तथा शत्रु को नष्ट करके हर्ष प्रकट करना—इन तीनो बातों में संयत रह कर बाहर प्रकट न होने देना चाहिये। किसी भी तरह से क्रोध को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए शत्रु के प्रति अपना आनुगत्य प्रकट कर देना चाहिए। हृदय में शत्रु के प्रति अत्यन्त अविश्वास रखते हुए भी प्रकट रूप में अत्यन्त विश्वसनीय की तरह व्यवहार करना चाहिए। शत्रु के लिए भी प्रत्यक्ष रूप में नित्य प्रिय वाक्यों का ही प्रयोग करते रहना चाहिये। उससे भी अप्रिय व्यवहार नहीं करना चाहिए। किसी से भी शुष्क वैर नहीं करना चाहिए। जिस शत्रुता से कुछ लाभ न हो, केवल क्रोध मात्र की शान्ति ही हो सके उसको शुष्क वैर कहते हैं।

शत्रु के प्रति कटूक्तियों की वर्षा करके कभी भी क्रोध को शान्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जो लोग पक्षियों को पकड़ कर ही अपनी जीविका चलाते है (अर्थात् व्याध जाति के लोग जिनको वैतंसिक बहेलिया कहा जाता है) ये बहेलिये जिस समय जिस पक्षी को पकड़ने का प्रयास करते हैं, उस समय उसी पक्षी की बोली बोलते हैं। उस पक्षी की तरह आवाज करके वे बहेलिये उसको विश्वस्त कर लेते हैं, फिर सहसा उसको पकड़ लेते हैं। राजा भी इसी तरह बहेलिये की वृत्ति अवलम्बन कर शत्रु को अपने वश में करके उसको मार डाले। बृहस्पति फिर और कहते हैं कि शत्रु को पराजित करके भी विजेता राजा उसकी तरफ से सर्वथा निश्चिन्त न हो जाय। कारण, शत्रु पराजित होने पर भी अपना प्रतिशोध लेने का विचार अपने हृदय में बनाये ही रखता है। शत्रु दबी हुई अग्नि की तरह रहता हुआ अवसर की प्रतीक्षा करता है और अवसर प्राप्त होने पर प्रज्वलित हो उठता है। शत्रु के प्रति भयानक क्रोध है, इसी कारण से सहसा युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो जाना चाहिये। युद्ध में सदा ही सब जगह एकान्तिक जय नहीं हुआ करती। इसलिए शत्रु को अपने प्रति पूर्ण विश्वस्त बना कर क्रमशः उसको वश में करना चाहिए। शत्रु को वश में कर लेने पर अच्छी उचित सलाह देने वाले मन्त्रियों के साथ सलाह करके कर्त्तव्य का निश्चय कर लेना चाहिये। शत्रु के द्वारा उपेक्षित एवं अपमानित होने पर भी राजा कभी हृदय में हार न माने, क्योंकि हृदय की हार जान लेने पर शत्रु पराजित होने पर भी कभी मौका पाकर अपने ऊपर आक्रमण कर देगा। राजा शत्रु के साथ व्यवहार करते समय बहुत अधिक सतर्क रहे। अत्यन्त विश्वस्त व्यक्तियों के द्वारा शत्रुराज्य की व्यवस्था को विशृंखल कर दे। इस तरह राजा शत्रुराष्ट्र में अत्यन्त गुप्त भाव से सब काम करे। इस तरह के गुप्त कार्यों को करते समय कार्य के प्रारंभ, मध्य तथा परिणाम में विशेष ध्यान रखना चाहिए।

शत्रु सेना को अनेक युक्तियों से राजा के प्रति विरक्त कर देना चाहिये; तथा शत्रु सेना के प्रधान प्रधान व्यक्तियों को रिश्वत देकर सेना में आपस में विरोध पैदा कर देना चाहिए एवं अनेक औपनिषदिक प्रकरण में बतलाई गई औषधियों के द्वारा शत्रु सैनिकों को युद्ध में अयोग्य बना देना चाहिए। यह औपनिषदिक प्रकरण कौटिल्य अर्थशास्त्र के चौदहवें अधिकरण में वर्णित हुआ है।

विजिगीषु राजा सहसा ही शत्रुराजा के साथ लड़ाई करने को तत्पर न हो जाय। पूर्वोक्त क्रम से शत्रु को वश में करने के लिये यदि अधिक समय भी अपेक्षित हो तो समय लगने दे, समयाधिक्य से उद्विग्न न हो उठे। शत्रुराजा जब तक विजिगीषु राजा के प्रति पूर्ण विश्वस्त न हो जाय तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। कभी भी शीघ्रता करके प्रत्यक्ष रूप में शत्रु पर आक्रमण न करे। जो राजा निश्चित रूप से अपनी जय चाहे वह कभी भी जल्दबाजी से शत्रु पर आक्रमण न करे। शत्रुराजा के साथ प्रकट रूप में मन मुटाव बढ़ाने वाला कोई काम न करे और न ऐसे कटु शब्द ही उसके लिए प्रयुक्त करे जिससे वह उत्तेजित हो उठे। विजिगीषु राजा जिस समय पूरी तरह से अपनी सेना अमात्य, कोष आदि की शत्रु-पराजय-सामर्थ्य की पूर्णता जान ले और इसके विपरीत शत्रु के सेनादिकों की असंपूर्णता समझ ले, उसी समय तनिक भी देर न कर शत्रु पर आक्रमण कर उसका उच्छेद करदे। शत्रु पर आक्रमण करने का अवसर हर समय नहीं मिलता। समय की प्रतीक्षा करता हुआ विजिगीषु शत्रु के विनाश का समय पाकर भी यदि उसके विनाश में प्रवृत्त नहीं होता तो फिर वह अवसर चूकने पर शत्रु का विनाश न कर सकेगा। शत्रु के विनाश का मौका बार बार नहीं आता। शत्रु पर चढ़ाई करने का समय न आने तक राजा अपने मित्रों का संग्रह करता रहे। शत्रु पर आक्रमण न करे। विजिगीषु राजा अपने काम, क्रोध, और अहंकार को छोड़ कर हर समय शत्रु की कमजोरियों की खोज करता रहे। शत्रु के छिद्रान्वेषण में कभी भी लापरवाही नहीं करनी चाहिये। एकान्त मृदुता या एकान्त उग्रता, निरन्तर आलस्य और असावधानता ये चार महादोष मूर्ख राजा को नष्ट कर देते हैं। इन चार महादोषों का परित्याग कर बुद्धिमान् राजा शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ हो सकता है।

गुप्त सलाह सब मन्त्रियों के साथ मिल कर नहीं करनी चाहिए। जिसके साथ जिस विषय की सलाह करने से कार्य सिद्ध होता जान पड़े, केवल उसी के साथ उस विषय की सलाह करना उचित है। अनेक व्यक्तियों के साथ गुप्त सलाह करने से वह मन्त्रणा अवश्य ही प्रकाशित हो जायगी एवं इस मन्त्रणा का प्रकट हो जाना ही घोर अनर्थ पैदा कर सकता है। यदि समझा जाय कि औरों की सलाह न लेने पर वे लोग इसमें विघ्न पैदा कर सकते हैं तो उनकी भी सम्मति ले लेनी होगी। सुगुप्त शत्रु के प्रति अभिचार (तान्त्रिक मारणादि)

क्रिया के द्वारा ब्रह्मदण्ड एवं प्रकट शत्रु के प्रति चतुरङ्गिणी सेना के द्वारा प्रकट दण्ड का विधान करना होगा। गुप्तरूप से शत्रु के राज्य में फूट डाल देना विजिगीषु राजा का प्रधान कार्य है। परराष्ट्र में भेद पैदा करने के लिए उस राष्ट्र के क्रोधी, लोभी, अपमानित, और भीत व्यक्ति ही उपयुक्त होते हैं। इनके द्वारा ही भेद डाला जा सकता है। इसी लिये क्रुद्ध आदि इन चार तरह के व्यक्तियों को कृत्यवर्ग कहा है। क्रोधी को उसके क्रोध का प्रशमन करके, लोभी को धन आदि देके, डरे हुए को अभय वचन देकर, एवं अपमानित को सम्मान प्रदर्शन कर शत्रुराजा से भेदित किया जा सकता है। इसलिये विजिगीषु राजा पहले से ही उक्त कृत्यवर्ग में भेद का प्रयोग करे जिसको दूसरे लोग जानने न पावें। मन्त्री, पुरोहित, युवराज और सेनापति में भेद डाल देने से शत्रुराजा अनायास ही नष्ट किया जा सकता है। इसलिये राजा को इनमें भेद डालने के लिए अत्यन्त गुप्तरूप से प्रयत्न करना चाहिये। क्रोधी, लोभी, अपमानित, और भीत, इन चार प्रकार के व्यक्तियों में ही भेद डाला जा सकता हैं। परराष्ट्र में अमात्य आदिकों में कौन व्यक्ति किस कारण से क्रुद्ध, लुब्ध, अपमानित और भीत हो सकेगा इसको जान कर उक्त भेद प्रयोग किया जा सकता है। यही भेद डालने का उपयुक्त समय है। शत्रु के प्रबल होने पर उसके प्रति दण्ड विधान असम्भव हैं, यह विचार कर पहले उनमें भेद डाल कर शत्रु को दुर्बल बना देना होगा।

शत्रुराज्य के अमात्य आदि में भेद डालकर उन अमात्यादिकों को अपने पक्ष में मिला कर फिर विजिगीषु राजा उन्ही व्यक्तियों के द्वारा शत्रुराजा का उच्छेद कर सकता है। शत्रु के विनाश करने में राजा को हर समय अति समाहित रहना चाहिये। कभी भी असावधानी नहीं करनी चाहिये। शत्रु जब असावधान हो, वही शत्रु के विनाश का समय है। इस बात को विजिगीषु राजा हर समय ध्यान में रखे। शत्रु के प्रबल होने पर विजिगीषु राजा उसके सामने नम्र हो जाय, अनेक तरह की भेंट आदि देकर उसको संतुष्ट रखने का प्रयास करता रहे, और उससे बड़ी ही मधुरता से बातें करे। इस तरह शत्रुराजा की इतनी सेवा करे जिस से वह उसको अपना ही समझने लगे।

जिन कामों के करने से शत्रुराजा के मन में सन्देह हो सके ऐसा कोई भी काम न करे। स्वयं शत्रुराजा का विश्वास कभी भी न करे किन्तु उसको अपने ऊपर विश्वस्त बना ले। शत्रुराजा कभी भी असावधान नहीं है यह विजिगीषु राजा सर्वदा स्मरण रखे। अनेक प्रकार के ऐश्वर्य को पाकर उसकी रक्षा करने के बराबर दूसरा कठिन काम नहीं है। इस ऐश्वर्य की रक्षा करने में हर समय ही अनेक विघ्न बाधायें आती रहती हैं। इसलिये राजा अनेक तरह की व्यवस्थाओं से शत्रु और मित्र का निरूपण सतर्कता से करता रहे। सभी तरह के मानवविघ्न ही शत्रु पक्ष से पैदा हो सकते हैं। राजा के एकान्त मृदु होने पर सब जगह

ही अपमानित होना होगा एवं अति तीक्ष्ण होने पर राजा से सारी प्रजा उद्विग्न हो उठेगी। इसलिये राजा को हर समय मृदु एवं हर समय तीक्ष्ण नहीं होना चाहिए। प्रयोजनानुसार किसी समय मृदु और किसी समय तीक्ष्ण होना उचित है।

बड़े वेग से बहने वाली एवं अगाध जल वाली नदी के किनारे खड़े वृक्षों के विनाश की शंका हर समय बनी ही रहती है। इसलिये राजा को अपने राज्य की रक्षा में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। विजिगीषु राजा को एक समय ही अनेक शत्रुओं के साथ युद्ध में प्रवृत नहीं होना चाहिये। किसी शत्रु से साम का, किसी से दान का, किसी के साथ भेद का प्रयोग करना चाहिये। कभी किसी से युद्ध भी करना चाहिये।

दण्ड द्वारा एक एक शत्रु का विनाश कर क्रमश. दूसरे शत्रुओं का दण्ड द्वारा उच्छेद करना उचित है। दण्ड द्वारा एक शत्रु का विनाश करने पर दूसरे शत्रु विक्षुब्ध न हो उठें इसका विजिगीषु राजा को पूरा ध्यान रखना चाहिये। प्रचुर कोष एवं प्रचुर सैन्य होने के कारण अनेक शत्रुओं पर विजय पा लेने का सामर्थ्य रखते हुए भी बुद्धिमान् विजिगीषु राजा को किसी अवस्था में भी अनेक शत्रुओं से एक साथ युद्ध नहीं छेड़ देना चाहिये। विजिगीषु राजा जब देखे कि हाथी, घोड़े, रथ और पदाति सेना उसके यहाँ पर्याप्त है, सारी ही फौज युद्ध के लिए तैयार है एवं युद्धोपयोगी अनेक तरह के स्थिर एवं चल यंत्रों की सुव्यवस्था है, कोष भी परिपूर्ण है तथा युद्धोपयोगी देश भी अनुकूल हो रहा है, बुद्धिमान् मित्र भी काफ़ी हैं, चतुरङ्गिणी सेना और उसके अधिनायक एवं अमात्य वर्ग सभी उसमें अनुरक्त हैं—इस तरह अपनी पूरी तैयारी जान कर तथा इसके विपरीत शत्रु की ये सभी बातें उल्टी हैं इसको निश्चित रूप से समझ कर तब शत्रु के साथ प्रकट रूप में युद्ध के लिए तैयार हो जाय एवं विलम्ब न कर शत्रुवर्ग का विनाश कर दे। इस बार्हस्पत्यनीति का सारा मर्म यही है कि प्रबल शत्रु के साथ साम वाक्यों का प्रयोग व्यर्थ समझ कर उसके प्रति गुप्त दण्ड का प्रयोग करना चाहिये। प्रबल शत्रु के साथ कभी भी प्रत्यक्ष रूप में शत्रु का सा व्यवहार नहीं करना चाहिये। किन्तु अनेक तरह के छल छद्मों से शत्रु का क्षय करना चाहिये। शत्रु के साथ कभी एकान्त मृदुता, या युद्ध के द्वारा एकान्त तीक्ष्णता का व्यवहार प्रकाश रूप में नहीं किया जाना चाहिये। इसलिये प्रच्छन्न रूप में अनेक उपायों से शत्रु को दुर्बल बनाता रहे और मौका पाते ही उसको नष्ट कर दे।

विजिगीषु राजा गुप्त रूप से अपने शत्रुओं को परस्पर लड़ा कर नष्ट करने का प्रयत्न करता रहे। शत्रु का बल नष्ट करने के लिए उसकी अनेक तरह की आमदनी के प्रतिरोध के लिए कपट नीति का प्रयोग करता रहे। इन सब कूटनीतियों का प्रयोग इस तरह गुप्त रीति से करे जिससे लोगों को उसके प्रति किसी तरह संदेह करने का अवसर न मिले। अत्यन्त विश्वासी गुप्तचरों को

शत्रुराज्य में तथा उसके नगर में घूमने के लिए इस तरह नियुक्त करे जिससे वे समस्त शत्रुराज्य के छिद्रों को विजिगीषु को सतत बताते रहें और विजिगीषु उनको जानकर शत्रु के विनाश की व्यवस्था गुप्त रूप से कर सके। इसी तरह अपने राज्य की त्रुटियों को जानने के लिए भी गुप्तचरों को नियुक्त करे जिससे अपने राज्य की त्रुटियों को जान कर शीघ्र ही उनका प्रतिविधान कर सके।

जो व्यक्ति अनेक प्रकार से शत्रुराज्य में उच्छङ्खलता पैदा कर सकें ऐसे बुद्धिमान् एवं अत्यन्त विश्वासी अपने राष्ट्र के रहने वाले विशेष योग्य व्यक्तियों को राजा झूठे अनेक दोष लगा कर अपने राष्ट्र से निर्वासित कर के शत्रु राज्य में तथा शत्रु के नगरों में भेज दे और प्रकाश रूप में उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ले। गुप्तरूप में उनको पर्याप्त धन दे दे जिससे वे वहाँ सुख से रह सकें। नीतिज्ञ विजिगीषु राजा इस तरह शत्रुराज्य में अपने अत्यन्त विश्वस्त एवं नीति प्रयोग में कुशल पुरुषों को भेज कर उनके द्वारा शत्रुराज्य का ध्वंस करा सकता है। इसका एक उदाहरण दशकुमार चरित्र के अष्टम उच्छ्वास में महाकवि दण्डी ने वर्णन किया है। हमने इस प्रबन्ध में पहले उसका आभास दे दिया है।

इसी तरह शत्रुराजा भी विजिगीषु के राजमण्डल में गुप्त रूप से अपने ऐसे योग्य व्यक्तियों को नियुक्त न कर सके इस पर विजिगीषु को पूरा ध्यान रखना चाहिए।

इसके बाद इन्द्र वृहस्पति से फिर पूछते हैं कि जो व्यक्ति गुप्त शत्रु है या जो राजा से विरक्त है ऐसे व्यक्तियों को जानने का क्या उपाय है? ऐसे कौन से चिन्ह हैं जिनसे दुष्ट भावापन्न व्यक्ति को जाना जा सके? इसके उत्तर में वृहस्पति कहते हैं कि जो दुष्ट भावापन्न व्यक्ति या जो जिस से गुप्तरूप में शत्रुता रखता है वह उसके पीछे उसके दोषों का वर्णन करेगा, उसमें गुण होते हुए भी अनेक तरह के कलंक लगावेगा। कोई दूसरा व्यक्ति भी यदि उसका गुण कहेगा तो वह नीचा मुँह करके चुप हो जायगा। उसके चुप होकर बैठने पर भी देखने से उसमें अनेक तरह के दुर्भाव लक्षित हो सकेंगे। वह बार बार अपना होठ चबाने लगेगा या सिर हिलाने लगेगा। उससे उस समय कुछ पूछा जाय तो वह असम्बद्ध बात बोलेगा। पीछे असाक्षात् में अनुकूल काम नहीं करेगा और साक्षात् भी इच्छापूर्वक कुछ नहीं बोलेगा। हर समय अलग ही रहना चाहेगा। एक साथ भोजनादि नहीं करेगा, सोने उठने बैठने में भी उसकी विलक्षणता दिखाई पड़ेगी। दुःख में दुःखी होना और सुख में सुखी होना यह मित्र का लक्षण होता है। इसके विपरीत शत्रु का लक्षण समझना चाहिये। इन समस्त लक्षणों से अनायास ही शत्रु और मित्र जाना जा सकता है। वृहस्पति के ये सारे नीति वाक्य सुनकर शत्रुहन्ता इन्द्र ने इन सब उपायों का ठीक ठीक प्रयोग किया और शत्रु को वश में कर लिया।

हमने सूत्राध्याय की आलोचना के प्रसङ्ग मे जो वार्हस्पत्यतन्त्र की बात कही थी वह तन्त्र आज संपूर्ण उपलब्ध न होते हुए भी इस तन्त्र के कुछ सूत्र (श्लोक) की जो याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ा नामक टीका में उद्धृत हुए हैं, हमने आलोचना कर दी हैं एवं महाभारत में भी जहाँ जहाँ वार्हस्पत्यतन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को लेकर आलोचनायें की गई है उन सब स्थलों का भी हमने आभास दे दिया है। इस तन्त्र का आकार क्या था और किस रूप में यह समग्र तन्त्र विरचित हुआ था यह कहना कठिन है। महाभारत में वार्हस्पत्यनीति श्लोकवद्ध पाई जाती है, किन्तु याज्ञवल्क्य की बालक्रीड़ा टीका में सूत्ररूप से उपनिवद्ध उद्धृत की गई है। महाभारत के राजधर्म २३ वें अध्याय की समालोचना करने पर ज्ञात होता है कि वृहस्पति ने जो नीतिशास्त्र प्रणयन किया उसने श्लोकोपनिबद्ध वाक्य भी थे। हम कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी देखते है कि वह सूत्ररूप में तथा श्लोकरूप में भी उपनिबद्ध हुआ है। वार्हस्पत्यतन्त्र में भी कौटिल्य अर्थशास्त्र की तरह सूत्र तथा श्लोक दोनों ही होंगे ऐसा प्रतीत होता है। प्राचीन ग्रन्थों की रचना प्रणाली के अनुसार यही ज्ञात होता है कि गद्यात्मक सूत्रों के द्वारा जो अध्याय निर्मित हुआ, उस अध्याय की समाप्ति में उस के सिद्धान्तों का सार संकलन करने के लिए कुछ श्लोक भी बना दिये गये। यह रीति कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी अनुसृत हुई है। एवं चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भी पाई जाती है। वेदों के ब्राह्मण भागों में भी यही रीति देखी जाती है।

भारद्वाज नीति

हमने पहले वृहस्पति के ज्येष्ठ पुत्र भरद्वाज की बात कही हैं। वृहस्पति जैसे नीतिशास्त्र के प्रणेता आचार्य हैं वैसे ही वृहस्पति के पुत्र भरद्वाज भी नीतिशास्त्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य थे। महाभारत के आपद्धर्मपर्व के १४० वें अध्याय में इस भारद्वाज नीति की आलोचना की गई है। महाभारत के उक्त अध्याय में नीतिशास्त्र के प्रवक्ता आचार्य को भारद्वाज कह कर निर्देश किया है। भरद्वाज वंशोत्पन्न होने से भारद्वाजनीति वार्हस्पत्यनीति की एक शाखा ही हैं। यद्यपि आपद्धर्म के १४० वें अध्याय में भारद्वाज प्रोक्त नीति कही गई है तो भी भगवान् भरद्वाज नीतिशास्त्र के प्रवक्ता थे यह बात हमने राजधर्मपर्व के ५८ वें अध्याय के ३ रे श्लोक की उक्ति के अनुसार बतला दी है। इसलिये भगवान् भरद्वाज भी वृहस्पति के समान नीतिशास्त्र के प्रणेता हैं एवं भरद्वाज प्रणीत शास्त्र भी वार्हस्पत्य शास्त्र के द्वारा प्रभावित हो सका यह कहा जा सकता है। आपद्धर्म के १४० वें अध्याय में जो भारद्वाज नीति कही गई है, इसी के अनुरूप एक और अध्याय आदिपर्व में है। आदिपर्व १४० वें अध्याय में जो

कणिकनीति वर्णित है वह भी इस भारद्वाज नीति के अनुरूप ही है। वह हम कणिकनीति की आलोचना के प्रसंग में बतलायंगे।

सौवीर राज शत्रुंजय एक समय राजनीति जानने के लिए भारद्वाज के पास गये। राजा शत्रुंजय भारद्वाज से पूछने लगे कि राजा किस तरह अलब्ध पृथ्वी का लाभ एवं लब्ध भूमि का विवर्धन तथा विवर्द्धित का परिपालन एवं परिपालित-वस्तुओं का योग्य पात्रों को दान कर सकता है। ठीक इसी तरह की बात मनु-संहिता के सप्तमाध्याय के ९९ वें श्लोक में कही गई है, एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के ३१७ वें श्लोक में भी यही बात वर्णित है। कामन्दक नीति-शास्त्र में प्रथमाध्याय के १८ वें श्लोक में भी यही बात कही गई है।

मनुसंहिता में कहा गया है कि, अर्जन (संग्रह), अर्जित का रक्षण एवं परि-वर्द्धन और परिवर्द्धित का दान, ये चार बातें ही सर्वविध पुरुषार्थों का मूल है— "एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्"। इस श्लोक के भाष्य में मेधातिथि कहते हैं कि राजा कभी भी ब्राह्मणों की तरह प्राप्त वस्तु से ही सन्तुष्ट न हो जाय किन्तु सर्वदा अलब्ध वस्तु के अर्जन एवं रक्षण में तत्पर रहे। कोई भी व्यक्ति यह न समझे कि हमारे पास जो धन है उसे बढ़ाने की ज़रूरत नहीं है या हमारे पास जो विद्या है उसको परिवर्द्धन करने की आवश्यकता नहीं है, या हमारा जैसा स्वास्थ्य है उससे अधिक स्वस्थ होने की जरूरत नहीं है, या हम जो आयु भोग चुके हैं इससे अधिक आयु की आवश्यकता नहीं है। किन्तु हर एक को ही अप्राप्त धन अनधिगत विद्या आदि को प्राप्त करने के लिए प्रयास करते रहना चाहिये। इसी तरह राजा भी मित्र, धन, भूमि आदि के लाभ के लिए सतत उद्योग करता रहे। जो अपनी वृद्धि के लिए प्रयास करते रहते हैं उनकी वृद्धि न होने पर भी अन्ततः लब्ध वस्तु की रक्षा तो इससे हो ही सकेगी, और जो वृद्धि के लिए प्रयास ही नहीं करते उनकी लब्ध वस्तु भी थोड़े ही समय में उनके हाथ से निकल जाती है। जो व्यक्ति अपनी वस्तुवृद्धि के लिए प्रयास न करके अपने को उतने से कृतार्थ मान कर बैठ जाते हैं उनमें आलस्य एवं दुर्व्यसन अपना स्थान बना लेते हैं। भारत के सभी नीतिशास्त्रकार इसमें एकमत हैं कि ब्राह्मणों की तरह प्राप्त वस्तु से ही राजा को सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। ऐसा करना राजा का एक महान् दोष है।

सौवीर राज शत्रुंजय के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भारद्वाज कहते हैं कि राजा हर समय उद्योगशील बना रहे। राजा सदा ही हाथी, घोड़े आदि सैन्य वर्ग को अनेक प्रकार से शिक्षित कराने की व्यवस्था करके इस चतुरङ्गिणी सेना को कार्यक्षम बनाये रहे एवं हाथी घोड़े, पदाति आदि के लिए उपभोग योग्य वस्तुएँ वस्त्रादि का यथोचित संग्रह करता रहे। इस तरह चतुरङ्गिणी सेना को सब तरह पूर्णांग रखने की जो चेष्टा करता है ऐसे राजा को 'उद्यत दण्ड' कहा जाता है। उद्यत-

दण्ड का अर्थ यह नहीं होता कि राजा हर समय हाथ में लाठी लिये बैठा रहे। सुशिक्षित चतुरङ्गिणी सेना को युद्धोपकरण युक्त बनाये रखने का ही नाम उद्यत-दण्डता है। राजा हर समय अपने पुरुषार्थ का परिचय देता रहे। राज्य की सीमा रक्षा के लिए प्रान्तपाल और प्रान्त स्थित पर्वत तथा जंगलों की रक्षा के लिए अधिकृत पुरुषों के द्वारा अधिष्ठित अस्त्र-शस्त्रों से सन्नद्ध पुरुषों को सदा तत्पर रखते हुए रक्षण कार्य में नियुक्त करे। सर्वदा पुरुषार्थ प्रकट करने का अर्थ शब्दों के द्वारा अपना दम्भ प्रकट करना नहीं है। महाभारत के इस श्लोक का अभिप्राय मनु के सप्तमाध्याय के १०२वें श्लोक में बतलाया गया है। राजा हर समय शत्रु के छिद्र ढूंढ़ता रहे और अपने छिद्रों को छिपाता रहे। राजा के जो जो विषय अरक्षित अथवा अन्यथा रक्षित हों, उनको ही राजा का छिद्र कहा जाता है। जैसे किले आदि की मरम्मत नहीं कराना, नदी में पुल न बँधवाना, वाणिज्य करने वालों के लिए सुदूर देशगामी मार्ग न बनाना आदि; कोष दण्ड आदि की कमी ही राजा के छिद्र होते हैं।

जैसे राजा को शत्रु का छिद्रान्वेषी होना जरूरी है वैसे ही उद्यत-दण्ड होना भी आवश्यक है। क्योंकि उद्यत-दण्ड राजा से सभी डरने लगते हैं। इसलिये राजा दण्ड से ही सबको अपने वश में कर सकता है। साम, दान, भेद और दण्ड इन चारों उपायों में दण्ड ही प्रधान होता है। राजा का यह दण्ड नष्ट होने से सब कुछ नष्ट हो जाता है। राजा और उसकी समृद्धि सब का ही मूल दण्ड है। जिसका दण्ड ठीक नहीं उसका कुछ ठीक नहीं। मूल नष्ट हो जाने से जैसे वृक्ष स्थित नहीं रह सकता, वैसे ही दण्ड के विनाश होने पर राजा का कुछ भी स्थिर नहीं रह सकता। राजा को शत्रुराजा के विनाश में यत्नवान् होना चाहिये। इसके बाद शत्रु के मित्र पक्षीय राजाओं के विनाश का यत्न करना चाहिये। विजिगीषु राजा सुमन्त्रणा पूर्वक जो कर्तव्य स्थिर करे तदनुसार ही पराक्रम दिखलावे और विक्रमानुरूप ही युद्ध में भी प्रवृत्त हो। जहाँ युद्ध में जय की आशा न दिखाई पड़े वहां अपनी सेना का व्यर्थ विनाश न करा कर युद्ध भूमि से भाग खड़ा होना ही उत्तम है। अपनी वृद्धि के समय विजिगीषु राजा का जैसे युद्ध करना कर्त्तव्य होता है वैसे ही आपत्ति के समय युद्ध से भागना भी कर्तव्य होता है। इसमें राजा को कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। विजिगीषु राजा प्रबल शत्रु के सामने बात चीत करने में अति विनीत रहे किन्तु हृदय में तेज छुरे की तरह तीक्ष्ण-धार बना रहे।

शत्रु के लिए भी मृदु शब्दों का प्रयोग करे। साधारण व्यवहार में कभी भी क्रोध वा काम के वशीभूत न हो। विजिगीषु राजा मतलब देख कर शत्रु के साथ संधि करके भी कभी शत्रु का विश्वास न करे। विजिगीषु राजा ने जिस मतलब से संधि की है वह उद्देश्य सिद्ध होने पर शीघ्र ही उस संधि की

शर्तें तोड़ दे। विजिगीषु राजा शत्रु के साथ बाहर से मित्ररूप में ही व्यवहार करे एवं शत्रु को जिस बात से उद्वेग हो सके ऐसी कोई बात न करे। मित्रवत् व्यवहार करने पर भी शत्रु से हर समय उद्विग्न बना रहे जैसे सर्प युक्त घर में लोग उद्विग्न रहते हैं। शत्रु की वृद्धि जिस से विभ्रष्ट हो जाय इसके लिए पिछली किसी भयानक घटना का उल्लेख कर उसको उद्विग्न कर अत्यन्त विश्वसनीय की तरह उस उद्वेग से उसको संभाल कर अपनी हितैषिता का पूर्ण परिचय दे देना चाहिये। दुर्बुद्धि शत्रु को आगे होने वाले झूठे भयानक परिणाम बतला देना चाहिये एवं बुद्धिमान् शत्रु को वर्तमान के ही अनिष्ट बतला कर उनके प्रति उसकी दृष्टि आकृष्ट करते हुए उसे शान्त रखना चाहिये।

विजिगीषु राजा को शत्रु के सामने हाथ जोड़ने में, शपथ खाने में, शत्रु के हृदय को सन्तोष देने वाले प्रिय मधुर वचन कहने में हिचकना नहीं चाहिये। यहाँ तक कि शत्रु के सामने अति नम्र होकर उसकी स्तुति करने लगे तथा उसके दु:ख में दु:ख प्रकाशित करने लगे। अपना अभ्युदय चाहने वाला राजा इन सब कामों के करने में ज़रा भी संकोच कभी न करे। अपने स्वार्थ के लिए शत्रु को कन्धे पर बैठा कर ले चले, और जब तक अपनी अच्छी दशा न हो जाय तब तक शत्रु का अनुगत बना रहे। अपनी अनुकूल दशा आने पर कन्धे पर बैठाये हुए शत्रु को जोर से जमीन पर पटक कर मार डाले। जैसे कन्धे पर रखे हुए मिट्टी के घड़े को जमीन पर पटक कर फोड़ दिया जाता है। भारद्वाज सौवीर राज शत्रुंजय को कहते हैं कि हे महाराज! बहुत समय तक जलने वाली ज्वाला रहित एवं धूमायमान तुषाग्नि की तरह अन्दर ही अन्दर जलते हुए जीवन बिताना विजिगीषु के लिए किसी भी तरह उचित नहीं।

धूमायमान दीर्घ जीवन की अपेक्षा तिन्दुक काष्ठ की तरह प्रज्वलित होकर मुहूर्त्त मात्र भी जीना अच्छा है। तिन्दुक लकड़ी जिस समय जलती है, उस समय इससे बहुत सी चिनगारियाँ निकलती हैं और उनमें चट् चट् शब्द हुआ करता है। बहुत सा प्रयोजन रखने वाला भी पुरुष कृतघ्न के साथ सम्बन्ध न रखे। अपना मतलब निकल जाने पर कोई अनुगत नहीं रहता है। अपना मतलब निकालने के लिए लोक जिससे मतलब निकालना है उसका सम्मान करता है किन्तु मतलब निकल जाने पर फिर उसकी उपेक्षा ही कर देता है। इसलिये प्रार्थी व्यक्ति को कोई कार्य निरवशेष रूप में सम्पन्न नहीं कर देना चाहिए। क्योंकि जब तक उसका मतलब पूरा सम्पन्न न हो सकेगा तब तक वह कार्य सम्पादक का अनुगत रहेगा। राजा को कोकिल का, शूकर का, शून्य गृह का, नट का और भक्ति-मित्र का स्वभाव अवलम्बन करना चाहिये।

कोयल जैसे अपने बच्चों का पोषण दूसरों से कराती है इसी तरह राजा अपने विशेष कार्य दूसरों से ही करा ले। शूकर जैसे जड़ को उखाड़ देता है राजा

भी शत्रु का मूलोच्छेन कर दे। सुमेरू पर्वत स्वभावत: अचंचल एवं अनुल्लंघनीय होता है वैसे ही राजा भी अचंचल एवं अनुल्लंघनीय हो। सूनाघर जैसे निराश्रय प्राणियों का आश्रय होता है इसी तरह राजा भी निराश्रितों को आश्रय दे। नट का स्वभाव होता है कि वह अनेक तरह के रूप धारण कर लेता है इसी तरह राजा भी प्रयोजनानुसार कभी प्रसन्न एवं कभी क्रुद्ध होता रहे। भक्ति-मित्र जैसे अपने आराध्य पुरुष की मंगल कामना करता रहता है ऐसे ही राजा भी अपनी प्रतिपाल्य प्रजा की वृद्धिकामना करता रहे। अपना अभ्युदय चाहने वाला दुर्बल राजा प्रबल शत्रु राजा का अनुवर्तन करता रहे।

जब तक वह समर्थ न हो सके तब तक शत्रुराजा का अनुवर्तन करे। जो राजा आलसी, हीन वीर्य, अभिमानी, और संसार के लोगों की समालोचनाओं से डरने वाला है, और जो सदा ही समय की प्रतीक्षा करता रहता है वह कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। विजिगीषु राजा को सदा ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिये जिससे शत्रु उसके कोष बल आदि की त्रुटि को न जान सकें।

विजिगीषु राजा की कोई कमजोरी जिससे शत्रु न जान सके और वह शत्रु की समस्त कमजोरियों को जान सके ऐसा प्रयत्न विजिगीषु को करना चाहिये। राजा अपने मण्डल में—लोभी, क्रोधी, भीत एवं अपमानित प्रकृति वर्ग को गुप्तचरों के द्वारा जानकर दान मान आदि के द्वारा उनको अपने अधीन कर ले। कछुआ जैसे अपने मुख पैर आदि सब अंगों को अपने अन्दर कर लेता है इसी तरह राजा भी राज्य के क्रोधी लोभी आदि प्रकृत वर्ग को दान-मानादि से अपने अधीन करले। अमात्य आदि प्रकृति के विरोध का कोई कारण हो जाने पर राजा शीघ्र उसका प्रतिविधान कर उनमें समता पैदा करदे। ये सब बातें मनु के सप्तमाध्याय के १०५ वें श्लोक में भी कही गई है। विजिगीषु राजा किसी कार्य के सम्पन्न न हो सकने पर निर्विण्ण (दु:खी) न हो। जैसे अति अगाध जल में रहने वाले मत्स्य समुदाय का पकड़ना दु:साध्य होने पर भी बगुला मिथ्या ध्यान-योग द्वारा उनको पकड़ सकता है, इसी तरह राजा भी चित्त के अतिशययोग से दुष्प्राप्य वस्तु को भी प्राप्त कर सकता है। हाथी की अपेक्षा कृश शरीर भी सिंह प्रबल एवं अति स्थूल शरीर वाले हाथियों के झुण्ड पर आक्रमण कर सकता है; ऐसे ही अल्प बल भी राजा अपनी सर्वशक्ति द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण कर सकता है। पशुपालकों की असावधानी को जान कर भेड़िया जैसे पशुओं को मार डालता है, इसी तरह विजिगीषु राजा दुर्गस्थित भी शत्रु राजा की असावधानी को जानकर उसको नष्ट करदे। खरगोश जैसे अस्त्र सज्जित व्याधों के बीच में फँस जाने पर भी अपनी कुटिल तीक्ष्ण गति से भाग जाता है ऐसे ही दुर्बल विजिगीषु राजा शत्रुओं से घिर जाने पर भी शत्रुओं को अनेक उपायों से विमुग्ध कर शत्रुओं के घेरे से निकल भागे। यह बात मनुसंहिता के सातवें अध्याय के १०६ वें श्लोक में कही गई है।

शराव पीना, जुआ खेलना, स्त्री संभोग, शिकार खेलना और गीत वाद्य आदि का परिमित मात्रा में ही राजा सेवन करे। इन सारे व्यसनों में आसक्त होकर राजा नष्ट हो जाता है। विजिगीषु राजा प्रबल शत्रु से आक्रान्त होने पर आत्म रक्षा का जो उपाय ठीक जँचे उससे आत्म रक्षा करे, और फिर कोई सुयोग प्राप्त होने पर शत्रु का विनाश करदे। यदि आवश्यक समझे तो हाथ का शस्त्र भी गिरादे। व्याध जैसे हरिण को मारने के लिए जंगल में मुर्दे की तरह पड़ कर पास में आये हुए हरिण को अचानक मार डालता है, इसी तरह विजिगीषु राजा भी मृगशायिका अवलम्बन कर शत्रु का विनाश करदे। अपनी प्रतिकूल दशा में राजा शत्रु की दुर्नीति देखकर भी अन्धे की तरह उसको न देखे, एवं सुनकर भी बहिरे की तरह उसको न सुने, किन्तु देश काल अनुकूल होने पर विपुल पराक्रम से शत्रु पर आक्रमण कर दे। असमय में वेमौके किया हुआ विक्रम निष्फल हो सकता है। जैसे जल में स्थलचरों का एवं रात्रि में रात्र्यन्ध जीवों का विक्रम निष्फल हो जाता है।

जो काल विजिगीषु के लिए उपयोगी है वह शत्रु के लिए अनुपयोगी होगा, एवं जो देश विजिगीषु के लिए उपयुक्त है, वह शत्रु के लिए अहित होगा। विजिगीषु राजा की जिस समय सैन्य, कोष, मित्र आदि की पूर्णता हो और शत्रु की इसके विपरीत दशा हो, अर्थात् उसकी सैन्य, कोष मित्र आदि सम्पत्ति क्षीण हो, उस समय विजिगीषु को शत्रु पर आक्रमण कर उसका विनाश साधन कर देना चाहिये। दण्ड द्वारा उपनत शत्रु का जो राजा विनाश नहीं कर देता वह अपनी मृत्यु की व्यवस्था अपने आप करता है। (जैसे मुहम्मद गोरी को पकड़ कर भी पृथ्वीराज ने छोड़ कर अपनी मृत्यु की व्यवस्था आप ही की)। विजिगीषु राजा कभी भी शत्रु से निष्कपट व्यवहार न करे। शत्रु के प्रति अनुकूल व्यवहार प्रदर्शन करने की आवश्यकता होने पर भी हृदय में अनुगत भाव न आने दे। शत्रु की कार्य सिद्धि के लिए सुसज्जित हो उस कार्य को कर उसका फल स्वयं कुछ न चाहे; फल मिलने पर भी अपने को उसके अयोग्य बताकर उसका फल स्वीकार न करे। किसी कार्य के अयोग्य होते हुए भी अपने को योग्य प्रमाणित करदे। अनेक उपायों से इसी तरह शत्रु का कालक्षेप करता रहे और अपने कोष एवं दण्ड संचय करने में दत्तचित्त रहे। जिनमें फूट डालनी है उनको अनेक तरह की आशायें दिखाकर अपने पक्ष में मिला ले। किन्तु सहसा ही उनकी वे आशायें पूरी न कर दे। समय पर सब आशायें पूर्ण हो सकेंगी यही प्रकाशित करता रहे। समय आने पर भी उनमें अनेक विघ्न डाल दे और उन विघ्नों के आने के कारण भी उनको बता दे, जिससे वे विश्वस्त रहें, किन्तु भेद्यवर्ग की आकांक्षायें संपूर्ण रूप में पूरी न कर दे। विजिगीषु राजा कभी भी शत्रु से निर्भय होकर न रहे एवं भय उपस्थित होने पर निडर होकर उसका प्रतिविधान करे। अना-

यास ही कोई किसी कल्याण का भागी नहीं हो जाता। कल्याण प्राप्त करने में अनेक विपत्तियों का सामना अवश्य करना पड़ता है। उन विपत्तियों का सामना करने पर यदि कोई जीवित रहता है तो वह कल्याण प्राप्त करता है। जो राजा शत्रु के साथ संधि करके विश्वस्त भाव से सुख की नींद सोता है, वह वृक्ष के ऊपर सोये हुए व्यक्ति के समान वृक्ष से नीचे गिर कर जागता है और फिर मृत्यु का ग्रास हो जाता है, वैसे ही वह राजा भी मृत्यु के पास पहुँच कर ही जागता है। विजिगीषु राजा किसी भी विपत्ति के आने पर अवसाद ग्रस्त न हो। मृदु या दारुण किसी भी उचित प्रकार से विपत्ति को पार कर स्वस्थ होने पर धर्माचरण करे। शत्रु पक्ष के जो शत्रु हों उनसे राजा मित्रता बढ़ावे एवं अपने मण्डल में शत्रु के भेजे हुए गुप्तचरों का पूरा संवाद जानता रहे। गुप्तरूप से अपने चरों को राजा अपने मण्डल तथा शत्रुमण्डल में भेजता रहे। कापटिक, उदास्थित, गृहपति व्यंजन, वैदेहक व्यंजन, और तापस व्यंजन इन पाँच प्रकार के गुप्तचरों के शत्रु राज्य में घूमने का पूर्ण प्रबन्ध करे।

१. कापटिक—दूसरों के मर्म को जानने वाले, प्रगल्भ, वृत्ति चाहने वाले छात्र को जो कपट व्यवहार जानने के लिए नियुक्त किया जाता है, कापटिक कहते हैं। इस कापटिक छात्र को राजा अपने पक्ष में मिला कर उससे कहे कि तुम जिसका जो दुराचार देखो वह उसी समय हमको बतलाते रहो।

२. उदास्थित—भ्रष्ट संन्यासी को उदास्थित कहते हैं। संन्यास से भ्रष्ट होकर जो व्यक्ति बुद्धिमान्, कार्य करने में समर्थ, लोक व्यवहार का वेत्ता हो एवं अपने लिये वृत्ति चाहता हो, तो उस भ्रष्ट संन्यासी को उक्त गुण सम्पन्न जान कर राजा अपने पक्ष में मिला ले। पहले की तरह दूसरों के दुराचारों को बतलाने के लिए शिक्षा देकर बहुत धन सम्पन्न मठ में उसके रहने का प्रबन्ध कर दे एवं अधिक अन्न पैदा होने वाली भूमि में पैदा होने वाले अन्न से वह भ्रष्ट संन्यासी अन्यान्य संन्यासियों के भोजन और वस्त्र की व्यवस्था कर सके इतनी भूमि उसे दे दे। यह संन्यासी शत्रुराज्य में संन्यासी के वेश में घूम कर शत्रुराज्य के पूरे समाचार विजिगीषु को देता रहेगा।

३. गृहपति व्यंजन—जो किसान क्षीणवृत्ति, बुद्धिमान् एवं लौकिक व्यवहार में निपुण हों, ऐसे किसान को जीविका चाहने वाला होने पर राजा अपने पक्ष में मिला कर पहले की तरह सब बातें बता दे और अपने ही राज्य में उससे खेती का काम कराने लगे। किसानों में जिस व्यक्ति की राज्य के प्रति दुर्नीतियाँ वह देखे उसको राजा के सामने प्रकट कर दे।

४. वैदेहक व्यंजन—जिसका व्यापार ठीक न चलता हो या जिसके व्यापार में अत्यधिक घाटा हो गया हो ऐसे व्यवसायी को यदि वह राज्य से वृत्ति चाहता हो तो अपने पक्ष में मिला कर राजा उसको पूर्व व्यक्तियों की तरह सब

बातें बतला दे एवं व्यापार के बहाने से उसको अपने तथा शत्रुमण्डल में घूमने दे।

५. तापस व्यंजन—भ्रष्ट ब्रह्मचारी या तापसी, जो बुद्धिमत्ता आदि गुणों से सम्पन्न हों और यदि वे राज्य से वृत्ति चाहते हों तो उनको राजा अपने पक्ष में मिला कर पहले व्यक्तियों की तरह सब बातें समझा दे एवं सुसमृद्ध गाँव के पास अथवा नगर के समीप ही कपट शिष्यों से युक्त करके रखे। वे कपटी शिष्य इस तापस व्यंजन (झूठा सिद्ध) की महिमा सब लोगों में फैलावें। वह दिन में कुछ न खाय रात्रि में छिप कर खूब भोजन करले तथा महीने दो महीने बाद प्रकट रूप में सब के सामने एक मुट्ठी भर जौ या चावल मात्र खाय। उसके वे कपटी शिष्य—गुरुजी को भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल का पूर्ण ज्ञान है, ऐसा लोगों में प्रचार करें। इससे उसके पास बहुत से आदमी आने लगेंगे। उस समय वह कपटी साधु उन लोगों से अनायास ही गुप्त और प्रकट सभी समाचार जान सकेगा।

इन पाँच तरह के गुप्तचरों का विवरण कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथमाधिकरण के सातवें प्रकरण में विस्तृत रूप से बतलाया गया है। इस प्रकरण का नाम "गूढ़ पुरुषोत्पत्तिः" है। राज्य का कण्टक वर्ग—चोर डाकू आदि प्रायः जिन स्थानों में रहते हों उन सब स्थानों की रक्षा का प्रबन्ध राजा विशेष रूप से करे और उन स्थानों में जो चोर डाकू पकड़े जाय उनके उचित दण्ड की व्यवस्था करे। जैसे उद्यान, विहार (बौद्ध भिक्षुओं के निवास स्थान), पथिकों को जल पिलाने के स्थान, धर्मशालायें, शराबखाने, तीर्थभूमि, सभा, इन सब जगहों में स्वभावतः बहुत से लोग इकट्ठे होते हैं एवं लोककण्टक (चोर और गठकटे आदि) भी वहाँ बहुत से घूमते रहते हैं। अतः राजा को इन सब स्थानों की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध करना चाहिये। राजा अविश्वासी व्यक्ति का तो विश्वास सर्वथा ही न करे; विश्वसनीय व्यक्ति का भी विश्वास अधिक मात्रा में न करे। राजा जहाँ जहाँ अधिक विश्वास करेगा वहीं से उसको आपत्ति आवेगी। इसलिये राजा अधिक छान बीन न करके कहीं भी पूर्ण विश्वास न करे। अनेक उपायों से अपने प्रति शत्रु राजा का विश्वास प्राप्त करके शत्रु की असावधानी पर पूरा ध्यान रखते हुए मौका पाकर शत्रु पर चोट करदे। अशंकनीय मित्रादिकों से भी राजा को सशंकित रहना चाहिये। मित्र राजा भी छिद्र पाकर अनिष्ट कर सकता है। इसलिये मित्रादिकों से भी शंकित रहना चाहिये और शंकनीय शत्रु से तो अधिक मात्रा में शंकित रहना ही चाहिये। शत्रु जब कभी भी और जिस किसी प्रकार का भी अनिष्ट कर सकता है। राजा मित्र से भी अशंकित न हो। अशंकित स्थान से भय होने पर उसका प्रतिकार असंभव है और उससे राजा का समूलोच्छेद हो सकता है। विजिगीषु राजा अनेक तरह के धार्मिक ढोंग बना

कर, यहाँ तक कि वस्त्र पहन कर, जटा बढ़ा कर, जिस किसी तरह भी शत्रुराजा को अपने प्रति विश्वस्त बनाले, और शत्रु किन किन बातों में लापरवाही कर रहा है, इसका पूरा ध्यान रख कर जिस विषय से शत्रुराजा बेखबर हो वहीं आघात करदे। जैसे पशुपालक की असावधानी जान कर भेड़िया पशु को उठा ले जाता है, वैसे ही विजिगीषु भी शत्रु की असावधानी जान कर उसका विनाश साधन करे।

पुत्र, भ्राता, पिता अथवा मित्र जो कोई भी राज्य का अनिष्टकारी हो राजा उसी को नष्ट करदे। राष्ट्र का विरोधी जो कोई भी हो वही राजा के लिए दण्डनीय होता है। यहाँ तक कि गुरु भी यदि दुर्नीति परायण होकर कुमार्गगामी हो तो राजा उसके लिए भी शासन व्यवस्था करे। तीक्ष्ण चोंच वाला पक्षी फूले फले वृक्ष को अपनी तेज चोंच से उसके फूल और फल को नष्ट कर देता है, इसी तरह विजिगीषु राजा भी कभी शत्रु के विरुद्ध खड़ा हो जाय। कभी प्रयोजन वश मृदु होकर शत्रु का अभिवादन भी करने लगे। कभी शत्रु को अनेक प्रकार की उत्तम वस्तुयें उपहार में देकर मृदु व्यवहार से उसका अनुगत भी हो जाय। फिर कभी मौका मिलने पर वृक्ष के पुष्प एवं फल की तरह शत्रु के पुरुषार्थ साधक उत्तमोत्तम वस्तुएँ नष्ट भी कर डाले। दूसरे का मर्मोद्घाटन किये बिना, दारुण निष्ठुर कर्म का अनुष्ठान किये बिना और शत्रु को नष्ट किये बिना कोई कभी समृद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। मत्स्यघाती जैसे मछली को मारने में कुछ हिच-किचाहट नहीं करता वैसे ही विजिगीषु भी शत्रु के मारने में ज़रा भी संकोच न करे।

शत्रु और मित्र की अलग अलग कोई जाति नहीं होती। प्रयोजनवश जो शत्रु है वही मित्र हो सकता है और जो मित्र है वही कारणवश शत्रु भी हो सकता है। शत्रु आपत्ति में फँस कर यदि कातरोक्ति भी करे तो भी विजिगीषु उसके प्रति कभी दयार्द्र न हो। एवं पूर्वापकारी शत्रु को अवश्य ही मार डाले। राजा सर्वदा मित्र संग्रह करता रहे और संगृहीत मित्रों पर अनुग्रह करता रहे, तथा शत्रु को नष्ट करने में सदा प्रयत्नशील रहे। मारने योग्य शत्रु से भी राजा प्रिय बातें कहता रहे एवं मारते समय भी उससे प्रिय वाक्य ही बोले। तलवार से उसका सिर काट कर भी उस के लिए शोक प्रकाश करे और रोने लगे। इस तरह शत्रु के प्रति प्रिय वाक्य बोल कर तथा अनेक उत्तमोत्तम वस्तुयें भेंट में देकर एवं शत्रु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए अपनी सहनशीलता का परिचय करा कर, लोगों को अपनी सज्जनता से अपने प्रति अनुरक्त रखे।

राजा कभी भी शुष्क बैर अर्थात् बे मतलब शत्रुता न करे। जिस शत्रुता से अपना कुछ मतलब सिद्ध न हो ऐसा बैर गोश्रृंग चर्वण (गौ के सींग को चबाने) की तरह नितान्त अकल्याणकर होता है। जो गौ के सींग को चबाने का प्रयास करता है उसके दाँत तो नष्ट हो ही जाते हैं एवं चर्वित श्रृंग से

कुछ रस भी नहीं मिलता। इसलिये गोशृंग चर्वण की तरह शुष्क बैर कभी नहीं करना चाहिये। धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग को समान रूप में ही सेवित करना चाहिये। इनमें से किसी का भी अधिक सेवन करने पर दूसरों पर आघात होगा। धर्म अति मात्रा में सेवित हुआ तो अर्थ के लिए घातक होगा, अर्थ-साधन मात्र में ही लगे रहने पर धर्म पीड़ित होगा, एवं अति मात्र काम लोलुप होने पर धर्म और अर्थ दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। इसलिये उक्त त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का इस तरह सेवन करना चाहिये जो एक दूसरे का बाधक न बन सके। ऋण, व्याधि, अग्नि और शत्रु इनको कथंचित् शान्त कर देने पर भी ये निःशेष न होने से फिर बढ़ सकते हैं। इसलिये इनको निरवशेष रूप से ही नाश करना उचित है। इनका शेष न रहने दिया जाय। ऋण चुका देने पर भी यदि कुछ शेष रह जाता है तो वह समय पाकर बढ़ने पर ऋणकर्ता के लिए भय का कारण बन जाता है। इसी तरह पराभूत शत्रु भी उपेक्षित होने पर समय पाकर अधिक सम्पत्तिशाली होने से भय का कारण हो उठता है। इसी तरह व्याधि भी सामान्य चिकित्सा से शान्त सा होकर पथ्यादि की उपेक्षा से फिर बढ़ सकती है और भय का कारण होती है। इसी तरह अग्नि भी सावशेष शान्त होने पर वायु आदि की सहायता से परिवर्द्धित हो भयानक हो उठती है। इससे इन चारों को ही निरवशेष नष्ट कर देना चाहिये। विजिगीषु को कभी भी इनसे असावधानी नहीं रखनी चाहिये।

शरीर में लगे हुए काँटे का आधा भाग निकाल देने पर भी उसमें तकलीफ बनी ही रहती है। एवं वह आधा भाग ही अनेक तरह के विकार का कारण बन जाता है। इसी तरह आधे किये हुए काम से भी कुछ फल नहीं होता। शत्रु विनाश में असमर्थ होने पर शत्रु का अपचय (ह्रास) अथवा पीड़न या कर्षण करना चाहिये। उच्छेद, अपचय, पीड़न और कर्षण इन चार तरह के कार्यो का शत्रु के प्रति प्रयोग करने के लिए विजिगीषु को सर्वदा तैयार रहना चाहिये। शत्रु को राज्य से च्युत कर देने को उच्छेद कहते हैं। शत्रुराज्य का कुछ अंश नष्ट कर देना अपचय कहलाता है। शत्रु के किसी प्रधान पुरुष (मन्त्री, सेनापति आदि) को मार डालना पीड़न कहा जाता है। शत्रु के कोष दण्ड आदि का विनाश कर देना कर्षण कहलाता है। विजिगीषु राजा शत्रुराज्य के इन चारों कार्यों को करने के लिए सदा उद्युक्त रहे।

विजिगीषु राजा को गीध की तरह दूरदर्शी होना चाहिये। बगुले की तरह स्थिर भाव से ध्यानशील होना चाहिये। कुत्ते की तरह सदा जागरूक स्वभाव होना आवश्यक है। एवं कुत्ते की ही तरह शत्रु की खोज में निरत रहना चाहिये। सिंह की तरह विक्रमशील और अनुद्विग्न होना चाहिये। कौआ जैसे दूसरों की चेष्टाओं को समझ लेता है, राजा को भी उसी तरह दूसरों की चेष्टाओं

को समझ लेना चाहिये। साँप की तरह अचानक दूसरों के दुर्ग आदिमें राजा को प्रवेशशील भी होना चाहिये। विजिगीषु राजा प्रबल शत्रु के सामने नम्र हो जाय, भीरु शत्रु में भेद डाल कर वश में करने की चेष्टा करे, लोभी शत्रु को कुछ देकर निरस्त करे और समशक्ति के साथ युद्ध करे। विजिगीषु राजा को अपने मण्डल के मुख्य व्यक्तियों पर पूरी निगाह रखनी चाहिये, जिससे शत्रु के गुप्तचर उनमें भेद न डाल सकें। राजा के मित्रों को शत्रु पक्षीय राजा न अपना लें इस पर भी उसको पूरी निगाह रखनी चाहिये। विजिगीषु के मन्त्री आदि प्रधान व्यक्ति शत्रु के चारगणों से प्रभावित होकर अपने राजा से विरुद्ध न होने पावें और न आपस में ही वे एक दूसरे के प्रतिकूल हो सकें; इन सब बातों पर राजा को पूरी निगाह रखनी चाहिये। राजा केवल मृदु स्वभाव का होने पर भी सबके उद्वेग का कारण बन सकता है। इसलिये राजा को प्रयोजनानुसार कभी मृदु, कभी तीक्ष्ण होना चाहिये।

अमात्य वर्ग यदि राजा के विरुद्ध संघवद्ध हो सका तो राजा को शीघ्र नष्ट कर सकता है। बुद्धिमान् राजाको शत्रु के साथ विरोध करके 'हम शत्रु से बहुत दूर हैं, यहाँ हमारा वह कुछ नहीं कर सकता'—यह समझ कर कभी भी आश्वस्त होकर नहीं बैठ जाना चाहिये। क्योंकि बुद्धिमान् की भुजायें लम्बी होती हैं। इसलिये बुद्धि प्रभाव से ही वह सुदूरस्थ शत्रु का भी विनाश कर सकता है। उस विषय के पार जाने की चेष्टा राजा न करे जिसके वह पार न जा सकता हो। शत्रु का वह धन कभी भी राजा अपहरण न करे जिसको शत्रु जबर्दस्ती उससे छीन सके। ऐसे शत्रु को उखाड़ फेंकने की राजा चेष्टा न करे जिसके जड़से उखाड़ फेंकने की संभावना न हो। ऐसे शत्रु को मारने की चेष्टा न करे जिसका शिरश्छेद करना उसके लिए सम्भव नहीं।

भगवान् भारद्वाज राजा शत्रुंजय से कहते हैं कि हे महाराज! हमने अनेक क्रूर और नृशंस कार्यो का तुमको उपदेश दिया। इसका अभिप्राय यही है कि आपत्ति-काल में इन सब उपायों से काम लिया जा सके और अच्छी दशा में भी यदि कोई शत्रु राजा प्रतिकूलता के लिए इन सब कूटनीतियों का प्रयोग करे तो उनको राजा अनयास ही जान सके और उनका प्रतिकार कर सके। अच्छी दशा में दूसरे की प्रयुक्त कूटनीति का प्रतिविधान करने के लिए एवं आपत्ति के समय स्वयं इनका प्रयोग करने के लिए ही हमने यें सब उपदेश कहे हैं। किन्तु अपनी स्वस्थ दशा में स्वयं इन कूटनीतियों का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिये। सरल और कूट इन दोनोंही तरह की नीति का जान लेना आवश्यक है। कूटनीति का परिज्ञान बिना हुए शत्रु द्वारा प्रयुक्त कूटनीति का प्रतिविधान संभव नहीं हो सकता।

भगवान् भारद्वाज की नीति के अनुसार कार्य करके सौवीर राज शत्रुंजय सुवि-शाल राज्य के अधिपति हुए थे।

औशनसतन्त्र (शुक्रनीति)

हमने इस प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही भारतीय दण्डनीतिशास्त्र के प्रणेता आचार्यगणों की परम्परा दिखा दी है। उसमें पितामह (ब्रह्माजी), विशालाक्ष (शङ्कर), वृहस्पति आदि आचार्यगणों ने जो भिन्न-भिन्न दण्डनीतिशास्त्रोंका प्रणयन किया है, वह बतला दिया गया है। दण्डनीतिशास्त्र के प्रणेता आचार्यगणों में वृहस्पति और उशना (शुक्राचार्य) अधिक प्रसिद्ध हैं। रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में जहाँ तहाँ दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना के प्रसङ्ग में वृहस्पति और उशना का ही नाम उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। जैसे शान्तिपर्व के ३७वें अध्याय में कहा है कि भीष्म ने सब आचार्यगणों के पास जाकर अनेक विद्याएँ ग्रहण कीं। उनमें से वृहस्पति और उशना से राजनीति शास्त्र का अध्ययन किया। "वृहस्पति पुरोगाँस्तु देवर्षीनसकृत् प्रभुः। तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान्।। उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः। तच्च सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान् कुरुसत्तमः।।" इसका मतलब यही है कि, भीष्म ने अनेक प्रकार के उपचारों से सन्तुष्ट करके वृहस्पति आदि देवर्षिगणों से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया। उशना जिस नीतिशास्त्र को जानते हैं तथा देवगुरु वृहस्पति जिस नीतिशास्त्र को जानते हैं व्याख्या के सहित वे सब नीतिशास्त्र भीष्म ने उनसे अध्ययन किये।

रामायण उत्तर काण्ड के ६३वें अध्याय में वर्णन मिलता है कि कुश और लव जिस समय महर्षि वाल्मीकि के पास रामायण पढ़ते थे, उस समय की उनकी उपमा में कहा है कि अश्विनी कुमारद्वय जैसे शुक्राचार्य के पास अत्यन्त आदर के साथ नीतिशास्त्र पढ़ता था, इसी तरह कुश और लव वाल्मीकि के पास रामायण पढ़ते थे (१९ श्लो०)। इसी तरह महाभारत वनपर्व के ३२वें अध्याय में कहा है कि द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर से कहती हैं कि मेरे पिता महाराज द्रुपद ने मेरे भाइयों को राजनीति पढ़ाने के लिए अति विचक्षण एक ब्राह्मण को नियुक्त किया था। वह ब्राह्मण मेरे भाइयों को वृहस्पति प्रोक्त राजनीतिशास्त्र पढ़ाता था (६०।६१ श्लोक)। इसी तरह जहाँ तहाँ राजनीतिशास्त्र की आलोचना के प्रसङ्ग में वृहस्पति और उशना का नाम ही विशेष रूप से उल्लिखित हुआ है। उशना प्रणीत नीतिशास्त्र का बहुत जगहों में उल्लेख देखे जाने पर भी यह ग्रन्थ आज कहीं भी नहीं मिल रहा है। शुक्रनीतिसार नाम के जो ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध हैं, वे साक्षात् शुक्राचार्य प्रणीत न होने पर भी उनमें जो नीति-शास्त्र की उपादेय बातें पायी जाती हैं, वे सब बातें उक्त ग्रन्थ से ही ली गयी हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। इस ग्रंथ में तोप और बन्दूकों का वर्णन है और उनके चलाने आदि की व्यवस्था भी बतलायी गई है, तथा बारूद का व्यवहार और उसके बनाने की रीति भी वर्णित हुई है। शुक्रनीतिसार ग्रन्थ के चौथे

अध्याय के ७वें प्रकरण में क्षुद्रनालिक और वृहन्नालिक अस्त्रों के विषय में कहा गया है। क्षुद्रनालिक बन्दूक और वृहन्नालिक तोप होती है। "नालिकं द्विविधं ज्ञेयं वृहत् क्षुद्रविभेदतः" इत्यादि। शुक्रनीतिसार ग्रन्थ की समालोचना करने पर भारतीय राजनीतिशास्त्र की बहुत सी मूल्यवान् एवं आवश्यक बातें जानी जा सकती हैं।

महाभारत शान्तिपर्व के ५६ वें अध्याय में औशनसतन्त्र से दो श्लोक उद्धृत हुए हैं। उनमें कहा गया है कि वेदान्तविद् ब्राह्मण भी यदि शस्त्र लेकर रणभूमि में युद्ध के लिए आवे तो धार्मिक राजा क्षात्र धर्मानुसार उसको निगृहीत करे। यह वेदान्तवेत्ता ब्राह्मण होने के नाते उसकी उपेक्षा न करे।

आततायी का निग्रह करना ही धर्म है। आततायी का निग्रह न करना ही अधर्म है। आततायी का निग्रहरूप धर्म का अनुष्ठाता होने से आततायी ब्राह्मण का निग्रह करने वाला क्षत्रिय भी धर्म रक्षक ही हो सकता है धर्मघातक नहीं। शान्तिपर्व के ५७वें अध्याय में इमी औशनसतन्त्र से एक श्लोक उद्धृत किया गया है। जिसमें भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि उशना ने अपने नीतिशास्त्र में यह बात कही है कि सर्प जैसे बिल में रहने वाले चूहे आदि जन्तुओं को खा लेता है, वैसे ही पृथ्वी भी दो पुरुषों को ग्रास कर लेती है, एक तो युद्ध से परांमुख राजा और प्रवास (परदेश जाना) न करने की इच्छावाला ब्राह्मण। जो राजा शत्रुराजाओं से विरोध करने में डरता है वह कायर है; वह राजा स्वयं ही नष्ट हो जाता है और परदेश जाने की इच्छा न करने वाला ब्राह्मण भी विद्योपार्जन नहीं कर सकने से मूर्ख रह जायगा और मूर्ख ब्राह्मण की कोई गति नहीं होती है।

महाभारत शान्तिपर्व ११२वें अध्याय में कहा गया है कि अंग देश का राजा वसुहोम राज्य पालन के बाद वृद्धावस्था में जब वानप्रस्थ होकर वन में चले जाते हैं तब राजर्षि मान्धाता उस वसुहोम राजा के पास जाकर अति विनीत भाव से उनसे राजनीतिशास्त्र जानने की इच्छा करने लगे। मान्धाता कहने लगे कि आपने वृहस्पति प्रणीत सम्पूर्ण नीतिशास्त्र पढ़ा है। इसी तरह औशनस-शास्त्र भी पढ़ा है। इसलिए मैं आपसे नीतिशास्त्र जानना चाहता हूँ। शान्ति-पर्व के १३९वें अध्याय के ७१।७२ श्लोक में औशनसतन्त्र से दो गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं। इस अध्याय में कहा गया है कि उशना (शुक्राचार्य) ने असुर राज प्रह्लाद को ये दो गाथाएँ बतलायी हैं जिनका मतलब है कि जो व्यक्ति शत्रु के व्यवहार पर विश्वास करता है, या जो व्यक्ति शत्रु के वाक्यों पर श्रद्धा प्रदर्शित करता है, वह वाक्य चाहे सत्य हों या मिथ्या; इस प्रकार शत्रु के वाक्य पर विश्वास कर लेने पर उसका विनाश अवश्यम्भावी होता है। शत्रु के वाक्य पर विश्वास करके यदि कोई शत्रु के बतलाये मधु को लाने के लिए अग्रसर भी हो

तो वह मधुलाभ के लोभ से दौड़ता हुआ सूखे पत्ते आदि से ढँके हुए किसी गड्ढे में गिर कर मर जायगा। जिनके साथ बहुत दुःख देने वाला चिरकाल से वैर चला आता है उनका कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह वैर कभी शान्त नहीं हो सकता, इसकी वजह यह है कि शत्रुओं में से कोई व्यक्ति कभी शान्ति स्थापन का प्रयास कर भी ले तो उसके और वंशज लोग उसके उस पूर्व वैर को प्रज्वलित कर देंगे। पूर्व वैर को बतलाने वाले व्यक्तियों की शत्रुकुल में कभी कमी नहीं रहा करती। शत्रुवंश में ऐसे लोग होते ही रहेंगे जो पहले वैर को बतला कर शत्रुता को प्रदीप्त कर देंगे।

मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के १५४ वें श्लोक में राजा के आठ तरह के कर्म बतलाये गये हैं। इस अष्टविध कर्म को दिखाने के लिए भाष्यकार मेधातिथि ने औशनस तन्त्र से दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उक्त दोनों श्लोकों का अर्थ यही है कि अष्टविध कार्यों के प्रति राजा को पूरा ध्यान देना अत्यावश्यक है। १—प्रजावर्ग से कर आदि लेना, २—नौकरों को उचित समय पर वेतन आदि देना, ३—अनेक कार्यों के लिए अमात्य आदि को आदेश देना, ४—प्रत्यक्ष में ही जो कार्य बुरा फल देने वाले हों, और जो परकाल में परलोक में भय देने वाले हों उन कार्यों से अमात्यादिकों को तथा प्रजागणों को रोकना, ५—संदिग्ध कार्यों में कर्त्तव्य का निश्चय करना, ६—व्यवहार की व्यवस्था करना, ७—स्थापित किये हुए व्यवहार के अनुसार अर्थ आदि दण्ड की व्यवस्था करना, ८—बुरे कामों में निरत जनों के ठीक हो सकने की व्यवस्था करना। जो राजा इन आठ प्रकार के कार्यों के सम्पादन में नित्य निरत रहता है, शत्रुगण भी उसकी पूजा करते हैं एवं मरने के बाद वह स्वर्ग प्राप्त करता है। मेधातिथि ने इन आठ कार्यों की और तरह से व्याख्या की है। शुक्रनीतिसार के प्रथमाध्याय में भी (१२४।१२५ श्लोक में) राजा के आठ प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया गया है, किन्तु ये आठ कर्म औशनसतन्त्र से जो मेधातिथि ने बतलाये हैं, वे नहीं हैं।

शुक्रनीतिसार में कहा गया है कि राजा के ये आठ कर्त्तव्य कर्म होते हैं, जैसे—१—दुष्टों का निग्रह, २—सत्पात्र में धन दान करना, ३—प्रजा परिपालन, ४—राजसूय आदि यज्ञ करना, ५—राजकोष को बढ़ाना, ६—शत्रु राजाओं को दमन करके उनसे कर आदि लेने की व्यवस्था करना, ७—कर्षण और पीड़न आदि कर्मों के द्वारा शत्रुराष्ट्र का परिमर्दन, ८—साम्राज्य का परिवर्द्धन। मनुसंहिता में राजा के अष्टविध कर्म ही कहे हैं, किन्तु वहाँ यह नहीं बताया है कि ये आठ कर्म कौन कौन होते हैं। मालूम होता है कि राजनीतिशास्त्र में ये आठ कर्म अति प्रसिद्ध होने के कारण इन आठ कामों का पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। भाष्यकार मेधातिथि ने औशनसनीति से इन आठ कर्मों का नाम निर्देश कर दिया है।

हमारे विचार से शुक्रनीतिसारकार ने मनुप्रोक्त ही अष्टविध कर्मो की व्याख्या अन्य रूप में कर दी है। मेधातिथि और शुक्रनीतिसारकार दोनों ने ही राजा के कार्यों की संख्या तो आठ ही मानी है, केवल इन कर्मो के निर्देश करने में मतभेद हो गया है।

महाभारत वनपर्व में रामोपाख्यान में राम के साथ रावण का युद्ध वर्णित हुआ है। उसमें कहा है कि रावण ने औशनसतन्त्र में बतलाये हुए क्रम से अपना व्यूह बनाकर वानर सेना से युद्ध किया और श्री रामचन्द्र ने वृहस्पति प्रोक्त विधि के अनुसार उसका प्रतिव्यूह बना कर राक्षसों से युद्ध किया (२८५ अध्याय ६।७ श्लोक)।

इसी तरह और शास्त्रों में भी अनुसन्धान करने पर औशनसतन्त्र की बातें जानी जा सकेगीं। हमने जो शुक्रनीतिसार में तोप आदि के व्यवहार की व्यवस्था का उल्लेख किया है इस तरह का स्पष्ट उल्लेख और किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं पाया जाता है। केवल वनपर्व के २८४वें अध्याय के ३१वें श्लोक में जो शतघ्नी नामक अस्त्र की बात कही गई है वह तोप के अनुरूप ही कोई अस्त्र हो सकता है, यह बात ध्यान में आती है। श्लोक यह है—

"परिगृह्य शतघ्नीश्च सचक्राः सहुडोपलाः।
चिक्षिपुर्भुजवेगेन लंकामध्ये महास्वनाः॥"

शाम्बर नीति

वृहस्पति जैसे देवताओं के गुरु थे वैसे शुक्राचार्य भी असुरों के गुरु थे। वृहस्पति के द्वारा वार्हस्पत्य नीति का देवताओं में प्रसार हुआ और शुक्राचार्य के द्वारा औशनस नीति का असुरों में प्रचार हुआ। महाभारत में कई जगह शाम्बर नीति उद्धृत की गई है। यह शम्बर अति मायावी रूप में प्रसिद्ध था। शान्ति-पर्व में १०२ अध्याय में कहा गया है कि शत्रु को पराजित करके विजिगीषु राजा यदि उसको क्षमा करे तो विजिगीषु राजा का उससे यश बढ़ता है और शत्रु राजा उसके प्रति विश्वस्त हो जाता है। राजनीति का विशेषज्ञ शम्बर कहता है कि शत्रु को बिना जीते क्षमा कर देना उचित नहीं। कर्षण आदि कर्मों के द्वारा शत्रु को दबा देने के बाद ही क्षमा करना उचित है। शत्रु को बिना पीड़ित किये यदि पहले से ही क्षमा कर दिया जायगा, अर्थात् कर्षणादि कर्मो से शत्रु को आनत किये बिना मात्र साम दानादि द्वारा सामयिक आनत शत्रु को क्षमा कर देने पर वह शत्रु कभी शत्रुता नहीं छोड़ेगा। जैसे लकड़ी या बेंत को अग्नि में तपा कर यदि मोड़ा जाय तो उस लकड़ी या बेंत का टेढ़ापन स्थायी

हो सकेगा। अन्यथा बिना अग्नि में तपाये उनको मोड़ने से थोड़ी देर बाद वे जैसे के तैसे ही हो जायेगें। इसलिये शत्रु को इसी तरह पहले सन्तप्त करना होगा जिससे शत्रु फिर पहले की तरह उद्धत न हो सके। शान्तिपर्व १३० अध्याय में कहा है कि कोष, दण्ड, बल (सेना), और मित्र आदि को कभी भी हाथ से निकलने नहीं देना चाहिए; यही सब राज्य के मूल हैं। इनके हाथ से निकल जाने पर राजा स्वयं नष्ट हो जाता है। दूसरे के लिए कभी भी अपने वीज की खेती नष्ट नहीं कर देनी चाहिए। महामायावी शम्बर फिर यही कहता है कि जिस राज्य की प्रजा जीवन निर्वाह के लिए युक्त वृत्ति न मिलने से दुःखी हो जाय उस राज्य के राजा को धिक्कार है।

उद्योगपर्व के ७२वें अध्याय के २२वें श्लोक में कहा है कि इससे अधिक और पापीयसी वृत्ति नहीं हो सकती कि प्रतिदिन प्रातः उठते ही खाद्य वस्तुओं के अभाव में उनकी प्राप्ति के लिए चिन्तित होना पड़े। न तो प्रातःकालीन भोजन की व्यवस्था हो एवं न दिन के भोजन की ही व्यवस्था हो। प्रतिदिन सोकर उठते ही खाद्य वस्तुओं के अभाव में भोजन की दुश्चिन्ता के बराबर पापिष्ट व्यवस्था भारतीय सभ्यता में नहीं हो सकती है। इसीलिए शम्बरासुर की यह उक्ति उद्योगपर्व के १३४वें अध्याय के १२वें श्लोक में दुबारा कही गयी है और उसमें भी शम्बरासुर के नाम का उल्लेख हुआ है।

मातंग नीति

उद्योगपर्व के १२७वें अध्याय में महर्षि मातंग के नीतिवाक्य उद्धृत हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि मातंग भी एक नीतिशास्त्र के प्रणेता हुए हैं। हस्तिनापुर में भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय कौरवों के साथ पाण्डवों की सन्धि का प्रस्ताव रखते हैं उस समय महाराज दुर्योधन उसका प्रत्याख्यान कर देता है। दुर्योधन कहता है कि क्षात्रधर्मावलम्वी किसी भी राजा को डर से किसी के भी सामने नत होना उचित नहीं है। सच्चरित्र व्यक्ति के सामने अवश्य ही नत होना उचित है। राजा को सदा ही उद्योगशील होना चाहिए। कभी भी शत्रु के सामने झुकना नहीं चाहिए। भगवान् मातंग ने यही कहा है कि नष्ट हो जाना अच्छा है पर शत्रु के सामने झुकना अच्छा नहीं। अपना हित चाहने वाले राजा को भगवान् मातंग की इसी नीति का अनुसरण करना चाहिये (१९।२० श्लोक)।

कालकवृक्षीय नीति

शान्तिपर्व ८२ अध्याय में एवं १०४ अध्याय से १०६ अध्याय तक कालकवृक्षीय मुनि की राजनीति बताई गई है। इन मुनि महाराज ने कोशल देश के

राजा क्षेमदर्शी को राजधर्म बतलाये हैं। एक समय कोशल राज्य में राजा क्षेमदर्शी के अमात्यगणों ने, अत्यन्त दुष्ट प्रकृति होने के कारण, मिल कर अपने अपने अधिकृत कोषों से राजद्रव्य चुराना शुरू कर दिया। इन राजा के अमात्यों में से जो जो जिस जिस कार्य में नियुक्त थे उन उन कार्यों से मिलने वाले राजकीय द्रव्य को चुराकर राजा एवं राज्य को नष्ट करने का सफल उद्योग करने लगे। इसी समय कालकवृक्षीय मुनि राजा की इस दुर्नीति को जानकर एवं उसको ठीक करने के लिए पिंजरे में एक कौए को लेकर वायसी विद्या का प्रचार करने के बहाने कोशल राज्य में सर्वत्र घूमने लगे।

राज्य के मन्त्रियों ने इस मुनि को एक पागल ब्राह्मण समझ कर इसकी तरफ कुछ ध्यान नहीं दिया और अपने अपने दुष्कार्यों में पूर्ववत् लिप्त हो गये। मुनि भी अपने अभिप्राय को छिपाए रख सकने के लिए पिंजरे में कौए को लिये हुए राज्य में सर्वत्र बेरोक-टोक घूमने लगे और इससे उन मुनि महाराज ने अमात्यों के इन कुकृत्यों को निर्बाध जान सकने का अवसर पा लिया। ये सब अमात्य लोग किस तरह राजकोष का अपहरण कर रहे हैं, इन सब बातों को अच्छी तरह जानकर वे कालकवृक्षीय मुनि कौए को साथ लेकर राजा क्षेमदर्शी के पास आये और राजा से कहने लगे कि इस कौए के प्रताप से हम सब कुछ जान सकते हैं। इसकी महिमा से ही हम सर्वज्ञ हो गये हैं। यह बात उन्होंने सभा में बैठे हुए राजा क्षेमदर्शी से कही और उसकी सर्वज्ञता बतलाने के लिए राजसभा में बैठे हुए कई एक मन्त्रियों को लक्ष्य करके फिर बता दिया कि अमुक मन्त्री ने इस तरह राजकोष का धन अपहरण करके अमुक सुगुप्त स्थान में रख दिया है। इस कौए ने हमको ऐसा बता दिया है। कौए की इस बात की सत्यता जानने के लिए इसी समय वहाँ जाकर खोजो। इसी तरह मुनि ने और भी दो-चार राजद्रव्यापहारी मन्त्रियों को कौए की बात के अनुसार पकड़वा दिया। मुनि ने जिसके विषय में जो बातें कहीं इनमें से एक भी बात झूठी नहीं निकली। खोज कराने पर सब ही सत्य प्रमाणित हुए। इससे राजकोषापहरणकारी मन्त्रिमण्डल अत्यन्त शंकित हो उठा और इस पिंजरबद्ध कौए को मारने का उद्योग करने लगा। आखिर एक दिन रात्रि में गुप्त व्यक्तियों के द्वारा बाण से उस कौए को मरवा ही डाला। मन्त्रिवर्ग समझता था कि कौए ने ही अपहृत राजकोष की खोज बता दी है। कौए की महिमा से ही ब्राह्मण सारी बातें जानता एवं कहता है। यही बात सब लोगों में प्रचारित करना कालकवृक्षीय मुनि को अभीष्ट था।

उस समय मुनि ने राजा के पास बैठ कर गुप्तरूप से राज्य की सारी स्थिति राजा को यथार्थ रूप से बतला दी और यह भी कह दिया कि इन दुष्ट मंत्रियों ने जैसे कौए को मरवा डाला, ऐसे ही मुझको भी मरवाने का प्रयत्न

करेगें। इस राज्य की अवस्था इतनी भयावह हो गई है कि इन दुष्ट मन्त्रियों का बिल्कुल विश्वास नहीं किया जा सकता। यह कहकर मुनि दूसरी जगह जाने की इच्छा प्रकट करने लगे और राजा से बोले कि जैसे अनेक जहरीले साँपों से घिरा हुआ कुआँ सब के भय का कारण होता है, इसी तरह दुष्ट मन्त्रियों से परिवृत राजा भी सबके लिए भय का कारण बन जाता है। दुष्ट मन्त्रियों से परिवृत राजा की जो शोचनीय दशा होती है वह मुनि ने राजा को अच्छी तरह समझा दी और कह दिया कि इन दुर्वृत्त मन्त्रियों का परिशोधन बहुत जल्दी कर देना आवश्यक है। ये मन्त्री इतने दुर्वृत्त हैं कि तुमने ही इनको उच्च, उच्चतम पदों पर नियुक्त किया और तुमने ही इनका सर्वतोभावेन पालन किया किन्तु इस पर भी ये तुम्हारा ही सर्वनाश करने के लिए संघबद्ध हो नाशक प्रयत्न करने लग गये। सर्पयुक्त घर में रहना जैसे उद्वेगजनक होता है वैसे ही तुम्हारे राज्य में रहना भी उद्वेगजनक है। मैं इस राज्य के राजा एवं अमात्य गणों का कार्य विशेष रूप से जानने के लिए ही यहाँ रहा। मेरी यह इच्छा हुई कि देखूँ, इस राज्य का राजा जितेन्द्रिय है या नहीं? और अमात्य वर्ग राजा के वशीभूत हैं या नहीं? एवं राजा प्रजा को प्रिय है या नहीं? किन्तु मैंने जो देखा तथा जाना वह यह है कि यह राज्य दुष्ट मन्त्रिवर्ग से जर्जरित हो नष्टप्राय हो गया है। इसलिए मैं और अधिक तुम्हारे रा ज्य में रहना नहीं चाहता। तुम्हारे राज्य में मेरा रहना तुम्हारे मन्त्रियों को नितान्त बुरा मालूम हो रहा है।

मुनि की बात सुनकर राजा कहने लगा कि महाराज! मैं आप का बहुत सत्कार करूँगा। आप हमारी राजधानी में चिरकाल तक बास करें। आपका यहाँ रहना जिनको अच्छा नहीं लगे उनका रहना मैं अपने राज्य में नहीं चाहता। आप बताइये इसके बाद मुझे क्या करना चाहिये? जिस तरह कार्य करने पर राष्ट्र का कल्याण हो उसी तरह कार्य करने में मुझे लगाइये।

इसके उत्तर में मुनि कहने लगे कि हे महाराज! तुमको अपने मन्त्रियों का दोष तो अच्छी तरह स्पष्ट मालूम हो गया है। किन्तु इस समय इनको इनका यह दोष बता कर दण्ड देना उचित नहीं मालूम होता। क्योंकि ऐसा करने से यह दुर्वृत्त मन्त्रिवर्ग आपस में मिल कर राष्ट्र के विनाश का कारण बन जायगा। इस-लिये इस समय इनका दोष उद्घाटन न करके क्रमशः एक एक को हीन शक्ति करदो। फिर इनके कमजोर पड़ जाने पर इनका पूर्ण दोष सर्वतोभावेन बता कर इनके आखिरी दण्ड की व्यवस्था करो। ये सभी चोर हैं। एक ही तरह के दोष वाले अनेक व्यक्ति संघबद्ध होकर अति दुःसाध्य कर्म भी सम्पादन कर सकते हैं। मैंने ये सब बातें तुमसे अत्यन्त सुगुप्त रूप से कही है। इनको लेशमात्र भी कोई जानने न पाये। ये सब बातें कहकर मुनि फिर कहने लगे कि हे महाराज! मेरा नाम कालकवृक्षीय है। तुम्हारे पिता मेरे अभिन्न मित्र

हैं ऐसे राजाओं के साथ गुप्त संधि करके शत्रुवर्ग से उनका वैर भाव पैदा करदो एवं अपने गुप्तचरों द्वारा उनके मन्त्री आदि आभ्यंतर प्रकृतिवर्ग में भेद पैदा करके उनको अपने पक्ष में मिला लो।

अपने शत्रुओं को अपने गुप्तचरों की सहायता से अनेक प्रकार के कामज दुर्व्यसनों में आसक्त कर अनेकविध भोगोपभोग में लिप्त कर दो। भोगलिप्सु और व्यसनासक्त शत्रु स्वभावतः दुर्बल हो जायगा। शत्रु को नष्ट करने के लिये यही मृदु उपाय है। शत्रु को भोग और व्यसनों में इतना लिप्त कर दो जिस से शत्रु स्वयं ही नष्ट हो जाय। शत्रु के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि शत्रु अपने को शत्रु ही न समझ सके। कपटी गाढ़मित्र के रूप में रह कर शत्रु को दुष्कार्यो में लगा देना चाहिये। शत्रुराज्य में रहकर भी श्वेतकाकीय वृत्ति अवलम्बन कर शत्रु के विनाश में हर समय हर तरह से उद्यत रहना चाहिये।

श्वेतकाकीय वृत्ति का अर्थ यही है कि इसमें तीन शब्द मिले हुए हैं श्व, एत, काक। व्याकरण साधना से संधि करने पर श्वेतकाक शब्द उत्पन्न हो जाता है। इनमें श्वा शब्द का अर्थ कुत्ता होता है, एत शब्द का अर्थ हरिण, और काक प्रसिद्ध ही है। इन तीनों की भिन्न भिन्न वृत्ति है। कुत्ते की वृत्ति है जागरूकता—हर समय सतर्क रहना। हरिण की वृत्ति है भयचकितता (भय से सावधानता) कौए की वृत्ति है दूसरों की चेष्टाओं से उनका भाव जान लेना। इन तीनों की वृत्ति अवलम्बन कर शत्रुराज्य में रहना चाहिये। कपट भाव से गाढ़ मित्रता प्रकाशित करते हुए शत्रु को ऐसे कामों के लिये प्रोत्साहित करते रहना चाहिये जो काम बहुव्यय साध्य एवं चिरकाल में सम्पन्न हो सकने वाले हों। बलवान् शत्रु के साथ साक्षात् विरोध कभी भी नहीं करना चाहिये। नदी जैसे अपनी गति को रोकने वाले पर्वतों पर निष्फल आघात करती है, इसी तरह तुमको प्रबल शत्रु पर निष्फल आघात नहीं करना चाहिये। अनेक तरह के भोग व्यसनों में शत्रु को अधिकतम आसक्त करके उसका कोष क्षीण कर दिया जाय। अनेक प्रकार की पारलौकिक शुभ कल्पनायें बता कर तथा देवता और ब्राह्मणों की महिमा का वर्णन करके अनेक बड़े बड़े यज्ञ और दानादिकों में शत्रु को प्रवृत्त करदे। इससे शत्रु का कोष क्षीण हो जायेगा और उसके कोष से परिपुष्ट हुआ ब्राह्मण वर्ग तुम पर प्रसन्न हो जायगा।

धर्मकार्य का अनुष्ठाता पुण्यशील मनुष्य परमगति प्राप्त कर स्वर्ग में पुण्यतम स्थान पाता है, यही सब बातें बतला कर शत्रु को कोष क्षय कारक धर्मकार्य के अनुष्ठान में लगा दे। कोष क्षीण होने पर शत्रु स्वभावतः ही दुर्बल हो जायगा। फिर अति मात्र भोगासक्तिरूप अनुष्ठान में लगा कर शत्रु को क्षीण कोष कर दे। इस तरह महायज्ञादि धर्मानुष्ठान से तथा भोगासक्तिरूप दुर्व्यसनरूपी अधर्म से शत्रु का कोष क्षय करके उसको सर्वथा दुर्बल कर देना उचित है।

इस तरह धर्माधर्म के अनुष्ठान से क्षीण कोष होने पर दुर्वल शत्रु फिर शत्रुता करने में असमर्थ हो जायगा। अर्थबल नष्ट होने से शत्रु स्वयं ही आनत हो जायगा। शत्रु के सामने सदा दैव बल की प्रशंसा करते रहना चाहिये। दैव बल के सामने पुरुषार्थ सर्वथा अकिंचित्कर होता है। इसलिये पुरुषार्थ का ही अवलम्बन करना बुद्धिमान् का काम नहीं है। भाग्य पर भरोसा रखना ही बुद्धिमान् का काम है। इस तरह की बातें समझा कर शत्रु को पुरुषार्थ से उपरत कर देना चाहिये। केवल दैव पर ही भरोसा रखने वाला शत्रु स्वभावतः स्वतः ही नष्ट हो सकेगा। विश्वजित् आदि सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञों में शत्रु को लगादे। उसमें प्रवृत्त हो शत्रु अपना सर्वस्व यज्ञ में लगा देगा। इससे वह क्षीण वित्त हो सर्वथा दुर्वल पड़ जायगा। शत्रु के राष्ट्र में अनेक तरह की दुःख दुर्दशाओं की बातें शत्रु के सामने विशेष बढ़ा चढ़ा कर कहे और फिर उन दुःख दुर्दशाओं के प्रतिशोध के लिये ऐसी योजनायें शत्रु के सामने रखे जो अधिकतम व्यय साध्य एवं अल्प-फलप्रद हों। परममित्र के रूप में शत्रु के पास रह कर उसको ऐसे सुझाव देते रहना चाहिये जिससे उसका कोष सर्वथा रिक्त हो जाय। कपटी पुरुषों के द्वारा अनेक सिद्ध औषधियों का प्रयोग करा कर शत्रु के हाथी घोड़े और पदाति सैन्य को नष्ट कर दे। इसी तरह और भी अनेक प्रकार के दण्ड प्रयोगों द्वारा बुद्धिमान् पुरुष प्रबल शत्रु को भी पीड़ित कर सकता है।

यही सब राजनीति के उपदेश कालकवृक्षीय मुनि ने कोशल राज क्षेमदर्शी को दिये हैं। मुनि द्वारा उपदिष्ट इस कूटनीति को अपनाने में राजा क्षेमदर्शी को तैयार होते न देख मुनि ने राजा की सज्जनता, दीर्घदर्शिता एवं उत्साहशीलता आदि गुणों का परिचय पा, उसके शत्रु विदेह राज को इसके साथ मित्र भाव से संधि कर लेने का अनुरोध किया और कहा कि यह उत्साही कोशल राज अत्यन्त दबाये जाने पर शत्रु के साथ भयानक युद्ध करने के लिये बाध्य होगा। कोशल राज उत्साही, पूर्ण राजनीतिज्ञ और दृढ़-बुद्धि है और युद्ध में जय पराजय अनिश्चित है; युद्ध में अनेक तरह की क्षति अवश्यम्भावी है। इसलिये कोशलराज के साथ संधि कर लेना ही उचित है। इस पर मुनि के कथनानुसार विदेहराज ने कोशलराज के साथ संधि करली।

प्राचेतस मनु की नीति

हमने पूर्व इस प्रबन्ध में प्राचेतस मनु को राजधर्म प्रणेता कहकर निर्देश किया है। यद्यपि प्राचेतस मनु प्रणीत राजनीतिशास्त्र आज उपलब्ध नहीं है तथापि पुराकाल में इसका प्रचलन होने से महाभारत में इसकी दो-चार बातें उद्धृत की गई हैं। वे हम यहाँ दिखाते हैं। शान्तिपर्व के ५७ वें अध्याय में प्राचेतस मनु

की नीति का कुछ आभास दिया गया है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे महाराज! प्राचेतस मनु ने अपनी राजनीति में कहा है कि ६ प्रकार के व्यक्तियों को लोग परित्याग कर देते हैं। आचार्य यदि प्रवक्ता न हों, ऋत्विक् यदि वेदाध्ययन सम्पन्न न हो, राजा यदि प्रजा की रक्षा न कर सके, भार्या यदि प्रतिकूलवादिनी हो, गौ आदि पशुओं का चरवाहा यदि ग्राम में रहने का अभिलाषी हो और नापित (नाई) यदि अरण्यवासी होना चाहे तो ये छ विनाश को प्राप्त होते हैं। शान्तिपर्व ११२ अध्याय में भी प्राचेतस मनु की नीति उद्धृत हुई है। उसमें कहा है कि मन्त्रणा (सुगुप्त सलाह) ही विजय का मूल है। इसलिये मनु ने बुद्धि द्वारा सम्पादित विजय को ही श्रेष्ठ विजय कहा है। युद्धादि द्वारा प्राप्त होने वाली विजय को निकृष्ट विजय माना है।

कणिकनीति

हमने पहले इस प्रबन्ध में भारद्वाज नीति कही है। वह इस कणिकनीति के ही अनुरूप है। भारद्वाज नीति के बहुत से श्लोक कणिकनीति में कहे गये हैं, अथवा कणिकनीति के ही बहुत से श्लोक भारद्वाज नीति में उक्त हुए हैं। कणिक महाराज धृतराष्ट्र के कूट मन्त्री थे। इसलिये कणिक धृतराष्ट्र के मन्त्रियों में से एक मन्त्री थे। ये ब्राह्मण थे एवं राजा धृतराष्ट्र के अमात्य थे। महाभारत में कणिक को श्रेष्ठ मन्त्री कह कर निर्देश किया है। आदिपर्व के १४० वें अध्याय में कणिकनीति वर्णित हुई है। महाराज धृतराष्ट्र पाण्डवों की वृद्धि एवं पाण्डवों के प्रति राष्ट्रवासी प्रजा का पूर्ण अनुराग देख कर भयभीत हो उठे और राजा धृतराष्ट्र ने समझ लिया कि इसके बाद पाण्डव ही राजा होंगे; मेरा पुत्र दुर्योधन राजा नहीं हो सकेगा। पाण्डवों को अधिक गुणशाली जानकर राष्ट्रवासी प्रजा उनमें ही अनुरक्त है दुर्योधन में नहीं। दुर्योधन को किसी तरह भी राज्य लाभ नहीं हो सकता। इस तरह की दुर्भावनाओं से उद्विग्नचित्त महाराज धृतराष्ट्र अपने मन्त्री कणिक से मन्त्रणा करने लगे। उस समय कणिक ने राजा धृतराष्ट्र को परामर्श देने के प्रसंग में जो सारी बातें कही हैं, वेही कणिकनीति नाम से प्रसिद्ध हैं। कणिक की नीति सुनकर ही महाराज धृतराष्ट्र ने पाण्डवों के विनाश के लिये जतुगृहदाह की व्यवस्था की थी। राजा धृतराष्ट्र ने अपने भय और उद्वेग का कारण बता कर मन्त्री कणिक से इस भय की निवृत्ति का उपाय और अपना कर्त्तव्य पूछा। धृतराष्ट्र का प्रश्न सुनकर कणिक कहने लगे कि मैं तुमसे राजनीति शास्त्र का रहस्य कहूँगा किन्तु राजनीति शास्त्र का अर्थ तीक्ष्ण होता है मधुर नहीं। इस तीक्ष्ण शास्त्रार्थ को सुन कर मेरे प्रति तुम को असूया प्रदर्शित नहीं करनी चाहिये। तुम मन में सोच सकते हो कि कणिक

ब्राह्मण होकर भी अति तीक्ष्ण उपायों का उपदेश करता है। इसलिये मेरे प्रति तुम्हारी असूया हो सकती है। किन्तु तुम यह ध्यान में रखना कि मैं तुमसे जो कुछ कहूँगा, वह मेरा कोई व्यक्ति गत मत नहीं है। राजनीतिशास्त्र में जो रहस्य वर्णित है वही मैं तुमसे कहूँगा।

भारद्वाजनीति में जो बातें कही गई हैं, प्राय: वेही सब बातें कणिकनीति में भी उक्त हुई हैं। जो बातें भारद्वाज नीति में नहीं कही गई हैं, केवल कणिक नीति में ही कही गई है, वे ही बातें यहाँ कही जाती हैं। कणिक कहते हैं कि महाराज! मृत शत्रु भयोत्पादक नहीं हो सकता। इसलिये शत्रु के नष्ट हो जाने पर शत्रु से होने वाला उद्वेग भी नहीं रह सकता। शत्रु के किसी दशा में भी जीवित रहने पर उससे भय की आशंका बनी ही रहेगी। इसलिये शरणागत होने पर भी शत्रु पर दया नहीं करनी चाहिये। किंतु उसका विनाश ही विजिगीषु का कर्तव्य है। राजा हर समय राष्ट्र कल्याण का पुरा ध्यान रखता हुआ अपने राज्य की त्रुटियों को छिपा कर शत्रु की कमजोरियों को विशेष ध्यान से देखे। राजा शत्रु से सदा उद्विग्न रहे। कभी भी शत्रु का विश्वास न करे। अनेक उपायों से शत्रु को पूर्ण विश्वास दिलाकर उसका समूलोच्छेदन कर दे। शत्रु को विश्वास दिलाने के लिये यदि आवश्यक समझे तो विजिगीषु भी अग्न्याधान आदि वैदिक कर्म कलाप करने में प्रवृत्त हो जाय। अनेक तरह के यज्ञ करने लगे। यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर गेरुए कपड़े पहन ले, जटा बढ़ाले, मृगचर्म आदि धारण कर लोगों की दृष्टि में परमधार्मिक बन असावधान शत्रु राजा का विनाश करदे। जैसे पशुपालक की असावधानी होने पर भेड़िया शीघ्रता से पशुपालक के पशु को नष्ट कर डालता है, इसी तरह राजा भी असावधान शत्रु को नष्ट करदे। कपट पूर्वक धर्माचरण द्वारा शत्रु को वश में करके राजा अपना मतलब सिद्ध कर सकता है। धर्माचरण द्वारा लोग विश्वस्त हो सकते हैं। इसलिये धार्मिकता का विज्ञापन शत्रु और मित्र दोनों के लिये आकर्षक हो सकता है। लोग जैसे लग्गी से वृक्ष की शाखा को नवाकर उससे पके फलों को तोड़ लेते हैं इसी तरह कपट भाव से धर्माचरण भी लग्गी की तरह लोक-चित्त का आकर्षक होगा। लोक आकृष्ट होकर जब आनत होने लगेगें तब कपट धर्माचारी आनत व्यक्तियों से अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकेगा। शत्रु के उन्मूलन के लिये नीतिशास्त्र में अनेक प्रकार के कर्मों का उपदेश दिया गया है।

जिस उपाय के द्वारा शत्रु का उच्छेद हो सके, विजिगीषु राजा को उस उपाय के अवलम्बन करने में कुण्ठित नहीं होना चाहिये। विजिगीषु राजा समयापेक्षी होकर सुअवसर की प्रतीक्षा में आवश्यकता पड़ने पर शत्रु को कन्धे पर उठा ले और सुयोग मिलने पर फिर कन्धे पर बैठाये हुए शत्रु का विनाश कर दे। शत्रु को नष्ट करने के लिये विजिगीषु राजा शत्रु के प्रति शान्त वाक्यों का प्रयोग

करे। शत्रु के प्रति मृदु वाक्यों के प्रयोग करने की बात मनुसंहिता के सप्तम अध्याय के १७२ वें श्लोक में भी कही गई है। यहाँ भी कणिक मृदुशान्तिमय प्रयोग द्वारा शत्रु को अनुकूल करने को कहते हैं। यदि कोमल शान्तिमय वाक्यों के प्रयोग से भी शत्रु अनुकूल न हो सके तो पर्याप्त दान द्वारा शत्रु को अनुकूल करके उसका उच्छेद कर देना चाहिये। इसी तरह कहीं भेद से कहीं दण्ड से शत्रु को नष्ट कर देना चाहिये। इस पर धृतराष्ट्र कणिक से पूछने लगे कि साम, दान, भेद और दण्ड द्वारा शत्रु का उच्छेद किस तरह किया जा सकता है? इसके उत्तर में कणिक एक उपाख्यान द्वारा साम आदि प्रयोगों से शत्रु के उच्छेद का वर्णन करने लगे। कणिक कहते हैं कि किसी जंगल में शेर, चूहा, भेड़िया, नेवला और गीदड़ रहता था। इन पाँचों ने एक खूब हृष्ट पुष्ट हिरण देखा और उसे मारना चाहा। किन्तु मार न सके। तब गीदड़ ने उनसे कहा कि इस हरिण के सो जाने पर चूहा इसके पैरों में जोर से काट ले; उससे हरिण पहले की तरह दौड़ न सकेगा और व्याघ्र इसको अनायास ही मार डालेगा। गीदड़ के इस परामर्शानुसार व्याघ्र के हरिण को मार देने पर गीदड़ अकेला ही मृग के सारे मांस को खाने की इच्छा से व्याघ्र आदि को कहने लगा कि तुम सब लोग स्नान कर आओ मैं तब तक इस मृगशरीर की रक्षा करता हूँ। गीदड़ के वचनानुसार वे सब स्नान करने चले गये और गीदड़ बड़ी चिन्ता की मुद्रा बनाकर वहीं बैठ गया। स्नान करके लौटने पर व्याघ्र ने देखा कि गीदड़ बड़ी चिन्ता में निमग्न है। वह गीदड़ से चिन्ता का कारण पूछने लगा। गीदड़ ने कहा, हे पशुराज! चूहा कहता है कि धिक्कार है इस व्याघ्र के बल को, यह इतना बलशाली होते हुए भी मेरे द्वारा निहत मृग मांस भक्षण करेगा। वास्तविक मैंने ही तो इस मृग को मारा है। मूषिक के इस तरह की आत्मश्लाघा से मैं अति व्यथित एवं शोकाकुल हूँ। अति तुच्छ चूहे के द्वारा स्वामी के अप्रतिहत पौरुष की इतनी अवज्ञा मुझे सह्य नहीं, इससे मैं अति सन्तप्त हूँ। गीदड़ की यह बात सुनकर व्याघ्र अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहने लगा कि मैं चूहे के उपार्जित इस मांस को खाना नहीं चाहता। मैं स्वयं और पशु मार कर खाऊँगा। यह कहकर व्याघ्र सुदूर अरण्य प्रदेश में चला गया। फिर उसी समय चूहा आ पहुँचा। शृगाल चूहे से कहने लगा कि नेवला कहता है कि मृग मांस अति विरस होता है। इसको खाने की मेरी इच्छा नहीं। मैं तो चूहे का मांस खाना चाहता हूँ। तुम्हारी अनुमति हो तो मैं इस चूहे को खा लूँ। यह बात सुनते ही चूहा भय विह्वल हो अपने बिल में घुस गया। इतने में ही भेड़िया आ पहुँचा। उसको देखते ही शृगाल कहने लगा कि व्याघ्र तुम्हारे ऊपर बहुत नाराज है। इससे तुम्हारे ऊपर घोर आपत्ति आ सकती है। मृगराज शीघ्र ही अपनी स्त्री के सहित यहाँ आने वाला है। अब तुम जो उचित समझो करो, मैंने तुम्हें स्नेह परवश होने के कारण

सब सच्ची बात बतला दी। शृगाल की यह बात सुनकर भेड़िया उसी समय वहाँ से भाग गया। तब फिर शृगाल नकुल से बोला प्रिय नकुल! मैंने व्याघ्र, वृक (भेड़िया) आदि को अपनी बुद्धि बल से परास्त कर दिया। अब यदि तुम्हारी शक्ति हो तो मुझे युद्ध में परास्त करके यह मृग मांस खा सकते हो। तब नकुल कहने लगा कि बलशाली व्याघ्र, वृक एवं बुद्धिमान् चूहा, ये सभी तुमसे पराजित हो चुके हैं। सुतरां तुम्हीं इन सबकी अपेक्षा वीर हो। तुम्हारे साथ युद्ध करने का सामर्थ्य मेरा नहीं—यह कहकर नकुल भी वहाँ से चला गया। तब शृगाल अपनी सफलता पर अत्यन्त प्रसन्न हो सारा मृगमांस खा गया।

शृगाल अपनी मन्त्रणा शक्ति के प्रभाव से ही यह काम करने में समर्थ हुआ था। इसी तरह विजिगीषु राजा भी अपनी मन्त्रणा शक्ति के प्रभाव से अकेले ही फल का उपभोग करने में समर्थ हो सकता है। भीरु (डरपोक) को डर दिखाकर, वीर पुरुष को हाथ जोड़कर, लोभी को धन देकर, समान बलवाले या हीन बलवाले व्यक्ति को अपनी शक्ति से वश में कर ले। जिस किसी भी उपाय से विजिगीषु शत्रु को पराजित करने से विमुख न हो। कभी अनेक शपथ खाकर शत्रु को वश में कर मार डाले, कभी विपुल धन देकर शत्रु को वश में कर उसका उच्छेद कर दे। कभी सुगुप्त रूप से विष प्रयोग या अनेक माया प्रयोगों से शत्रु को नष्ट कर दे।

विजिगीषु राजा शत्रु के प्रति अति क्रुद्ध होकर भी अक्रुद्ध के रूप में रहे अर्थात् क्रोध प्रकट न होने दे। प्रकट रूप में हँसमुख रह कर शत्रु से बातें करे। यहाँ तक कि क्रुद्ध होकर शत्रु की निन्दा तक न करे। मौका मिलने पर समुचित व्यवस्था कर दे। शत्रु के वध का निश्चय करके भी उससे प्रिय बातें ही करे। उसको मार देने पर भी दया दिखलावे। मृत शत्रु के लिए अनेक प्रकार से शोकप्रकाश करे। यहाँ तक कि रोने लग जाय। विजिगीषु राजा हर समय हर तरह से अपने विषय में शत्रु को पूर्ण विश्वस्त बनाये रखने का प्रयत्न करता रहे।

शत्रु को अपने प्रति कभी भी किसी तरह अविश्वस्त न होने दे। शत्रु के प्रति अति मृदु सान्त्वनामय वाक्यों का प्रयोग करे, शत्रु के सामने अनेक तरह की धर्म चर्चाएँ करे, मतलब हो तो धन भी दे। शत्रु का छिद्र पाने मे उस पर प्रहार भी करे और उसका सर्वथा उच्छेद भी कर दे।

शत्रु के विनाश के लिए विजिगीषु राजा घोरतर अधर्म करके भी धार्मिक बन कर रह सकता है। धार्मिक बनकर रहने पर उसका किया हुआ घोर अधर्म भी ढका रह सकता है। जैसे कृष्णवर्ण सुविशाल मेघमाला पर्वत को चारों तरफ से ढँक लेती है इसी तरह कृत्रिम धर्माचरण भी विजिगीषु राजा के घोर अपराध को ढँके रह सकता है। शत्रु के अनेक प्रकार के अपकार करने की

विजिगीषु सदा चेष्टा करता रहे। विजिगीषु अपने राष्ट्र में निर्धन एवं चोर आदि को न रहने दे। शत्रु के प्रति सम्मान प्रदर्शन करना, शत्रु को देखकर उठ जाना, बैठने के लिए आसन आदि देकर उसको प्रसन्न करना, एवं धनादि भी देना, इन उपचारों से शत्रु को अत्यन्त विश्वस्त करके उस पर ऐसा प्रहार करे जिससे वह फिर शत्रुता करने का साहस ही न करे। विजिगीषु अपने तथा शत्रु के राष्ट्र में गुप्तचरों को नियुक्त कर उनसे अपने तथा शत्रुराष्ट्र के सारे समाचार सदा जानता रहे। संन्यासी और सामान्य भिक्षुक के वेश में अपने तथा शत्रु के राष्ट्र में घूमकर गुप्तचर गण दोनों देशों की अन्तः स्थिति का पूरा सच्चा संवाद संग्रह करते रहें। विजिगीषु को बातचीत करने में अत्यन्त विनीत होना चाहिए और हृदय में निशित क्षुरधार की तरह तीक्ष्ण होना चाहिए। विजिगीषु प्रयोजन होने पर शत्रु को हाथ जोड़ ले सौगन्ध खा ले, सान्त्व प्रयोग कर ले, यहाँ तक कि जरूरत होने पर शत्रु के पैरों में भी प्रणाम कर ले और अनेक तरह के मिथ्या प्रलोभन दिखा कर उसको मुग्ध कर ले। सुसज्जित तथा पुष्पित होने पर भी निष्फल रहे। फलवान् होकर भी दुरारोह रहे। कच्चा होने पर भी पके की तरह दिखाई दे। विजिगीषु राजा कभी भी गर्व न करे। समझा कर तथा कुछ देकर प्रतिकूल व्यक्ति को अनुकूल कर लेना सान्त्व कहलाता है एवं इस प्रयोग में राजा को अति दक्ष होना चाहिए। दूसरों के लिए असूया प्रकट नहीं करनी चाहिये। अपने तथा शत्रु के मण्डल को देखते रहना चाहिये और मन्त्रणा में कुशल ब्राह्मणों से सलाह करते रहना चाहिए।

विजिगीषु राजा अपने उद्धार के लिए मृदु या दारुण किसी भी प्रकार के कर्म करने से पराङमुख न हो। दारुण कर्म से भी अपना उद्धार करके स्वस्थ होने पर धर्माचरण करे। प्राण संकट का सामना बिना किये कोई भी प्रभूत सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए घोर से घोर आपत्ति का भी सामना करने से विजिगीषु कभी पीछे पैर न रखे। शत्रु का मर्मच्छेद किये बिना, दारुण निष्ठुर कर्म किये बिना एवं शत्रु को जीते बिना कोई प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता। शत्रु सैन्य जब विपन्न हो रहा हो, व्याधिग्रस्त हो, विपत्ति में पड़ा हो, अन्न, जल और घास के अभाव से क्लांत हो, या शत्रु के आक्रमण से निश्चिन्त हो; ऐसे समय में शत्रु पर आक्रमण करके उसका उच्छेद कर देना चाहिए। धन और मित्रों के संग्रह में तथा युद्ध करने में विजिगीषु को सदा तैयार रहना चाहिए एवं अपने राष्ट्र के अभिवृद्धि कारक कार्यों में विजिगीषु को अत्यन्त उत्साही होना आवश्यक है। विजिगीषु के किसी भी कार्य की मन्त्रणा उस कार्य के सम्पन्न होने के पूर्व शत्रु को ज्ञात न हो सके। कार्य के सुनिष्पन्न होने पर ही लोग उसको जान सकें, ऐसा विजिगीषु को प्रयत्न करना चाहिए। जो राजा दण्ड से वश में किये गये शत्रु पर दया करता है, वह राजा आप ही

अपनी मृत्यु की व्यवस्था करता है। विजिगीषु राजा वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले कार्यों पर पूरी दृष्टि रखे। इस दृष्टि के अभाव में राजा को हर जगह अपने कार्यों की असिद्धि ही होगी। छोटे शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। तुच्छ शत्रु भी उपेक्षित होने पर तालवृक्ष की तरह अपनी अनेक सुदृढ़ जड़ जमा कर अच्छेद्य हो सकता है। जैसे अरण्य में फेंकी हुई छोटी सी भी आग की चिनगारी क्रम से बढ़कर भयानक दावग्नि के रूप में परिणत हो सारे अरण्य को भस्म कर डालती है वैसे ही विजिगीषु राजा अरण्य निक्षिप्त वह्नि की तरह क्रमशः वर्द्धित होकर सारी पृथ्वी को ग्रस्त कर ले। मन्त्री कणिक ने यही सब उपदेश महाराज धृतराष्ट्र को दिये हैं जो कणिक नीति के नाम से प्रसिद्ध है।

षष्ठ अध्याय

विदुलानुशासन

महाभारत के उद्योग पर्व के १३३वें अध्याय से १३६ अध्याय पर्यंत ४ अध्यायों में विदुलानुशासन वर्णित हुआ है। यह विदुलानुशासन महाभारत का ही नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता का समुज्जवल रत्न है। सौवीर राज की महिषी विदुला ने सिन्धु राज के साथ छिड़े हुए युद्ध में पराजित अपने एकमात्र पुत्र संजय को निरुत्साह एवं निरमर्ष देखकर, उसको शत्रु के विरुद्ध उद्दीप्त करने के लिए शिक्षा दी है। उस समय वह विधवा थी। इस विधवा राज महिषी ने अपने एकमात्र पुत्र संजय के हृदय में प्रबल उत्तेजना एवं उत्साह बढ़ाने के लिए तथा शत्रु को पराजित कर अपने पिता के राज्य का उद्धार करने के लिए जो आवेशपूर्ण भाषण दिया है, उससे महारानी की दूरदर्शिता, दुर्वार क्षात्र तेज और राजनीति कुशलता प्रकट होती है। यह महारानी अति यशस्विनी, विशुद्ध वंश में पैदा हुई अतुलनीय क्षात्र तेज से उद्दीप्त, परमविदुषी, राजनीतिशास्त्र की पूर्ण अभिज्ञ और उस समय के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों की सभाओं में प्रख्यात-कीर्ति थीं। क्षात्र तेज को उद्दीप्त करने वाला उसका उपदेश सुनने पर अत्यन्त भीरु कापुरुष का चित्त भी उत्साह पूर्ण हो उठता था। हम यहाँ महारानी विदुला का अनुशासन संक्षेप में लिखेंगे।

भारतीय विद्यालयों में जिन्होंने संस्कृत शिक्षा पाई है उनमें भी बहुत कम लोग ही इस विदुलानुशासन के विषय में अभिज्ञ हैं। यह हमारे लिए बड़े दुःख की बात है और जातीय दुर्भाग्य का ज्वलंत उदाहरण है।

जब सिन्धुराज ने सौवीरराज पर आक्रमण किया, तब उस आक्रमण को रोकने के लिए सौवीरराज संजय सिन्धुराज के साथ युद्ध करने लगा। किंतु सौवीरराज संजय अनुत्साही एवं मृदु प्रकृति होने के कारण क्रूर प्रकृति एवं प्रबल पराक्रमी, आमरणान्त युद्धोत्साही सिन्धुराज से युद्ध में पराजित हुआ। इसी से प्रबल शत्रु को आत्मसमर्पण कर नितान्त दीन मन हो अपनी राजधानी में वापस आ गया। यह संवाद पा महारानी विदुला पुत्र को पुनः युद्ध के लिए उत्साहित करने के उद्देश्य से पुत्र से बोली कि अरे कुपुत्र! तू मित्र कुल के शोक को बढ़ाने वाला एवं शत्रु कुल को आनन्दित करने वाला है। तुम्हारे समान निर्बुद्धि, कायर पुरुष कभी भी मेरे गर्भ से पैदा नहीं हो सकता और न स्वर्गीय महावीर सौवीरराज से ही ऐसा कापुरुष पैदा होना संभव है। तू कहाँ किससे पैदा हो

इस श्रेष्ठ राजवंश में आकर घुस गया? जो शत्रु कृत तिरस्कार को अनायास ही सह सके, एवं शत्रु का उच्छेद करने के लिए जिसका क्रोध उद्दीप्त न हो ऐसे पुरुष की गणना तो कभी भी पुरुषों में होनी उचित नहीं। वह पुरुष नहीं नपुंसक है। तू आज जिस अवस्था में यहाँ आया है उससे तेरा भावी जीवन अन्धकारमय हो गया है। तू इस क्लीवता को छोड़कर पैतृक राज्य का उद्धार करने के लिए अत्यन्त उत्साह के साथ उठ खड़ा हो। अपने को असमर्थ समझ कर अपमानित मत कर। थोड़ी सम्पत्ति से सन्तुष्ट मत हो। पैतृक राज्य के उद्धार रूप परम कल्याण का दृढ़ निश्चय कर निडर हो शत्रु के उच्छेद का प्रयत्न कर। हे कापुरुष! दूने उत्साह से खड़ा हो, शत्रु से पराजित होकर मुर्दे की तरह पड़ा मत रह। तेरी यह दशा शत्रु कुल को आनन्द एवं मित्र कुल को शोक में निमग्न करने वाली है।

तेरी मर्यादा नष्ट हो रही है। कायर लोग ही थोड़ी सी सम्पत्ति से संतुष्ट हुआ करते हैं जैसे छोटी नदी थोड़े ही जल से पूर्ण हो जाती है। मूषिक की अंजलि थोड़ी वस्तु से ही भर जाती है। अत्यन्त विषैले सर्प के दाँत उखाड़ने में मृत्यु भी हो जाय तो अच्छा है। तू इस घोर शत्रु को नष्ट करने के लिए कृतोत्साह होकर युद्ध में मर भी जाय तो उत्तम है। शत्रु को नष्ट करने के लिए तेरी मृत्यु भी हो जाय तो अच्छा है, पर इस तरह शत्रु से पराजित होकर जीवित रहने का कुछ प्रयोजन नहीं मालूम होता। शत्रु को नष्ट करने में प्राण संकट आ जाने पर भी दुर्वार पराक्रम दिखाने से नहीं हटना यही पुरुषार्थ है। तू पहले शत्रु के छिद्रों का अन्वेषण कर। श्येन पक्षी (बाज) जैसे निडर होकर आकाश में द्रुतगति से घूमता हुआ शत्रु को पकड़ कर मार डालता है, इसी तरह तू भी भय को सर्वथा त्याग कर प्रकाश रूप में या गुप्त रूप में उसकी दुर्बलताओं को जानकर शत्रु को पकड़ कर मार डालो। रे पुत्र! तू बज्राघात से मारे हुए की तरह क्यों पड़ा है? रे कापुरुष! अदम्य उत्साह के साथ उठ कर खड़ा हो जा, शत्रु से पराजित होकर मत सो। तू दीन होकर मत मर। अपने असाधारण पराक्रम प्रदर्शन से सर्वत्र कीर्ति मण्डित हो। नीतिशास्त्रों में शत्रु से व्यवहार करने के साम आदि चार प्रकार के उपाय बताये हैं। उनमें से साम को जघन्य, भेद को मध्यम एवं दान को निकृष्ट उपाय माना है। इसलिये तू जघन्य, मध्यम और निकृष्ट तीन उपायों को छोड़कर चौथे उत्तम उपाय दण्ड का आश्रय ले। इस उपाय को काम में लेने पर तेरे वीर-गर्जन से देश उद्बुद्ध हो जायगा। जैसे तिंदुक की लकड़ी अपने स्फुलिंगों (चिनगारियों) को चारों तरफ फेंकती हुई बड़ी आवाज के साथ तेजी से जलती है, तू भी इसी तरह क्षण भर में ही वीर-गर्जन के साथ प्रचण्ड हो उठ। तू तुषाग्नि की तरह ज्वाला रहित होकर धूम मात्र देता हुआ दीर्घ काल तक जीने की इच्छा मत कर। अपने गौरव की रक्षा करते हुए

थोड़े दिन जीना उत्तम है ; किन्तु गौरवहीन होकर दीर्घकाल तक जीना अच्छा नहीं।

किसी भी क्षत्रिय के घर तुम्हारे समान मृदु पराक्रम गधा पैदा न हो। क्षत्रियोचित कर्म करके युद्ध में असाधारण पराक्रम दिखा कर क्षत्रिय धर्म से उऋण होने वाले को ही क्षत्रिय के घर पैदा होना चाहिए। क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाकर युद्ध में जय अथवा मृत्यु इनमें से कोई भी क्षत्रिय के लिए शोक का कारण नहीं होता। क्षत्रियोचित कर्म करके युद्ध में जय या पराजय होने पर बुद्धिमान् शोक नहीं करते।

युद्ध में विजय पाने के लिये शत्रु को नष्ट करने के लिये जो कुछ करना हो सो तू कर। प्राणरक्षा ही सब कुछ है यह मन में मत सोच। प्राणरक्षा कर लेना ही कोई बड़ा काम नहीं है। अपना प्रबल पराक्रम दिखा या युद्ध में मृत्यु को आलिंगन कर। रे पुत्र ! क्षत्रियोचित धर्म छोड़कर तू किस लिये जीना चाहता है ? तेरे यज्ञादि धर्म, तथा कुआँ, बावड़ी धर्म शाला आदि पूर्तधर्म सब ही नष्ट हो गये। तेरी कीर्ति नष्ट हो गई। भोगों का साधन राज्य नष्ट हो गया; अब तू और किसके लिये जी रहा है ? क्षत्रिय युद्ध में जिस समय अपनी मृत्यु अनिवार्य भी जानले एवं अपना पतनकाल अवश्यम्भावी समझ ले, तब मरते-मरते भी शत्रु की जंघायें दारुण प्रहार से तोड़ डाले। किसी भी हालत में शत्रु को नष्ट करने से विमुख नहीं होना चाहिये। अपने कोष, सैन्य आदि के क्षीण होने पर भी विषण्ण होकर चुपचाप नहीं बैठ जाना चाहिये। हर हालत में उत्साह रखना चाहिये। अतः तू भी अत्यन्त उद्यम के साथ इस गुरुतर राज्य भार को वहन कर। ध्यान रख अच्छे कुल में पैदा हुआ अश्व कभी भी गुरुतर भार से दुःखी नहीं होता। अपने पुरुषार्थ को समझ कर अपने पराक्रम और सम्मान की वृद्धि कर। तेरे कारण ही आज यह पवित्र राजवंश विपत् पयोधि में निमग्न हो रहा है। इसका अपने पुरुषार्थ से उद्धार कर।

मानवगण जिसके अद्भुत महत्कार्यों की श्लाघा न करे, जिसके जीवन में कभी भी कोई श्रेष्ठ कार्य न किया जा सके, वह व्यक्ति केवल मनुष्यों की संख्या बढ़ाने का साधन मात्र है। वह न स्त्री है न पुरुष। दान, तपस्या, शौर्य आदि सत्कार्यों से जिसका यश दिगन्तरालों में उद्घोषित न हो सके उसको मातृदेह से विनिर्गत एक प्रकार का मल ही समझना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी विद्या, तपस्या, धन और पराक्रम किसी से भी जन साधारण को अतिक्रान्त कर सके, उसी को पुरुष कहा जाता है। आज तू शत्रु से पराजित हो जिस अत्यन्त दुःखावह भिक्षावृत्ति करने के लिये बाध्य हो रहे हो, यह वृत्ति अत्यन्त अकीर्तिकर एवं अति दुःखप्रद और कायर पुरुषों के योग्य है। जिस हीन दुर्बल पुरुष को देखकर शत्रुवर्ग आनन्दित हो उठे, जो लोक दृष्टि में गिर चुका हो, एवं गृह वस्त्रादि से विहीन

हो, तथा जो यत्किंचित् जीवनोपाय हाथ आ जाने पर ही अपना परम लाभ समझे ऐसे कापुरुष को पाकर उसका बान्धव वर्ग कभी भी सुखी नहीं होता। आज हमारी क्या दशा है। आज हमको इस सौवीर राष्ट्र से निर्वासित होना होगा। हमारा आज कोई सम्मान नहीं रहेगा। दीन हीन की तरह आज हमको मरना पड़ेगा। हम सब सुखों से वंचित हो जायेगें। हम स्थान भ्रष्ट हो अति तुच्छ जनों में गिने जायेगें। तू ही इस वंश के नाश का कारण दुष्कीर्ति फैलाने के लिये पुत्र रूप में कलि पैदा हुआ है। जिसमें क्रोध नहीं, उत्साह नहीं, शौर्य नहीं, जो शत्रु वर्ग के आनन्द को बढ़ाने वाला है, ऐसे संजय जैसा पुत्र कैसी भी कोई माता पैदा न करे। तू धूमायित होकर ही मत रह, प्रज्वलित होकर उठ।

तू शत्रुओं पर आक्रमण कर उनको नष्ट कर। तू मुहूर्त या क्षण भर भी शत्रु के सिर पर चढ़ कर प्रदीप्त हो। पुरुष का यही पुरुषत्व है कि वह अपने अपकारी का प्रत्यपकार कर सके। जो व्यक्ति क्रोध रहित और नितान्त क्षमावान् है, वह न तो स्त्री है, न पुरुष। सन्तोष श्री वृद्धि का शत्रु है। अत्यन्त दया भी श्री वृद्धि की शत्रु ही है। निश्चेष्ट पुरुष कभी भी समृद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। संतोष, दया, अनुत्साह, और भय ये चारों ही पराजय के कारण होते हैं। ये ही घोर पातक हैं। इनको तू बहुत शीघ्र छोड़ दे। लोहे का कलेजा बनाकर राज्य श्री प्राप्त करने का उद्योग कर। पुरुष शब्द का यही अर्थ है कि पर अर्थात् शत्रु को जो सहन न कर तिरस्कृत कर सके। जो शत्रुघाती है वही पुरुष है। (पर-सह अर्थात् शत्रुघाती, यहाँ पर के अकार को उकार हो गया है—र कार के अकार को भी उकार हो गया है, और अन्तिम ह कार का लोप हो गया है एवं उकार के परवर्ती सकार मूर्धन्य 'ष' हो गया है—पुरुष शब्द का यही निर्वचन किया गया है)। जो व्यक्ति शत्रु से पराजित होकर घर में स्त्रियों की तरह जीवन बिताता है उस पुरुष का पुरुष नाम ही व्यर्थ है। जो व्यक्ति महाबलशाली, शूर, सिंह सदृश पराक्रमी है ऐसे व्यक्ति की युद्ध में मृत्यु हो जाने पर भी राष्ट्र का प्रजापुंज आनन्दित ही होता है। जो राजा अपने प्रिय परिजनों और अपने सुखों को परित्याग कर राज्य श्री प्राप्त करने का उद्योग करता है वह बहुत दिनों तक अपने प्रजावर्ग का आनन्द एवं उत्साह बढ़ाता है।

इसके उत्तर में संजय माता से बोला—माँ! मेरी ही यदि मृत्यु हो जायेगी तो तुम इस सम्पूर्ण पृथ्वी का भी राज्य पाकर क्या करोगी? तुम्हारा भोग और जीवन सभी तो व्यर्थ हो जायगा। इसके उत्तर में महिषी विदुला ने कहा—हमारे शत्रुगण को किमद्यक के लोक की प्राप्ति हो—जो प्रतिदिन दरिद्रता के कारण आज क्या खायेगें, इसी चिन्ता में व्याकुल रहे उसको किमद्यक कहते हैं एवं जो सोचते हैं कि शत्रु के उच्छेद में इतनी शीघ्रता की क्या आवश्यकता है? शत्रु के

उच्छेद के लिए आज ही जल्दी करने का कोई कारण नहीं---आगे फिर किसी समय शत्रु को नष्ट कर दिया जायेगा---इस तरह के दीर्घसूत्री को भी किमद्यक कहते हैं। विदुला ने इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों की ही शोचनीय अवस्था सोचकर शत्रुपक्षीय व्यक्तियों को ही किमद्यक लोक प्राप्त हो, यह बात कही हैं।

संजय जिससे किमद्यक दशा को प्राप्त न हो सके इसीलिए विदुला ने यह उपदेश दिया है। जो लोग भोग और ऐश्वर्य सम्पन्न एवं सर्वत्र समादृत हैं, हमारा सुहृद्वर्ग भी उसी दिशा को प्राप्त हो सके; इसी लिए विदुषी विदुला का यह उपदेश है। राजा अपने राज्य से परिभ्रष्ट हो, सब प्रकार के भोगोंपभोगों से वंचित हो, अति दीन हो तुच्छ प्राणों के व्यामोह में पड़ जीवन धारण करे इससे अधिक दुःख और नहीं हो सकता। हे पुत्र! तू इस हीन वृत्ति का अवलम्बन मत कर। तू सम्पूर्ण मित्र एवं बान्धव जनों तथा ब्राह्मणों का आश्रय हो। तेरे आश्रय मे ये सब सुख पूर्वक रह सकें; जैसे देवतागण इन्द्र के आश्रय मे सुख पूर्वक रहते हैं। प्राणिवर्ग जैसे वर्षणशील मेघ के अवलम्बन से सुख से जीवन बिताता है, ऐसे ही समस्त प्राणिवर्ग जिसके आश्रय मे सुख पूर्वक जीवन बिता सके, उसी का जीवन सार्थक है। जैसे पके फल वाले वृक्ष का आश्रय ले प्राणिवर्ग सुख से जीवन बिताता है। निष्फल वृक्ष का जीवन व्यर्थ होता है।

फल पूर्ण वृक्ष सब प्राणियों का आश्रय होता है। इससे उसी का जीवन सार्थक है। जिस शूर पुरुष के विक्रम का आश्रय ले उसका बान्धववर्ग सुख से रह सके उसी पुरुष का जीवन सार्थक है। जैसे इन्द्र के विक्रम का सहारा ले देवगण स्वर्ग में सुख से रहते हैं। जो व्यक्ति अपने पराक्रम के भरोसे शत्रु को अपने देश से निकाल कर स्वयं सुख से रहता है उसको इस लोक में कीर्ति एवं परलोक में सद्गति प्राप्त होती है।

शत्रु से पराजित पुरुष की इस लोक में दुर्गति और परलोक में भी अशुभ गति होती है। जो क्षत्रिय अति पराक्रम के साथ अपना तेज प्रकट नहीं करता, डर के मारे केवल जीवन मात्र बचाने के लिए उद्योग करता है उसको चोर कहा जाता है। औषध आसन्न मृत्यु व्यक्ति पर कुछ प्रभाव नहीं दिखा सकती इसी तरह तुम जैसे कापुरुषों को गुण युक्त एवं युक्तियुक्त उपदेश कुछ प्रभाव नहीं दिखला सकते। विदुषी विदुला फिर कहती हैं कि विजयी सिन्धुराज के राज्य में भी उसके शासन से असन्तुष्ट होकर रहने वाले अनेक व्यक्ति हो सकते हैं, जो अपने असामर्थ्य के कारण सिन्धुराज की आपत्ति के समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम सिन्धुराज के राज्य में रहने वाले ऐसे व्यक्तियों को जो उस राष्ट्र के प्रति क्रुद्ध, लुब्ध अथवा उससे भीत, और अपमानित हों, सिंधुराज के प्रतिकूल अपनी सहायता के लिए इनको प्रतिशोध करा सकने का वचन देकर अपने पक्ष में कर लो। सिन्धु राष्ट्रवासी यह क्रुद्ध आदि चतुर्वर्ग अनायास

ही तुझसे मिल जायगा यदि तू पराक्रम दिखा सकेगा। तेरे उत्साह से सिन्धु राष्ट्रवासी क्षुद्रादि चतुर्वर्ग प्रोत्साहित हो जायगा तब और भी वहाँ के रहने वाले लोग उनके साथ मिल जायेंगे। तू उनके साथ मिल कर गिरिदुर्ग का आश्रय ले ले। जिसमें शत्रु तेरा कुछ न बिगाड़ सके और तू वहाँ रह कर सिन्धुराज की आपत्ति के समय की प्रतीक्षा कर सके। सिन्धुराज अजर अमर होकर तो पैदा हुआ ही नहीं है। उस पर भी तो अनेक आपत्तियाँ पड़ सकती हैं। तू नाम से संजय जरूर है किन्तु शत्रु को जीतने में तेरा जरा भी उत्साह नहीं है, इसलिये तेरा नाम ही व्यर्थ है, तू भी अपने नाम को सार्थक कर।

शत्रु द्वारा पीड़ित होने पर भी तू फिर महा ऐश्वर्य पा सकेगा ऐसा दैवज्ञ ब्राह्मणों ने, ज्योतिषियों ने कहा है। उनकी बात सुनकर मेरा दृढ़ विश्वास है कि तुम फिर विजय पा सकोगे। तेरी समृद्धि से जो समृद्धि पा सकते हैं, तेरी दुर्दशा से जिनकी दुर्दशा हो सकती है, वे सब नीति के अनुसार तेरा पक्ष अवश्य लेंगे। युद्ध में जय और पराजय तो पहले राजाओं की भी हुई है; तेरी भी हुई है। एक बार पराजय हो जाने पर फिर जय न होगी यह कभी मत सोचो। तू कभी भी उत्साह से विरत मत हो। आज हमारी जो दुर्दशा है, इससे अधिक और दुर्दशा नहीं हो सकती। जिनको प्रतिदिन खाद्य वस्तुओं की ही चिन्ता बनी रहे, इसकी अपेक्षा और अधिक दुर्दशा नहीं हो सकती—यही बात राजनीतिवेत्ता असुरराज शम्बर ने कही है। राज्यभ्रंश, पतिविनाश, पुत्रविनाश इन सबसे बढ़कर दुःख है प्रति दिन अन्न-वस्त्र की चिन्ता से व्यथित दारिद्रय जीवन बिताना। यह मरण के तुल्य ही नहीं प्रत्युत उससे भी अधिक कष्टप्रद है। वह सकृत् दुःखकर (एक बार दुःख देने वाला) है, यह अनन्त दुःखप्रद है। मैं एक महाकुल में पैदा हुई और कमलिनी की तरह एक हृद (तालाब) से दूसरे हृद में लायी गयी। मेरा श्वसुर कुल भी अति समृद्ध था। मेरे स्वर्गीय स्वामी सौवीरराज मुझको बहुत सम्मान देते थे, मेरे ऐश्वर्य का अन्त न था।

मुझको देखकर मेरा सुहृद्वर्ग आनन्दित हो उठता था। संजय! तू अपनी प्राण रक्षा के लिए व्याकुल हो उठा है, किन्तु जिस समय तू मुझको तथा अपनी पत्नी को दयनीय दशा में देखेगा तब तुझको भी जीने की इच्छा न रहेगी। जिस समय हमारा दासवर्ग, कर्मचारी वर्ग, भृत्यगण, आचार्य एवं ऋत्विक्गण, पुरोहित-गण, हमारे पास से अपनी वृत्ति न पाकर निराश हो हमको छोड़कर चले जायेंगे, तब तुझको भी जीवित रहने की इच्छा नहीं रहेगी। तू जब तक पराक्रमशाली होकर शत्रु को पराजित न कर सकेगा तब तक मेरे हृदय में शान्ति न होगी। याचक ब्राह्मणवर्ग को यदि उनकी प्रार्थित वस्तु न दी जा सकेगी तो मेरा हृदय इस दारुण सन्ताप से विदीर्ण हो जायगा। मैंने तथा मेरे स्वामी ने कभी भी प्रार्थी ब्राह्मण को विमुख नहीं किया। मैं ही सबका आश्रय रही हूँ। दूसरों का

आश्रय लेकर मैंने कभी दूसरों की आज्ञा पालन नहीं की है। आज तेरे कारण मुझे यदि दूसरों का आश्रय लेना पड़ेगा तो जीवन त्याग दूँगी। आज हमारे ये सभी राष्ट्रवासी मृतप्राय हैं। तू हम सबको पुनर्जीवित कर। तू हमारी इस घोर आपत्ति का अन्त कर। निराश्रयों का आश्रय हो। शत्रु से अपहृत हमारे राज्य में हमको फिर से बसा दे। तू यदि प्राणभय से अधिक भीत न होगा तो तू सब शत्रुओं को जीत सकेगा। तू यदि इस क्लीववृत्ति का आश्रय लेगा तो तेरी इस दुर्गति का अवसान न होगा। तू यह पापवृत्ति छोड़ दे। एक प्रबल शत्रु को मार कर ही मनुष्य ख्याति प्राप्त कर सकता है। वृत्रासुर को मार कर इन्द्र महेन्द्र बन गया। वृत्रासुर को मारकर ही इन्द्र स्वर्गलोक का अधिपति हो सका और उसने महेन्द्र पद पा लिया।

युद्ध के लिए सज्जित शत्रु सेना को ललकार कर जो शत्रु सेना को विद्रावित कर शत्रुपक्षीय प्रधान पुरुष सेनापति आदि का वध कर देता है उस समय सारा शत्रुपक्ष भयभीत होकर शस्त्र छोड़ देता है और उसकी वश्यता स्वीकार कर लेता है। उस विजेता की कीर्त्ति संसार में फैल जाती है। भीरु कायर लोग अपना सर्वस्व छोड़ कर शूर पुरुष के शरणापन्न हो जाते हैं एवं उस शूर के नितान्त वशीभूत हो उसकी सब तरह की समृद्धि की अभिवृद्धि का कारण बन जाते हैं।

राज्य एक तरफ जितना सुखकर है, दूसरी तरफ उसकी रक्षा भी उतना ही दु:खकर है। राज्यभ्रंश के अनेक कारण हर समय बने ही रहते हैं। अलब्ध राज्य का लाभ और लब्ध राज्य का परिपालन आदि जितने ही कर्म राष्ट्र-नायक की कीर्ति को बढ़ाने वाले हैं, उतने ही उसके जीवन को संशय में डालने वाले भी हैं। क्योंकि शत्रु के वश में हुआ बड़ा बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ भी अपने पुनरुत्थान की क्षमता कम रखता है। राज्य अमृत के समान है। शत्रु से आक्रान्त होने पर आक्रान्त राजा स्वर्ग और विजय इन दोनों में से एक को स्थिर कर ले। तेरा राज्य आज विध्वस्त हो रहा है—शत्रुओं से चारों तरफ से घिरा हुआ है; इसलिए तू अब स्वर्ग-प्राप्ति या विजय इन दोनों में से एक को स्वीकार कर। राजधर्म परिपालन में उद्युक्त हो शत्रुओं का विनाश कर। शत्रुगण को निर्भय कर तू हीन दीन दशा को मत अपना; जिससे हमारा मित्र पक्ष राष्ट्रवासी शोकाकुल होकर तुझको न घेरे और शत्रुगण सिंहनाद करता हुआ तुझको न घेर ले। मैंने तेरी इस दीन दशा से अधिक दीनतम दशा कभी नहीं देखी है। तू अनेक भोग-विलासों से परिपालित सौवीर राष्ट्र कन्याओं में रहकर पहले की तरह हर्ष लाभ कर। किन्तु शत्रु देशवासिनी सैन्धव कन्याओं का वशवर्ती मत हो। तू युवक है, रूपवान् है, विद्या और वेश गौरव में श्रेष्ठ है, तू संसार में विख्यात यशस्वी है; तेरी यदि यह दुर्दशा हो, अर्थात् तू यदि शत्रुओं का वशवर्ती हो जीवन बितायगा तो वह तेरी मृत्यु से भी बढ़ कर दु:खद होगा।

जिस समय मैं देखूंगी कि तू विजेता शत्रुओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी स्तुतियाँ कर रहा है, बड़े से बड़ा कष्ट पाकर उनके आदेशों का पालन कर रहा है तो इसकी अपेक्षा अधिक दुःख मुझे और क्या हो सकेगा। इस वंश के प्राचीन राजाओं ने कभी किसी शत्रु का आदेश पालन नहीं किया। तू भी शत्रुओं का अनुगामी होकर जीवन मत बिता। इस वंश के तथा दूसरे उत्तमवंश के राजाओं ने जो शाश्वत क्षात्र-वृत्ति की बातें कही हैं, मुझे वे सब ज्ञात हैं। भगवान् ब्रह्मा जी ने ही राष्ट्र रक्षा के लिए राजाओं की यह शाश्वत अपरिवर्तनशील वृत्ति की व्यवस्था की है। क्षात्रवृत्ति को जानने वाला कोई भी क्षत्रिय भयपरवश हो या लाभ के लिए शत्रुराजा का अनुवर्तन नहीं कर सकता। क्षत्रिय हर हालत में उत्साह सम्पन्न होकर ही रहे कभी भी शत्रु के सामने अवनत न हो। राजाओं का अदम्य उत्साह ही उनके पुरुषत्व का परिचायक है। राजगण भले ही असमय में मर जायं किन्तु शत्रु के सामने नतमस्तक न हों। मदमत्त हाथी की तरह जो शत्रु के सामने नहीं झुकता है, मृत्यु को सहर्ष अपना सकता है, ऐंसे राजा को महामना कहा जाता है। राजा धर्म के लिए धार्मिक लोगों के सामने अथवा ब्राह्मणों के सामने नतमस्तक हो सकता है। भयवश शत्रु के सामने मस्तक नीचा करना कभी भी उसको उचित नहीं है। राजाओं की यही शाश्वत वृत्ति है कि वे राष्ट्रवासी सभी वर्णों की रक्षा करें और राष्ट्रकण्टक दुष्कर्मकारियों का उच्छेद करते रहें। राजा ससहाय हो या निःसहाय हर हालत में यावज्जीवन उसका यही व्रत है।

महारानी विदुषी विदुला की ये बातें सुनकर उसका इकलौता बेटा सौवीर राज संजय कहने लगा कि माँ! क्या तुम्हारे हृदय में करुणा का लेश भी नहीं रह गया है, मैं ही तुम्हारा एकमात्र पुत्र हूँ तुम मुझे मरने के लिए शत्रु के मुँह में फेंक रही हो। तुम्हारा हृदय वीरता से पूर्ण एवं शत्रु के प्रति अतिशय क्रोध सम्पन्न है। मालूम होता है तुम्हारा हृदय किसी श्रेष्ठ लोहे आदि सुदृढ़तम पदार्थ से बनाया गया है। क्षत्रिय वृत्ति भी क्या दारुण है कि तुम मां होकर भी मुझको दूसरे की माता की तरह शत्रु के मुँह में फेंकना चाहती हो। मैं ही तुम्हारा एकमात्र पुत्र हूँ, मुझको भी तुम ऐसा कह रही हो। युद्ध में मेरी मृत्यु हो जाने पर क्या सारी पृथ्वी का राज्य भी तुमको सुखी कर सकेगा? मैं ही तुम्हारा एकमात्र पुत्र हूँ, मैं यदि युद्ध में मारा जाऊँ तो तुम्हारा भोग, जीवन, ऐश्वर्य, सब ही तो व्यर्थ हो जायगा।

इसके उत्तर में महारानी बिदुला कहने लगीं—संजय! आज तेरी जो दशा है, उससे तेरी सारी कीर्ति नष्ट हो गई है। तेरी इस नष्ट कीर्ति को फिर से प्रथित करने के लिए यदि मैं तुझको इस तरह न कहूँ तो तेरे प्रति मेरा वात्सल्य केवल एक गर्दभी के पुत्र-वात्सल्य के समान ही होगा। धर्म

और अर्थ से भ्रष्ट होकर, शत्रु से अपमानित होकर, समस्त भोग और ऐश्वर्य से वंचित होकर केवल जीवन धारण करने के लिए कोई भी विद्वान् व्यक्ति परामर्श नहीं दे सकता। ऐसा जीवन सज्जनों से निन्दित एवं मूर्खों से अनुमोदित होता है। तेरे जैसे निरुत्साह कायर पुत्र से कोई स्त्री पुत्रवती नहीं हो सकती। जो पुत्र उत्साह हीन एवं दुर्विनीत है उस पुत्र से कुछ भी पुत्रफल नहीं मिल सकता। देह में आत्मबुद्धि के सदृश और व्यामोह कुछ नहीं है। यह मोह साधारण पुरुषों का ही आश्रय होता है। तू यदि देह में आत्मबुद्धि छोड़कर राजसिंहों की वृत्ति का आश्रय ले सकेगा, तभी तू मेरा प्रिय पुत्र होगा।

सज्जनोचित कार्य न करके हीन जनोचित कार्यों में व्याप्त पुरुषाधम लोग इस लोक तथा परलोक में सुख नहीं पा सकते। संजय! तू अपने मन में दृढ़ निश्चय कर ले कि क्षत्रिय पुत्र युद्ध के लिए ही पैदा होता है, प्रजा पालन केलिए ही विधाता ने इसकी सृष्टि की है, शत्रु विजय के लिए ही यह सृष्ट हुआ है।

युद्ध में विजय पाकर या समराङ्गण में प्राण त्याग कर ही वीरगण इन्द्रलोक प्राप्त कर सकता है। जैसा सुख युद्ध में शत्रु पर विजय प्राप्त होने पर क्षत्रिय को प्राप्त होता है, वैसा सुख न तो स्वर्गलोक में और न इन्द्रलोक में कहीं प्राप्त है। शत्रु से पराजित होने पर मनस्वी पुरुष के हृदय में जो घोर सन्ताप की ज्वाला उठती है, उसकी शान्ति या तो फिर समरारूढ़ हो शत्रु को नष्ट करने से ही होती है, या समराङ्गण में मृत्यु का अतिथि होने पर।

इसके उत्तर में संजय कहता है। माँ! तुम ऐसी दारुण बात पुत्र को मत कहो। तुम दयापरिप्लुत नेत्रों से मुझे देखो। इसके उत्तर में फिर महारानी बिदुला बोलीं--संजय! मैं तेरे अशेष कल्याण के लिए तथा निरतिशय सुख पाने के लिए ही ऐसा कह रही हूँ। तू क्षणभंगुर एवं एकान्त विध्वंसी देह के प्रति करुणा करने की बात कहता है, किन्तु देह की रक्षा के लिए की हुई करुणा शोक रूप में ही परिणत होती है। तू जिस समय सिन्धु राष्ट्रवासी शत्रुवर्ग को जीतेगा उस समय मैं ही तुझको सबसे पहले अभिनन्दित करूँगी। मैं स्पष्ट देख रही हूँ कि तेरे इस दुःखमय समय के अवसान होने पर तेरी अवश्य ही विजय होगी।

इसके उत्तर में संजय कहने लगा कि माँ! इस समय राजकोष सर्वथा रिक्त हो गया है, मित्र मण्डल भी सहायक नहीं हो रहा है। इस दशा में मैं जय की आशा किस तरह करूँ? अपनी यह दारुण दयनीय दशा देखकर ही मैंने अपने राज्य के पुनरुद्धार की आशा छोड़ दी है, जैसे पापी स्वर्ग प्राप्ति की आशा छोड़ देता है। इस अवस्था में भी यदि मेरे जय पा सकने का कोई उपाय हो--जय पाने का तुमको कोई उपाय सूझता हो तो मुझे बतलाओ। तुम्हारे आदेशानुसार मैं कार्य करने को प्रस्तुत हूँ।

इसके उत्तर में महारानी विदुला कहती हैं कि--पिछली समृद्धि की बात सोचकर किसी को अपने आत्मा को अवमानित करना उचित नहीं। समृद्धि और असमृद्धि तो क्रमशः होती जाती रहती है। क्रोध के आवेश में आकर किसी कार्य को आरम्भ कर देना भी उचित नहीं है। बिना सोचे-समझे काम कर बैठना मूर्खजनाचरित मार्ग है। जो करना हो वह बहुत सोच-समझ कर करना चाहिए। यही सज्जनोचित रीति है। जो उद्यमशील होकर कार्य नहीं करता उसको सफलता नहीं मिलती और जो उत्साह सम्पन्न हो कार्य करता है उसको सफलता मिल भी सकती है और नहीं भी। किन्तु उद्यम विहीन जो पुरुष फल लाभ की असंभावना से निश्चिन्त हो हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाता है उसको वृद्धि और समृद्धि कभी भी नहीं मिल सकती। जो उत्साहशील हैं उनकी ही वृद्धि और समृद्धि की संभावना की जाती है। अतः विजिगीषु को सबसे पहले उत्थानशील होना होगा। अपने तथा शत्रु के मण्डल को बड़ी सतर्कता से देखने के लिए हर समय जागृत रहना होगा एवं सम्पत्ति वर्द्धक कार्यों में ही सतत नियुक्त रहना होगा। सर्वदा व्यथारहित चित्त में यही दृढ़ निश्चय रखना चाहिए कि "हमारा अभ्युदय अवश्य होगा।" जो राजा उद्यमशील, जागरूक तथा मांगलिक कर्मों के अनुष्ठाता होते हैं उन बुद्धिमान् राजाओं की समृद्धि निकटवर्ती हुआ करती है। तेरा उत्साह बढ़ाने के लिए ही मैं ये सारी बाते कह रही हूँ।

अब तेरा कुछ कर्त्तव्य बतलाती हूँ उसको ध्यान से सुन और विचार पूर्वक तदनुसार कार्य करने को प्रस्तुत हो। तेरे राज्य में जो व्यक्ति तेरे शासन के विरोधी और क्रुद्ध हैं, या जो लोभी हैं, या जो हीन दीन हैं, जो अभिमानी हैं या जो तुमसे अपमानित हुए हैं एवं जो तेरे साथ स्पर्धा रखते हैं, उनका निर्णय करके दान मान आदि यथोचित उपायों से उनको शान्त कर। इसी तरह अपने शत्रुराज्य के भी इन छ तरह के क्रोधी आदि पुरुषों के विषय में अन्वेषणा से निर्णीत रूप में जानकर शत्रु के विरुद्ध उनको उत्तेजित कर, एवं दान मान आदि यथोचित उपचारों से सन्तुष्ट कर उनको अपने पक्ष में मिला ले। उनके द्वारा शत्रुगणों में बड़ा भेदभाव पैदा कर सकेगा। ऐसा करने पर वायु जैसे अनायास ही मेघ मण्डल को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ होता है इसी तरह तू भी अनायास शत्रु-मण्डल को भेदन करने में समर्थ हो सकेगा। जो व्यक्ति तेरा पक्ष पहले से ही लिये हुए हैं, उन लोगों को अग्रिम भत्ता और वेतन देकर एवं उनको प्रिय वाक्यों से सन्तुष्ट कर उनकी सहायता से शत्रु को जीतने के लिए तैयार हो जा। पहले तू ऐसी व्यवस्था कर जिससे तेरे पक्ष वाले लोग तुझ से विरक्त न होने पायें, प्रत्युत तुझमें अतिशय अनुरक्त हो सकें, यहाँ तक कि तेरे कल्याण के लिए अपना जीवन भी उत्सर्ग कर सकें। ये ही तेरा प्रिय सम्पादन कर तुझको विजय दिला सकेंगे। जब तू अपने पक्षवाले व्यक्तियों के साथ सुदृढ़भाव से सम्बद्ध

होकर विजय या मृत्यु में से एक को प्राप्त करने का निश्चय करके युद्ध के लिए तैयार हो जायगा और लोग जब तेरा यह भीषण निश्चय जान लेंगे कि यह मृत्युपण करके युद्ध के लिए तैयार हुआ है तभी वे हतोत्साह हो जायेंगे।

प्रबल शत्रु को कभी भी युद्ध के लिए नहीं ललकारना। किन्तु श्रेष्ठतम दूतों को नियुक्त करके शत्रुराजा को हतोत्साह कर देना। हतोत्साह शत्रु—वशीभूत शत्रु से अत्यन्त भिन्न नहीं होता। प्रबल शत्रु के भी हतोत्साह हो जाने पर विजिगीषु राजा की नानाविध समृद्धि अवश्यम्भावी है। इतने समय में विजिगीषु राजा अपना कोष एवं सैन्य बल पूरा बढ़ा सकेगा। कोषबल वढ़ जाने पर अनायास ही मित्र लाभ हो सकेगा। धनवान् के ही बहुत से मित्र हो सकते हैं एवं धनवान् का ही सब लोग आश्रय लेते है। समृद्धि के समय जो मित्र होते हैं वे ही असमृद्धि के समय शत्रु हो जाते है।

शत्रु भी धनसमृद्ध राजा का आश्रय ले सकता है। शत्रु को हतोत्साह रख कर विजिगीषु राजा हर तरह से अपना प्रताप बढ़ाने के लिये सचेष्ट रहे। कोष सम्पन्न एवं बल सम्पन्न तथा प्रबल प्रतापान्वित राजा के सामने शत्रु स्वभावत: झुक जाता है। इस दशा मे शत्रु भी यदि सहायक हो जाय तो विजिगीषु राजा को समृद्धि प्राप्त होना सुनिश्चित है। राजा किसी दशा में भी डरे नहीं। कोई भी कैसी ही आपत्ति क्यों न आ जाय निर्भीक चित्त राजा उसका उपशम कर सकेगा। राजा वस्तुत: हृदय में भीत होने पर भी किसी कार्य में डरे हुए की तरह व्यवहार न करे। राजा ही यदि भीत हो जायगा तब उसका मन्त्री आदि प्रकृतिवर्ग अवश्य भीत हो उठेगा। डरे हुए राजा का राष्ट्र, सैन्य एवं अमात्य-वर्ग आपस में एकमत न रह सकेगा। उनकी अलग अलग सम्मतियाँ होंगी। उनमें से कोई शत्रु का आश्रय लेगा या कोई अपने राजा को छोड़ देगा। जो लोग पहले कभी राजा से अपमानित हो चुके हैं, वे ही लोग डरे हुए राजा के कोष आदि का अपहरण कर सकेंगे। राजा के भीत होने पर भी पूर्व उपकृत होने के कारण जो सुहृद्वर्ग राजा का साथ नहीं छोड़ता है वही प्रकृत मित्र होता है। जो मित्रवर्ग राजा की सहायता के लिए उसके कल्याण की कामना करता है वह उसके शोक में शोकयुक्त भी होता है। जो राष्ट्रवासी लोग पहले तेरे द्वारा दान मानादि से सत्कृत हो चुके हैं, वे और तेरे सुहृद्वर्ग जब अपने अपने मन में यह निश्चय करलें कि यह राज्य हमारा ही है, आज हमारा नेता विपत्ति मे पड़ गया है, इसको हम इस आपत्ति से उबारेंगे—इस तरह का दृढ़ अभिमान रखने वाले पुरुष ही प्राकृत मित्र होते हैं और ऐसे बहुत से मित्र तेरे राष्ट्र में ही हैं। तू किसी तरह मत डर। तेरे डर जाने पर तेरा अमात्य-वर्ग भीत हो उठेगा और तुझको छोड़ देगा। तेरा प्रभाव, पौरुष और बुद्धि

जानने के लिए ही और तेरा तेज बढ़ाने के लिए ही मैंने तुझसे यह सब बातें कही हैं। यदि तूने ध्यानपूर्वक मेरी ये सब बातें सुनी हैं तो तू उत्साह के साथ अपनी विजय के लिए उठ खड़ा हो। तेरा संचित विशाल कोष मौजूद है जिसको तू नहीं जानता किन्तु मैं जानती हूँ। इस कोष की खबर किसी को नहीं है। वही संचित महाकोष मैं तुझको देती हूँ। तेरे मुख में सुखी और दुःख में दुःखी होने वाला तेरा बहुत बड़ा सुहृद्वर्ग सहायक है ही। जो संग्राम भूमि से कभी भी पराङ्मुख नहीं हो सकता ऐसा विशाल तेरा सहायकवर्ग तेरे साथ है। ऐसे सहायकों की सहायता से राजा अनायास ही जयश्री पाने में समर्थ हो सकता है।

महारानी बिदुला की ये सारी बातें सुनकर भीत संजय के हृदय से भय निकल गया एवं हृदय उत्साहपूर्ण हो उठा। उस समय संजय कहने लगा कि मैं अगाध शत्रु जल में डूब चुका था, उत्साह हीन हो गया था, केवल मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु मां! तुम्हारे इस असाधारण उपदेश से मैं आज आश्रय पा सका हूँ और मुझे ऐसा उत्साह हो रहा है, मानो मैंने पैतृक राज्य का पुनरुद्धार कर लिया हो। मैंने जो बीच बीच में तुम्हारे उपदेशों का प्रतिवाद किया है वह केवल तुम्हारे और अधिकतर उपदेश सुनने के लिए ही था। तुम्हारे उपदेशों से मेरा हृदय उत्साहपूर्ण हो गया है। अब मैं शत्रु दल को दलिन करने के लिए और युद्ध में विजय पाने के लिए सर्वथा तैयार हूँ। चाबुक से परिचालित अच्छे अश्व के समान संजय महारानी विदुषी विदुला के योग्यतम अनुशासनों से उत्साह पूर्ण होकर उनके द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण उपदेशों को ठीक ठीक कार्यरूप में परिणत कर सका और उसके फलस्वरूप अपने पिता के राज्य का पुनरुद्धार करने में सफल हो गया। विदुला का यह अनुशासन राजाओं के तेज और हर्ष को बढ़ाने वाला है। शत्रु द्वारा निपीड़ित राजा को उसका अमात्यवर्ग यह उपाख्यान सुनाये, जिससे राजा उत्साहपूर्ण हो अपना कर्त्तव्य पालन करने में समर्थ हो सके। यह इतिहास जय के नाम से प्रसिद्ध है। इस इतिहास को सुनने पर राजा को पृथ्वी लाभ एवं उसके शत्रु का विनाश होता है। गर्भिणी स्त्री इस इतिहास को बार बार सुनने पर वीर पुत्र प्रसव करती है। क्षत्रिय रमणियाँ इस उपाख्यान को सुनकर तेज, शौर्य, विक्रम सम्पन्न एवं महापराक्रमशाली, शत्रु विजेता, असज्जनों का नियन्ता और सज्जनों का परिपालक पुत्र पैदा करती हैं।

महारानी गान्धारी का अनुशासन

महाभारत के उद्योगपर्व में १२९ वें अध्याय में महारानी गान्धारी के अनुशासन का विवरण मिलता है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय संधि का

प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर आये, उस समय कौरव और पाण्डव दोनों ही पक्षवालों की एक बहुत बड़ी सभा का अधिवेशन हस्तिनापुर में संधि प्रस्ताव पर विचार करने के लिए आयोजित हुआ। विशालतम भारत के अगणित राजा लोग इस सभा में इकट्ठे हुए। निकट भविष्य में होने वाले महाजनक्षय को रोकने के लिए इतनी बड़ी संधि सभा का अधिवेशन भारतवर्ष में फिर कभी नहीं हुआ। इस सभा में भगवान् श्रीकृष्ण ने कौरव और पाण्डवों को आपस में संधि करवाने का जो प्रस्ताव रखा महाराज दुर्योधन उसका सर्वथा प्रत्याख्यान कर अपने मतानुयायी राजाओं के सहित सभा भवन को छोड़कर चला गया। इससे सभा में बैठे हुए समस्त सभ्यगण विशेषतः श्रीकृष्ण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। इससे महाराज धृतराष्ट्र अत्यन्त भयभीत हो गये और उन्होंने महारानी गान्धारी को सभा में बुलाने के लिए महामति विदुर को आदेश दिया।

धृतराष्ट्र ने सोचा कि महारानी गान्धारी का सत्परामर्श सुनकर हो सकता है कि दुर्योधन श्रीकृष्ण की संधि की शर्तें मान ले। महाराज धृतराष्ट्र के आदेशानुसार महामति विदुर दीर्घदर्शिनी गान्धारी को राजसभा में लिवा लाये। गान्धारी के सभा में आने पर महाराज धृतराष्ट्र ने गान्धारी से सभा में किये गये दुर्योधन के अनुचित औद्धत्य पर प्रकाश डालते हुए संधि की शर्तों को अस्वीकार करने की सारी बात कह दी और अनुरोध किया कि वह दुर्योधन को पाण्डवों के साथ संधि कर लेने के लिए सम्मत होने का उपदेश दें। दूरदर्शिनी गान्धारी ने भी सोचा कि दोनों पक्षों की (कौरव पाण्डवों की) संधि होने पर सबका ही विशेष कल्याण हो सकेगा। इसलिये गान्धारी ने विदुर को दुर्योधन के मतानुयायी राजाओं के सहित दुर्योधन को सभा में बुलाने का आदेश दिया और गान्धारी महाराज धृतराष्ट्र से कहने लगी कि हे महाराज! इस घोर दुर्नीति के कारण आप ही हैं। पहले से ही दुर्योधन का दुर्नीतिमय पाप अभिप्राय जानकर भी आपने दुर्योधन की दुर्बुद्धि का ही अनुवर्तन किया। काम और क्रोध के वशीभूत एवं मोह समाच्छन्न दुर्योधन आपके अभिप्रायानुसार ही राज्य पा सका है। आज उसको बलपूर्वक उन दुष्कर्मों से हटाना बहुत कठिन है। मूढ़, मूर्ख, दुरात्मा, दुष्ट जन ही जिसके सहायक हैं, ऐसे लोभी दुर्योधन को राज्य देकर आप ही आज उसका फल भोग रहे हैं। द्यूत सभा में जिस समय पाण्डवों के साथ दुर्योधन का भेद (फूट) उपस्थित हुआ था, उस समय किसी तरह भी उस फूट की उपेक्षा करना आप को उचित न था। अपने जनों में फूट की उपेक्षा करना राजा के लिए किसी भाँति भी संगत नहीं कहा जा सकता। अपने ही जनों में भेद पड़ जाने पर उनके शत्रु लोग उससे आनन्दित होते हैं। पहले ही जिसका प्रतिविधान कर देने पर अनायास दोनों पक्षों का कल्याण साधित हो सकता था, आज अधिकतम प्रयास से भी उसका सम्पादित होना महा कठिन है। दुर्योधन को

पहले ही साम अथवा भेद प्रयोग द्वारा इन दुष्कर्मों से हटाना अनायास साध्य था किन्तु आज दण्ड प्रयोग करने पर भी उसको उन दुष्कर्मों से हटाना महा कठिन है। कोई भी नीतिज्ञ राजा उपयुक्त समय पर साम साध्य या भेद साध्य विषय की पहले उपेक्षा कर बाद में उसको दण्ड प्रयोग से सिद्ध करने का प्रयास न करे।

धृतराष्ट्र और गान्धारी के आदेशानुसार महामति विदुर दुर्योधन को उसके मतानुयायी राजाओं के सहित सभा में लिवा लाये। दुर्योधन अतिशय क्रुद्ध होने पर भी केवल माता के आदेश पालन के गौरव से ही संधि सभा में फिर आ बैठा। पुत्र दुर्योधन को राजसभा में आया जानकर महारानी गान्धारी कौरव पाण्डवों में शान्ति स्थापन करने के लिए दुर्योधन को झिड़क कर बोली, हे दुर्योधन! तुम्हारे मतानुसारी राजाओं के सहित ही तुमको तुम्हारे वर्तमान और भावी कल्याण के लिए कई एक बातें कहूँगी। श्रीकृष्ण ने जो संधि की शर्तें तुम्हारे सामने रखी हैं उनको यदि तुम स्वीकार कर लोगे तो मैं एवं भीष्म, द्रोण, महाराज धृतराष्ट्र सभी सम्मानित एवं आनन्दित होंगे। प्रिय दुर्योधन! मनमाना व्यवहार करने पर कोई राजा कभी भी अप्राप्त राज्य की प्राप्ति एवं प्राप्त राज्य का परिपालन नहीं कर सकता और न प्राप्त राज्य के उपभोग का सुख ही पा सकता है। अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकने वाला राजा अधिक दिनों तक राज्य का उपभोग नहीं कर सकता। जो राजा अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं तथा मेधावी हैं, वे ही अधिक समय तक राज्य परिपालन करने में समर्थ होते हैं। विशेषकर राजाओं के काम और क्रोध के वश में हो जाने पर उनका राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। काम और क्रोध राजा के परम शत्रु हैं। इन दोनों शत्रुओं को पहले पराजित करके राजा पृथ्वी को जय करने में समर्थ होता है। लोक पर शासन और प्रभुत्व करना बड़ा कठिन काम है; दुष्ट राजा-लोग इस गुरुतर भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। राज्य सबको ही अच्छा लगता है किन्तु यह सबको अच्छा लगने वाला राज्य कभी भी मनमानी करने से रक्षित नहीं हो सकता। जो लोग प्रभुत्व या आधिपत्य चाहते हैं उनको सबसे पहले काम और अर्थ में अपनी इन्द्रियों को संयत करना आवश्यक है।

इन्द्रियों को वश में रखने वाले की बुद्धि शुद्ध एवं परिवर्द्धित होती है। अजितेन्द्रिय निर्बुद्धि होता है और कभी भी प्रभुत्वरूप महत्व नहीं पा सकता। जैसे बेकाबू घोड़े को रथ में जोड़ देने पर रथ और सारथी दोनों नष्ट हो जाते हैं ऐसे ही अजितेन्द्रिय राजा का इन्द्रियवर्ग भी उसके विनाश का कारण होता है। जो राजा अपने को बिना जीते शत्रु राजाओं को जीतने की इच्छा करता हैं वह राजा असहाय होकर अपने को ही नष्ट कर लेता है। विजिगीषु राजा

का सर्व प्रथम कर्तव्य है कि वह पहले अपने को ही शत्रु रूप में समझे। जो अपने को ही नहीं जीत सका है, वह और शत्रुओं को कभी भी नहीं जीत सकता। इन्द्रियों के जय करने पर ही आत्मजय हो सकता है। इसलिये विजिगीषु राजा आत्मजय करके ही अमात्यवर्ग को जीते और अमात्यगण को जीत कर ही शत्रु-राजा पर विजय प्राप्त करे। आत्मजय और अमात्यजय किये बिना शत्रु को जीतने का जो प्रयत्न करता है वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। जिस राजा की इन्द्रियां वश में हैं जो धीर प्रकृति है, सोच समझ कर कार्य करने वाला है एवं अपराधी को दण्ड देने की सामर्थ्य रखता है, वही राजलक्ष्मी प्राप्त कर सकता है। काम और क्रोध के समान बुद्धि नष्ट करने वाला शत्रु और कोई नहीं। जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और अभिमान को अच्छी तरह जीतना जानता है, एकमात्र वही राजा हो सकता है। जो राजा सर्वदा इन्द्रिय निग्रह में सावधान होकर धर्म, अर्थ और शत्रु के पराजय की इच्छा करता है वही राजा हो सकता है और वही प्रजावर्ग का पालक हो सकता है। जो राजा कामपरवश हो अथवा क्रोधान्ध होकर मनमाना काम करता है, अपने मण्डल में तथा परमण्डल में उसका कोई भी सहायक नहीं होता।

दुर्योधन! यदि तू महाप्राज्ञ, शूर एवं शत्रु निहन्ता पाण्डवों के साथ मिल जाय तो तू सुखी होकर पृथ्वी को चिरकाल तक भोग सकेगा। कृष्ण और अर्जुन सर्वथा अजेय हैं यह बात भीष्म और द्रोण बार बार कह चुके हैं। जो राजा अपने अत्यंत हितैषी मित्रों एवं बुद्धिमान्, विद्वान् व्यक्तियों के अनुशासन में नहीं रहता है वह शीघ्र ही शत्रुओं के आनन्द को बढ़ाने वाला होता है। तू जो पाण्डवों के साथ युद्ध की बात सोचता है इस युद्ध के होने पर तेरा जरा भी कल्याण न हो सकेगा। इस युद्ध के होने से तुझको धर्म, अर्थ और सुख कुछ भी प्राप्त न हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि युद्ध में जय अनिश्चित है, इसलिये तू पाण्डवों से युद्ध करने के लिये अग्रसर मत हो। हे दुर्योधन! इससे पहले महाराज वाल्हीक, भीष्म, एवं धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को राज्य का आधा भाग देकर उनको इन्द्रप्रस्थ नगरी में बसा दिया था। यह भी उन्होंने तुम्हारे साथ पाण्डवों के भेद के भय से ही किया था। पाण्डवों को राज्यार्ध देने के फल-स्वरूप ही तो तू आज राजा है। पाण्डवों को आधा राज्य न देने पर आज से कहीं पहले ही तेरे साथ यदि उनका युद्ध हो गया होता तो आज तू राजा नहीं हो सकता था। पाण्डवों को अवश्य प्राप्य उनका आधा राज्य बहुत शीघ्र तू दे दे। जो आधा राज्य तेरा है वही अमात्यवर्ग के सहित तेरे लिये पर्याप्त है। भीष्म आदि सुहृद्वर्ग के अनुशासन के अनुसार पाण्डवों के साथ संधि कर लेने पर ही तू यशस्वी हो सकेगा। यदि पाण्डवों से संधि न करके युद्ध में प्रवृत्त होगा, तो तू सब सुखों से वंचित हो जायगा, क्योंकि पाण्डवगण

आत्मवान्-बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय हैं। तू क्रोध को शांत कर मित्रों के अनुशासनानुसार पाण्डवों को उनको मिलने वाले राज्य का आधा भाग अवश्य दे दे। पिछले तेरह वर्षों में पाण्डवों ने अति दुःख से समय बिताया है; तू और अधिक काम और क्रोध की मात्रा मत बढ़ा। तू कर्ण दुःशासन आदि की सहायता से पाण्डवों का राज्य भोगने में कभी भी समर्थ न हो सकेगा। निश्चय रख यदि यह युद्ध हो गया तो इस में भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, भीमसेन, अर्जुन, धृष्टद्युम्न आदि सभी वीर अत्यन्त क्रोधित हो सम्मिलित होंगे और इससे सारी प्रजा नष्ट हो जायगी।

हे दुर्योधन! केवल क्रोध के वश हो कुरुवंश का समूलोन्मूलन मत कर। हे पुत्र! तू क्रोध के वशीभूत हो इस पृथ्वी का संहार मत कर। तेरे कारण जिससे पृथ्वी नष्ट न हो सके इस विषय पर विचार कर।

रे मूढ़! तू सोचता है भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि तेरे लिये अपनी पूरी शक्ति से पाण्डवों के साथ युद्ध करेंगे, किन्तु यह तेरी बड़ी भ्रांति है। क्योंकि तुम्हारे साथ भीष्म आदि का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध इनका पाण्डवों के साथ है। यह राज्य जैसे तुम्हारा है वैसे ही पाण्डवों का भी है। इन सब बातों में पाण्डवों के साथ तुम्हारी समता होने पर भी पाण्डव धार्मिक हैं और तुम लोग घोर अधर्मी हो। तुम्हारा अन्न खाने के कारण यदि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि पाण्डवों के साथ युद्ध में प्रवृत भी हों तो भी तुम्हारा कोई लाभ न होगा, क्योंकि युद्ध में भीष्मादि लड़ कर जीवन त्याग देंगे किन्तु युधिष्ठिर का कुछ अनिष्ट करने का प्रयत्न न करेंगे। केवल लोभ के वशीभूत होकर अर्थसम्पद् की अभिवृद्धि नहीं हुआ करती। तू उत्कट लोभ के वशीभूत हो संसार का विनाश मत करा। पाण्डवों के साथ संधि करके शांत हो जा। इसके बाद महारानी गान्धारी उस महती सभा में कहने लगी—इस सभा में जो समस्त राजगण, ब्रह्मर्षिगण एवं अन्यान्य सभासद्गण इकट्ठे हुए हैं, वे सब मेरी बातें सुन लें—यह दुर्योधन अपने अनुयायी राजाओं के तथा उनके अमात्य आदिकों के साथ मिलकर बड़ा भारी पाप कर्म करने पर उतारू हो रहा है। हमारे कुरुवंश में यही कुल धर्म है कि जो बड़ा होता है वही राजा होता है। यह नृशंस कर्मा दुर्योधन दुर्नीतिपरायण हो इस कुलधर्म को नष्ट करना चाहता है। जब तक महाराज धृतराष्ट्र एवं उनके छोटे भाई दीर्घदर्शी विदुर जीवित हैं तब तक इन दोनों को उल्लंघन कर दुर्योधन किसी तरह भी राजा नहीं हो सकता। राजा धृतराष्ट्र एवं विदुर इन दोनों को भी भीष्म के जीवित रहते राज्य का अधिकार नहीं है। महात्मा भीष्म ने राज्य करना नहीं चाहा, इसी कारण धृतराष्ट्र राजा हुए हैं। वास्तविक धृतराष्ट्र राजा नहीं हैं। इस राज्य के राजा थे महाराज पाण्डु। इसलिये पाण्डु के पुत्रों का ही इस राज्य पर अधिकार है। पिता के राज्य पर

पुत्रों का एवं पितामह के राज्य पर पौत्रों का अधिकार होता है। सुतरां सारा राज्य ही पाण्डवों का है, इस राज्य पर दुर्योधन का कोई अधिकार नहीं। अतः इस विशाल कुरुराज्य का शासन युधिष्ठिर ही करें। भीष्म और धृतराष्ट्र राजा युधिष्ठिर के उपदेष्टा रूप में रहें।

महाराज धृतराष्ट्र का अनुशासन

आश्रमवासिक पर्व के पांचवे अध्याय में महाराज धृतराष्ट्र ने भारत सम्राट् युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश किया है। यद्यपि महाराज धृतराष्ट्र भारतीय श्रेष्ठ राजाओं में गिने जाने वाले नहीं थे, फिर भी उन्होंने चिरकाल तक एक वृहत्तम राज्य का शासन किया था। चिरकाल तक राज्य शासन करके धृतराष्ट्र ने जो अभिज्ञता प्राप्त की थी एवं अनेक प्रकार के नीतिशास्त्रों की आलोचनाओं से जो सिद्धान्त उनको ज्ञात हो सके थे वे सब उन्होंने वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने के पहले भारत सम्राट् युधिष्ठिर को बतला दिये हैं। हमारे देश में अनेक व्यक्ति अनेक दायित्वपूर्ण (जिम्मेदारी वाले) पदों पर चिरकाल तक रहकर वृद्धावस्था में उस पद से अवकाश ले लेते हैं। बहुत दिनों तक दायित्वपूर्ण पदों का जिन्होंने संचालन किया है उन उन विषयों में उनको जनसाधारण की अपेक्षा अधिक जानकारी होना स्वाभाविक है। किंतु हम ऐसे एक व्यक्ति को भी नहीं देख पाते हैं जिन्होंने चिरकाल तक दायित्वपूर्ण किसी पद पर रहकर किसी विशेष विभाग का संचालन कर उससे प्राप्त अपनी विशेष अभिज्ञता दूसरों को बतलायी हो। जो शिक्षा विभाग के संचालक हैं, जिन्होंने चिरकाल तक उस दायित्वपूर्ण पद पर रह कर काम किया है उन्होंने प्रचलित शिक्षा की त्रुटियों को दूर करने के उपाय, शिक्षा प्रणाली के दोष और उनके दूर करने के उपाय, आदि के सम्बन्ध में कुछ बतलाया हो या किया हो, ऐसा कुछ आज तक ज्ञात नहीं हुआ है। इसी तरह विचार विभाग में, देशरक्षा विभाग में, जिसने जिस उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहकर काम किया है, उस विषय की त्रुटियों के निवारण के उपाय एवं वर्तमान में उनमें कैसे उचित परिवर्त्तन की आवश्यकता है इत्यादि बातें प्रकाशित नहीं कीं। केवल गतानुगतिक भाव से (पहले लोग जैसा करते चले आये हैं) प्रतिदिन का नियत काम कर देने के अतिरिक्त प्रचलित व्यवस्था के गुण दोष के सम्बन्ध में किसी तरह की विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील कोई नहीं देखा जाता।

महाराज धृतराष्ट्र सुराजा था या कुराजा, किंतु उसने चिरकाल तक राज्य का परिचालन करके जो अभिज्ञता संचय की थी वह उसने जीवन के शेष भाग में भारत सम्राट् युधिष्ठिर को उपदेश कर दी। स्वाधीन भारत के और पराधीन

भारत के व्यक्तियों मे यही बड़ा वैलक्षण्य है कि स्वाधीन भारत के लोगों में जो जिस कार्य को करता था, वह उस कार्य को बड़ी ही श्रद्धा और समादर से संपादन करता था और पराधीन भारत के जो लोग जो कार्य करते हैं, उसे किसी श्रद्धा और आदर के साथ नहीं, अपितु किसी तरह से नौकरी करके दिन बिताना है इसी भावना से अपने मिलने वाले वेतन और भत्ता के संग्रह करने में ही व्यस्त रहते हैं। महाराज धृतराष्ट्र ने बहुत दिनों तक राजकार्य चलाया था राजनीति शास्त्र में उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। इसीलिये उन्होंने उसके परम आदरणीय सिद्धान्त अपने जीवन के शेष समय में युधिष्ठिर को बतला दिये थे।

धृतराष्ट्र कहते हैं कि हे कुरुनन्दन! तुम इस अष्टाङ्ग राज्य में सर्वदा बड़ी सावधानी से रहना--कभी भी असावधान नहीं होना। जहां एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सब नीतिशास्त्रकारों ने १--स्वामी, २--अमात्य, ३--राष्ट्र, ४--दुर्ग, ५--कोष, ६--सैन्य, ७--सुहृद् इन सातों को लेकर ही सप्ताङ्ग राज्य कहा है। किंतु महाराज धृतराष्ट्र अष्टाङ्ग राज्य कहते हैं। राज्य का आठवां अङ्ग क्या है वह उन्होंने यहां नहीं बतलाया है।

धृतराष्ट्र कहते हैं--हे युधिष्ठिर! तुम सर्वदा विद्वान् और ज्ञानवान् व्यक्तियों का समादर करना और उनका मत सुनना। प्रातःकाल उठ कर उक्त व्यक्तियों का सत्कार करना और सन्दिग्ध विषयों में उनका उपदेश भी ग्रहण करना। विद्वान् और ज्ञानी लोग तुम्हारे द्वारा सत्कृत होने पर सब विषयों में तुमको हितोपदेश करेंगे। भारतीय राजनीतिशास्त्र के प्रारम्भ में ही विद्वान् व्यक्तियों का संयोग आवश्यक बताया है। इसीलिये कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही वृद्धसंयोग बताया है। राजा का रक्षित धन जैसे प्रजा के कल्याण के लिए होता है इसी तरह संयम द्वारा इन्द्रियोंके सुरक्षित होने पर उससे अशेष कल्याण होता है। अश्वों का विनेता (घोड़े को शिक्षा देने वाला) जैसे दुष्ट घोड़े को शिक्षित करके ठीक चलने वाला बना देता है, इसी तरह राजा भी दुष्ट घोड़े की तरह अपनी इन्द्रियों को सर्वदा संयत करे, यही भारतीय नीतिशास्त्र में इन्द्रियजय नाम से कहा गया है। कौटिल्य ने भी वृद्धसंयोग के बाद इन्द्रियजय प्रकरण कहा है। आगे धृतराष्ट्र कहते हैं--हे युधिष्ठिर! तुम पिता पितामह आदि के क्रम से चले आने वाले शुचि एवं इन्द्रियों पर विजय पानेवाले, उपधा विशुद्ध (छल-कपट से परीक्षा लेने पर सर्वथा शुद्ध) अमात्यों को उनके योग्य पदों पर नियुक्त करना। कौटिल्य ने भी इन्द्रियजय के बाद अमात्योत्पत्ति कही है। धृतराष्ट्र कहते हैं कि अमात्यवर्ग उपधाविशुद्ध होना चाहिए। नीतिशास्त्र में धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा, ये चार उपधायें कही गई हैं। एक-एक उपधा विशुद्ध व्यक्ति को उनके योग्य पदों पर नियुक्त करना--जैसे धर्मोपधा शुद्ध व्यक्ति को धर्मस्थानों से सम्बन्ध रखने वाले कार्य में अथवा कण्टक-शोधन

कार्य (चोर डाकू आदि दुराचारी व्यक्तियों को जानकर उनकी उचित व्यवस्था करना) में नियुक्त करना। अर्थोपधा शुद्ध पुरुष को धन संग्रह कार्य में तथा धन रक्षण कार्य में नियुक्त करना। कामोपधा शुद्ध पुरुष को अन्तःपुर रक्षादि कार्यों में नियुक्त करना। भयोपधा शुद्ध व्यक्ति को राजा अपने शरीर रक्षा आदि खास खास कामों में रखे और चारों ही उपधाओं से विशुद्ध पंचम व्यक्ति को प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त करे। जो इन किसी भी परीक्षाओं में शुद्ध न निकले—हर प्रकार की परीक्षा में अशुद्ध प्रमाणित हो उनको आकर (खान), अरण्य और हाथियों के जंगल आदि की रक्षा में नियुक्त करे। उपधा शब्द का अर्थ है छल। धर्म आदि चारों विषयों में छल उद्भावन कर अमात्यवर्ग की परीक्षा की रीति कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथमाध्याय के छठे प्रकरण में वर्णित है। मनुसंहिता के सातवें अध्याय के ५४वें श्लोक में भी अमात्यपरीक्षा की बात कही गई है। इस श्लोक के भाष्य में मेधातिथि ने कौटिल्य अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय के छठे प्रकरण को पूर्ण रूप से ही उद्धृत कर दिया है।

शान्तिपर्व के ८३वें अध्याय के ५२वें श्लोक में पाँचों उपधाओं में सर्वथा विशुद्ध प्रमाणित होने वाले मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करने की बात कही गई है। इस श्लोक की टीका में नीलकण्ठ ने कायिक वाचिक और मानसिक तीन तरह के छल अलग अलग तथा दूसरे के संयोग से पांच तरह के बतलाये हैं। नीलकण्ठ की यह टीका बहुत ही असंगत है। अर्थशास्त्र को न जानने के कारण ही उन्होंने ऐसा लिख दिया है। अमात्यों की इस तरह से परीक्षा करके नियुक्ति करने की बात भारत में बहुत दिनों से लुप्त हो गई है। अमात्यगणों की पूर्वोक्त उपधाओं से कभी एक दिन परीक्षा हो जाने पर भी यावज्जीवन उनके उन पदों पर उसी सच्चाई से वैसा ही कार्य होता रहे यह संभव नहीं। इसलिए समय समय पर उसके कार्य की परीक्षा अपेक्षित होती है। किसी रूप में एक किसी उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर एक दिन प्रतिष्ठित होकर यावज्जीवन वह उस पद पर ही रह सके, उसके कार्य की कोई कभी विवेचना ही न हो, इस प्रथा को भारतीय नीति-शास्त्र में कभी मान्यता प्राप्त न थी। इसलिए दुर्नीति-सम्पन्न अमात्यगणों को किसी राजकार्य में चिरकाल तक नहीं रखा जाता था। प्रत्येक पदाधिकारी के कार्य का समय समय पर परीक्षण करके उनके कार्यो का औचित्य-अनौचित्य के अनुसार ही उनके पदों की वृद्धि अथवा हीनता या पदच्युति की परीक्षा की व्यवस्था भारतीय नीति-शास्त्र मात्र में सर्वत्र देखी जाती है। इसके बाद महाराज धृतराष्ट्र कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! तुम अपने राष्ट्रवासी जनों की ही अनेक तरह से परीक्षा करके "चार" कार्य में नियुक्त करना। परीक्षित गुप्तचरों को ही तुम अपने मण्डल तथा दूसरों के मण्डलों में घूम कर राष्ट्रों के पूरे समाचार जानने को नियुक्त करना। ये गुप्तचर आपस में एक दूसरे को न जानता हुआ अनेक तरह के

भिन्न-भिन्न रूप बनाकर अपने और दूसरे राष्ट्रों का यथार्थ समाचार गुप्त रूप से जान ले। इनके द्वारा जाने हुए सब समाचारों को तुम इनसे बराबर समय समय पर जानते रहना। मनु के सप्तमाध्याय के ५४वें श्लोक में भी पंचवर्ग (पाँच तरह के गुप्तचर) के जानने की बात कही गई है। इसके भाष्य में मेधातिथि ने १––कापटिक, २––उदास्थित, ३––गृहपति व्यंजन, ४––वैदेहक व्यंजन, ५––तापस व्यंजन––इन पाँच प्रकार के गुप्तचरों का परिचय दिया है। वह पूरा ज्यों का त्यों कौटिल्य अर्थशास्त्र से उद्धृत किया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के सातवें अध्याय के सातवें प्रकरण में यह गूढ़पुरुषोत्पत्ति का विषय मिलता है। गूढ़ पुरुष को ही यहां चार कहा गया है।

मेधातिथि ने पूरे का पूरा यह परिचय अक्षरशः कौटिल्य अर्थशास्त्र से उद्धत करके भी कौटिल्य का नाम तक नहीं दिया। इसी से उनके बाद के टीकाकार कुल्लूक भट्ट आदि ने भी मेधातिथि के ही इस अंश को उद्धृत कर दिया। उन्होंने भी कौटिल्य का नामोल्लेख नहीं किया। कौटिल्य ने इस प्रकरण के बाद अष्टम प्रकरण में, १––सत्री, २––तीक्ष्ण, ३––रसद, ४––भिक्षुसी, इन चार तरह के चारों का काम बतलाया है। इन दोनों प्रकरणों को ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा कि प्राचीन भारतीय राजनीति के अनुसार नृपतिवर्ग शत्रुराज्य, मित्रराज्य, मध्यम राजा के राज्य तथा अपने राज्य में चारों को भेज कर किस प्रकार सम्पूर्ण समाचार जानते रहते थे। ये सत्री आदिक चारों प्रकार के गुप्तचर लोग अपने राष्ट्र में तथा दूसरे राज्यों में गुप्तरूप से घूम कर जो समाचार संग्रह करें उस पर राजा को कहां तक निर्भर होना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में कौटिल्य कहते हैं कि जो सत्री आदिक गुप्तचर लोग जिस राष्ट्र में घूमे, उसी राष्ट्र में घूमने वाले दूसरे गुप्तचरों को वे आपस में न जान सकें इसका राजा को पूरा प्रबन्ध रखना चाहिये। आपस में एक दूसरे से सब तरह अपरिचित तथा एक दूसरे की बात से सर्वथा अनभिज्ञ गुप्तचर लोग सभी एक ही तरह का समाचार लावें तो वही समाचार राजा के लिये विश्वसनीय होता है। जब ये गुप्तचर एक ही विषय का परस्पर विरुद्ध समाचार दें तो इनके लिये गुप्त दण्ड की व्यवस्था करना अथवा इनमें से जिसकी खबर गलत साबित हुई हो उसको इस कर्म से (गुप्तचर विभाग से) अलग कर देना आवश्यक है। इसके बाद महाराज धृतराष्ट्र फिर कहने लगे कि जिनके पिता पितामह आदि अमात्य पदों पर काम करते हैं ऐसे ही व्यक्तियों को अमात्य पद पर नियुक्त करना। यही अमात्यवर्ग उपधा विशुद्ध हो एवं उसे अपने कार्य सम्पादन में दक्ष तथा इन्द्रिय विजेता होना उचित है। धृतराष्ट्र फिर बोले––हे युधिष्ठिर! गुप्तचरों की पूरी परीक्षा करके ही उनको इस कार्य में नियुक्त करना चाहिये। यह गुप्तचर-वर्ग अपना देशवासी होना चाहिये। अपनी राजधानी तुम को हर तरह से सुरक्षित

रखनी चाहिये। राजधानी का परकोटा (चहारदीवारी) सुदृढ़ होना चाहिये और चारों तरफ से खाई आदिकों से घिरा रहना भी चाहिये। शहर में अंदर घुसने के लिये सुरक्षित तोरण रहना चाहिये। राजधानी दुर्ग की तरह होनी चाहिये और इस दुर्ग के ऊपर रक्षक सैनिक लोगों के हर समय घूमने का स्थान रहना चाहिये। जिस पर घूम कर सैनिक लोग सजग होकर पहरा दे सकें। राजधानी के चारों तरफ क्रमशः सात प्राकार (परकोटे) रहने चाहिये। इन सात प्राकारों के सबसे अंदर के भाग में तुम्हारा अन्तःपुर होना चाहिये। नगरी के चारों तरफ चार विशाल द्वार रहने चाहिये। ये चारों ही द्वार अनेक तरह के यंत्रों (तोप आदि) से सुरक्षित रहने आवश्यक हैं। तुम्हारी देह रक्षा के लिये हर समय ऐसे व्यक्ति नियुक्त रहने चाहिये जो हर तरह से विश्वसनीय एवं हितैषी हों और अच्छे ऊँचे वंश में पैदा हुए हों और विशुद्ध-चरित्र हों। वे खाते, सोते, घूमते हर समय तुम्हारी रक्षा कर सकें। तुम्हारे अन्तःपुर की रक्षा में भी ऐसे व्यक्ति नियुक्त रहने चाहिये जो अनेक बार अनेक तरह से परीक्षा किये जाने पर विशेष चरित्रशील प्रमाणित हो सके हों तथा अच्छे समुन्नत वंश में पैदा हुए हों, विद्वान् एवं वृद्ध हों। अनेक विद्या विशारद, विनीत, धर्म तथा अर्थ में कुशल ब्राह्मण को तुम्हारा प्रधान मन्त्री होना चाहिये। ऐसे मन्त्रियों से तुमको सलाह करनी चाहिये, किन्तु एक साथ बहुत से मन्त्रियों के साथ सलाह नहीं करनी चाहिये। किसी एक विषय को लेकर उसी विभाग के मन्त्री से उस विषय में परामर्श करना उचित है। यदि किसी विशेष व्यवस्था के लिये एक मन्त्री की सलाह से कोई कर्तव्य निर्णय न हो सके तो कभी कभी मन्त्रिपरिषद् से भी सलाह की जा सकती है।

तुम्हारा मन्त्रणागृह अत्यंत सुरक्षित रहना चाहिये। मन्त्रणा स्थान में किसी अन्य व्यक्ति को नहीं रहना चाहिये। रात्रि में कभी भी सलाह नहीं करनी चाहिये। मन्त्रणा गृह में बंदर आदि कोई प्राणी और मनुष्यों की सी बोली बोल सकनेवाला तोता मैना आदि पक्षी तथा अत्यंत जड़ बुद्धि, पंगु आदि मनुष्य भी नहीं रहने चाहिये। सलाह करते समय पूर्ण सावधान रहना चाहिये जिसमें गुप्त सलाह बाहर प्रकट न होने पाये। राजा को इसकी पूरी व्यवस्था रखनी चाहिये। सलाह बाहर प्रकाशित हो जाने पर इतना बड़ा दोष होना संभव है कि जिसका समाधान ही न किया जा सके। इसलिये मन्त्रिमण्डल को मन्त्रभेद के पूरे दोष बता देने चाहिये। मन्त्रणा के गुप्त रहने में जो गुण हैं, वे भी बार बार मन्त्रिमण्डल को समझाते रहना चाहिये।

तुम अपने शहर में रहने वाले तथा अपने राष्ट्र मात्र में रहने वाले प्रजावर्ग का पूरा अभिप्राय विशेषरूप से जानते रहो। तुम्हारे विषय में किन की क्या भावनायें हैं, प्रजा तुमसे अनुरक्त है या विरक्त हो चली है, इसकी तुमको पूरी

खोज खबर रखनी चाहिये। अपनी प्रजा की भावनाओं से कभी भी बेखबर मत रहना। तुम्हारे राज्य के विचार-विभाग (दीवानी फौजदारी) में अधिक विश्वसनीय सच्चरित्र व्यक्ति ही नियुक्त होने चाहिये। फिर उनके फैसले (निर्णयों) की सत्यासत्य परीक्षा के लिये अत्यंत गुप्त रूप से उन मुकदमों की सचाई जान सकें ऐसे गुप्तचरों को नियुक्त कर देना चाहिये। जिससे विचारकगण स्वार्थपरायण हो गलत फैसला न दे सकें। किसी विषय में अपराधी का अपराध कितना है, इसका पूरा निर्णय करके ही अपराधी को दण्ड दिया जाना चाहिये। विचारकगण (मुंसिफ जज आदि) विधान के (कानून) अनुसार ही फैसला दें।

जो लोग वादी प्रतिवादी दोनों में से किसी से भी किसी तरह धनादि उपार्जन की इच्छा करें, उनको जानकर राजा अपराधानुसार धन दण्ड या शरीर दण्ड जो उचित समझे, दें। तुम्हारे राज्य में जो राजकर्मचारी दूसरों का धन लेना चाहे या दूसरों की स्त्रियों की चाह करे, अथवा कड़ा दण्ड देने का अभ्यासी हो गया हो, या विचार करने में प्रमाद करता हो, उसका दोष जानकर धन दण्ड या शरीर दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए। तुम्हारे राज्य में जो जबर्दस्ती दूसरों का धन छीनना चाहे, या लुब्ध प्रकृति हो, अथवा दूसरों का मिथ्या अपवाद प्रचारित करे, या सभा, विहार आदि स्थानों को नष्ट करने की चेष्टा करे, ब्राह्मण आदि वर्णों को दुराचारादि से दूषित करे, ऐसे राज कर्मचारियों और विचारकगण के लिये उनके अपराधानुसार सुवर्ण दण्ड या बध दण्ड की व्यवस्था करना। तुम्हारे राज्य में जो व्यक्ति व्यय कार्य में नियुक्त हो, उनका पूरा काम तुम प्रतिदिन प्रातःकाल ही देखते रहो। खर्च-खाता देखने के बाद तुम भोजनादि कार्य तथा अलंकारादि धारण करना। इसके बाद सेना को देखना। सेना का निरीक्षण करते समय इसका पूरा ध्यान रखना कि सेना का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है या नहीं। तुम रात्रि के पूर्व भाग में राजदूत एवं गुप्तचरों के लाये समाचारों को उनसे जानना और फिर प्रातःकाल जागृत हो स्वराष्ट्र या परराष्ट्र के सब समाचारों के अनुसार, तुमको क्या करना चाहिए, यह निश्चय करना। मध्यरात्रि एवं मध्याह्न में सुख से आराम करना। यद्यपि मैंने सब कार्यों के समय का विभाग कर दिया है, तथापि तुम इन कार्यों का समय अपनी सुविधा के अनुसार निश्चित कर सकते हो। किसी भी समय कोई भी कार्य कर सकते हो। तुम प्रतिदिन वस्त्रालङ्कार से सुसज्जित हो राज्यसभा में उपस्थित होना। चक्र-परिवर्तन की तरह राज्य कार्य आवर्तित होता रहता है। इसके देखने या करने में तुम कभी भी आलस्य न करना। न्यायानुसार कोष संचय का पूर्ण प्रयत्न करना। जैसे अनेक प्रकार के कोष-संचय करने का प्रयत्न करना, वैसा ही ध्यान, संचित कोष के व्यर्थ नष्ट न हो जाने का भी रखना। तुम शत्रु की कमजोरियों को गुप्तचरों द्वारा बराबर जानते रहना। तुम जिन शत्रुओं के विषय में गुप्तचरों द्वारा

यह जान सको कि वे तुम्हारी कमजोरी को जान कर उनसे अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं उनको पहले ही अपने हितैषियों के द्वारा शान्त करने का सफल प्रयत्न करना। तुम अच्छी तरह सोच समझ कर भृत्यवर्ग का काम देखकर उनको उनके योग्य कार्यों में नियुक्त करना। सेनापति पद पर तुम ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करना—जो तुम्हारा भक्त हो, तुमसे स्नेह रखता हो, तुम्हारा हितैषी हो और सब तरह के कष्ट सहन कर सके, शूर एवं अति सुदृढ़ चरित्र वाला हो।

किसी भी काम के आ पड़ने पर तुम्हारे जनपदवासी उसको पूरा करने के लिए सदा तैयार रहें, वे तुम्हारे कार्य के सम्पादन में कभी आनकानी न करें, इसका ध्यान रखना। तुम सदा अपनी तथा अपने शत्रु की त्रुटियों पर ध्यान रखना। अपने राष्ट्र के क्रुद्ध, भीत, अपमानित और लोभी व्यक्ति ही अपने राज्य के छिद्र या रन्ध्र होते हैं, यह विचार कर उन व्यक्तियों पर पूरी निगाह रखना और उनको यथोचित प्रयत्न से शान्त करने का सफल प्रयास करना। शत्रुराज्य के क्रुद्ध, लुब्ध, भीत और अपमानित व्यक्तियों को जानकर उन्हें शत्रु के विरुद्ध प्रोत्साहित करने का पूर्ण उद्योग करना।

तुम्हारी कमजोरियों को शत्रु किसी तरह भी जानने न पाये और न मित्र, मध्यम और उदासीन राजा ही तुम्हारी त्रुटियों को जान सके—इसका विशेष ध्यान रखना। तुम्हारे देश में पैदा हुआ कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य में, असाधारणता दिखाये तो उसको उसके गुणानुरूप पुरस्कार आदि से सम्मानित करना। तुम्हारे देश का शिल्पी वर्ग जिससे अपने शिल्प कार्य में विशेष निपुणता प्राप्त कर सके इसकी तुम पूरी व्यवस्था करना। अपने राष्ट्रवासियों के गुणवर्द्धन में तुम कभी विमुख न होना। तुम सदा मित्र, मध्यम, उदासीन और अपने मण्डल की पूरी कार्यवाही जानते रहना।

मनु के सप्तमाध्याय के १७७ और १८० श्लोक में बतलाया गया है कि नीतिज्ञ राजा पूर्ण प्रयत्न से सभी उपायों के द्वारा ऐसी व्यवस्था करे जिससे उसके शत्रु, मित्र, और उदासीन राजा किसी बात में उससे बढ़ने न पायें। विजिगीषु को अनेक प्रयत्नों से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे मित्र, उदासीन और शत्रुराजा उसको दबा न सकें। राजनीतिशास्त्र का संक्षेप में यही सार कह दिया गया है।

धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर को यही उपदेश दिया है। धृतराष्ट्र ने शत्रु मण्डल को चार भागों में विभक्त किया है। १—शत्रु, २—शत्रु का मित्र, ३—शत्रु के मित्र का मित्र, ४—और दोनों का शत्रु। इन चार प्रकार के शत्रुओं को जानते रहना चाहिए एवं जो आततायी हैं, या उनके मित्र हैं, अथवा उनके भी जो मित्र हैं, उन सब के ऊपर पूरी निगाह रखनी चाहिए। हर एक राज्य के १—अमात्य, २—राष्ट्र, ३—दुर्ग, ४—कोष और ५—सैन्य—ये पाँच अङ्ग हुआ

करते हैं। प्रत्येक के पाँच अङ्गों को संकलित करने पर द्वादश राजमण्डल के ६० अङ्ग हो जाते हैं। द्वादश राजमण्डल को मिलाने पर कुल संख्या ७२ होती है। द्वादश राजमण्डल इस तरह होते हैं। १—शत्रु, २—मित्र, ३—शत्रु का मित्र, ४—मित्र का मित्र, ५—शत्रु के मित्र का मित्र, ६—पार्ष्णिग्राह, ७—आक्रन्द, ८—पार्ष्णिग्राहासार, ९—आक्रन्दासार, १०—विजिगीषु, ११—मध्यम और १२—उदासीन। इस तरह १२ राजमण्डल होते हैं और फिर प्रत्येक राजमण्डल के पाँच पाँच अङ्गों के साथ गिनने पर ७२ संख्या होती है।

सभी नीतिशास्त्र प्रणेता आचार्यों ने अङ्गों सहित इसी १२ राजमण्डल के विषय में विचार प्रकट किये हैं। इन १२ राजमण्डल का पूरा विवरण गत अध्यायों में दिया जा चुका है। इन १२ राजमण्डलों के साथ संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव आदि षड्गुणों के प्रयोग करने का फल है—वृद्धि, स्थान, और क्षय। इसी त्रिविध फल को उत्तम, मध्यम, और अधम फल कहा गया है।

जिस समय राजा अपने कोष और दण्डादि की पूर्ण वृद्धि जान ले एवं शत्रु के कोष, दण्डादि की क्षीणता जान सके, उस समय विजिगीषु राजा शत्रु पर चढ़ाई करके शत्रु को जीत ले। यदि इसके विपरीत दशा ज्ञात हो (शत्रु पक्ष बलशाली और स्वपक्ष निर्बल) तब शत्रु के साथ संधि कर ले। विजिगीषु राजा अपने कोष, दण्डादि की शक्ति बढ़ाने के लिए ही प्रबल शत्रु से संधि करे। किन्तु उस संधि पर निश्चिन्त होकर न बैठे। संधि करके राजा अपने कोष, दण्डादि की वृद्धि की सदा अत्यधिक चेष्टा करता रहे और जब अपनी शक्ति पूर्ण है—ऐसा निर्णय हो जाय, तब शत्रु के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार हो जाय। यदि प्रबल शत्रु के साथ संधि करने के लिए शत्रु को अपने राज्य का कुछ भाग देना अनिवार्य समझे तो अच्छी तरह सोच-समझ कर शत्रु को राज्य का वह भाग दे जिसमें बहुत कम खेती होती हो और सोने आदि की खानें जिसमें न हों। यदि संधि में धन देना पड़े तो सोने, चाँदी के अलावा कोई चीज दे। यदि संधि के लिए मित्र छोड़ना पड़े तो ऐसा मित्र छोड़ना चाहिए जो कमजोर हो। यदि फौज देनी पड़े तो वह फौज दे जो दुर्बल एवं अनुत्साही हो। संधि में श्रेष्ठ भूमि, उत्तम धन, सर्वथा सबल मित्र और सुशिक्षित एवं अनुरक्त फौज न दे। यदि तुम्हारे साथ दुर्बल शत्रु संधि करे तो सन्धि को सुदृढ़ रखने के लिए शत्रु के पुत्र को प्रतिभू (जामिन) के रूप में अपने पास रख लो। शत्रु यदि और किसी को जमानत में दे तो स्वीकार न करो। तुम यदि शत्रु के साथ संधि करो तो प्रतिभूरूप में पुत्र को मत दो। यदि देना ही पड़े तो शीघ्र ही उसको वापिस लेने की अनिवार्यता समझ उसको लौटाने का पूर्ण प्रयत्न करो। इस विषय में मन्त्रणा और उपायों का विशेष ध्यान रखो।

तुम्हारे राज्य में जो दीन हों एवं तुम्हारे अमात्यादि कर्मचारियों में जो हीन दशा में हों उनका सदैव विशेष ध्यान रखो।

नीतिशास्त्रकारों ने शत्रु के साथ चार तरह का व्यवहार बतलाया है। १—उच्छेद, २—अपचय, ३—पीड़न या स्तम्भन, ४—कर्षण। शत्रु को उसके राज्य से सर्वथा निकाल देना या उसको मार देना, उच्छेद कहलाता है। शत्रु की मन्त्रशक्ति, उत्साहशक्ति और प्रभुशक्ति को नष्ट कर देना अपचय कहलाता है। शत्रु के सेनापति आदि किसी प्रधान पुरुष को मार देना पीड़न कहलाता है। शत्रु के कोष एवं दण्ड को हानि पहुँचाना कर्षण कहलाता है। विजिगीषु राजा यदि शत्रु का उच्छेद करने में अपने को असमर्थ समझे तो पीड़न, कर्षण आदिकों के द्वारा शत्रु को दुर्बल बना दे। यदि विजिगीषु राजा शत्रु को दुर्बल नहीं कर सकता तो अपने राज्य की रक्षा भी नहीं कर सकता। अपने राज्य की रक्षा के लिए ही शत्रु का पीड़न, कर्षण आदि करना आवश्यक है। इसलिए विजिगीषु राजा को अधिक से अधिक प्रयत्न करके शत्रु के पीड़न आदि कर्म करने चाहिए। अपने अभ्युदय के लिए कोई राजा कमजोर होने के कारण यदि तुम्हारा आश्रय चाहता है तो उसको निराश मत करो। उसकी उन्नति के लिए उसकी सहायता कर उसको मित्र बना लो।

तुम्हारे राष्ट्रवासी लोग संघवद्ध होकर तुम्हारे विरुद्ध खड़े हो सकें, इसके लिये तुम अपने मन्त्रियों से सलाह करके राष्ट्रवासी जनों के संघवद्ध न हो सकने का भरसक प्रयत्न करते रहो। तुम सज्जनों का संग्रह और दुर्जनों का निग्रह बराबर करते रहो। तुम्हारे राष्ट्र के प्रबल व्यक्ति दुर्बलों को न सता सकें इसका सदा ध्यान रखो। यदि कोई प्रबल राजा दुर्बल राजा पर आक्रमण करे तो दुर्बल राजा को बेंत की तरह झुक जाना चाहिए, सर्प की तरह फुंफकार मार कर सामना नहीं करना चाहिए। साम, दान आदि के द्वारा ही प्रबल शत्रु को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि इन उपायों से शत्रु का रोका जाना असंभव हो जाय, तो अपने कोष, दण्डादि की तथा मित्रमंडल की पूरी सहायता से पूर्ण पराक्रम दिखलाते हुए अपनी असाधारण शूरता से शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए। उससे यदि मृत्यु भी हो जाय तो प्रशंसनीय होगी।

धृतराष्ट्र कहते हैं कि—तुम सर्वदा समय का ध्यान रखते हुए शत्रु से संधि या विग्रह करना। यह संधि, विग्रह दो तरह के होते हैं। इनके उपाय अनेक हैं और इनके स्वरूप भी अलग-अलग हुआ करते हैं।

मनुसंहिता के सप्तमाध्याय के १६२ वें श्लोक से १६८ श्लोक तक संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव—इन छः गुणों में प्रत्येक को दो दो प्रकार का बताया है। हमने जो पिछले अध्याय में रामायण के अयोध्याकाण्ड में वर्णित भरत जी को श्री रामचन्द्र जी का राजधर्मानुशासन दिखाया है, उसमें श्री

रामचन्द्र जी ने भरत जी को संधि और विग्रह दो प्रकार का बतलाया है। "द्वियोनी संधिविग्रहौ" (अयोध्याकाण्ड १०० सर्ग ७०वां श्लोक)।

याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के ३४३वें श्लोक में सन्धि, विग्रह आदि ६ गुणों का उल्लेख है। इसकी टीका बालक्रीड़ा में विश्वरूपाचार्य ने मनुस्मृति के अनुसार ही सन्धि और विग्रह को दो दो तरह का बतलाया है। दोनों राजाओं की सुविधा के लिए जो सुवर्ण आदि धन देने की शर्तों से सन्धि की जाती है, उस सन्धि से दोनों ही राजाओं को तत्काल ही सुविधा हो जाती है और किन्हीं शर्तों पर की गई सन्धि से एक राजा को उसी समय सुविधा हो जाती है और दूसरे को आगे जाकर उसका फल मिलता है। इस तरह—तात्कालिक फल और भावी फल को लेकर सन्धि दो प्रकार की होती है। किन्तु मनुसंहिता के भाष्यकार मेधातिथि तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के बालक्रीड़ाटीकाकार विश्वरूपाचार्य ने इन दोनों सन्धियों के दूसरे ही रूप बताये हैं। भाष्यकार मेधातिथि समानयानकर्मा और असमानयानकर्मा दो तरह की सन्धि बताते हैं। विजिगीषु राजा दूसरे राजा से सन्धि करके तीसरे शत्रुराज्य पर आक्रमण करता है। इसका फल उसी समय मिल सकता है और बाद में भी। सन्धि करके दोनों राजा जब किसी शत्रुराज्य पर आक्रमण करते हैं (जिसका फल उसी समय या बाद में मिले) उस सन्धि को समानयानकर्मा सन्धि कहते हैं। जब दो राजा इस शर्त पर सन्धि करते हैं कि तुम अमुक शत्रु पर इधर से आक्रमण करो, मैं दूसरी तरफ से आक्रमण करूँगा—इस सन्धि को असमानयानकर्मा सन्धि कहते हैं। वस्तुतः ये दोनों सन्धियाँ भी तात्कालिक फल एवं भावी फल को लेकर ही की जाती हैं। कामन्दक आदि नीतिशास्त्रकारों ने सन्धि १६ प्रकार की बतलाई है एवं सोलह प्रकार की बतला कर भी उनके और उपभेद बताये हैं। किन्तु मनु, रामायण, महाभारत आदि में सन्धि दो ही प्रकार की बताई गई है।

इसी तरह विग्रह भी दो तरह का होता है। स्वयं किसी शत्रु पर आक्रमण करना अथवा अपने मित्र पक्ष पर आक्रमण होने पर उस मित्र की रक्षा के लिये आक्रमणकारी पर आक्रमण करना। विग्रह के ये ही दो भेद हैं। यही बात मनु-संहिता के सप्तमाध्याय के १६४ वें श्लोक में कही गई है।

राजा सर्वदा अपनी तथा शत्रु की प्रबलता तथा दुर्बलता का विचार करता रहे और अपनी कमजोरियों को दूर करने का प्रयत्न करता रहे। शत्रु को कभी भी कमजोर न समझे। शत्रु के कोष और दण्ड सर्वथा परिपूर्ण हैं और शत्रु जितेन्द्रिय एवं पूर्ण उत्साही है यही समझता रहे। राजा प्रबल शत्रु के सामने कभी झुक भी जाय किन्तु झुक कर भी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये पूर्ण प्रयत्न करता रहे। दुर्बल शत्रु को कभी उन्नत न होने दे। यदि कोई प्रबल शत्रु अपने

ऊपर चढ़ाई करदे और उसका प्रतिकार करने में अपने को असमर्थ समझे तो राजा आक्रमणकारी से भी प्रबलतर राजा का आश्रय लेकर आत्मरक्षा कर ले।

शत्रुराज्य पर जिससे अनेक आपत्तियां आ सकें इसकी व्यवस्था करे। शत्रु-राज्य के अमात्य आदि प्रकृति वर्ग में शत्रु राजा से भेद डालने की व्यवस्था करता रहे। शत्रु को अनेक आपत्तियों की संभावना बता कर डरा दे तथा दूसरे के साथ युद्ध छिड़वा कर शत्रु राजा का बल क्षीण कर दे।

उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मंत्रशक्ति इन तीनों शक्तियों का बलाबल बरा-बर विचारता रहे। अर्थात् उक्त तीनों शक्तियों में से शत्रु की कौन-सी शक्ति अधिक है और अपनी कौन-सी शक्ति प्रबल है इसको सोचता रहे। इन तीनों शक्तियों से पूर्ण राजा शत्रु को वश में कर सकता है। यदि स्वयं इन तीनों शक्तियों से सर्वथा पूर्ण न हो और शत्रुराजा इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न हो तो उसके सामने आकर लड़ाई न करे। राजा को पांच प्रकार की सेना संग्रह करनी चाहिये। १—मौलबल, २—मित्रबल, ३—आटविकबल, ४—भृतकबल, ५—श्रेणीबल। जो लोग अपने देश में ही पैदा हुए हैं तथा बाप-दादाओं से सैनिक कार्यों में नियुक्त होते चले आये हैं उनको मौलबल कहा जाता है। यह मौलबल अपने ही देश के राजा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम रख सकता है और अपने देश की पूरी ममता इस में हो सकती है। बाप-दादाओं के क्रम से इनकी नियुक्ति सैनिक कार्यों में होती रही है। इसी कारण ये निरंतर सैनिक व्याया-मादिकों में सुशिक्षित हो सकते हैं। इसलिये मौलबल सब बलों (सेनाओं) में श्रेष्ठ होता है। जरूरत होने पर मित्र की सहायता के लिये जो सेना भेजी जाती है उसको मित्रबल कहते हैं।

कुरुक्षेत्र के युद्ध में राजा धृतराष्ट्र का मित्रबल ही अधिकतर था। युद्धकाल में सेना की संख्या बढ़ाने के लिये जो सामयिक (निश्चित समय के लिये) फौज वेतन देकर भर्ती की जाती है उसको भृतकबल कहते हैं। युद्धकाल में अपने देश के राजा की सहायता के लिये उस देश के रहने वाले लोग एक समुदाय बना कर या एक तरह के कार्य जानने वाले अनेक व्यक्ति फौज की तरह संघबद्ध हो कर युद्धकार्य करने में तत्पर हों, तो उसको श्रेणीबल कहते हैं। राजा के अपने राज्य में पहाड़, अरण्य आदि अनेक स्थानों में रहनेवाले जो लोग राजा की सहायता के लिये सैनिक कार्यों में नियुक्त हो जाते हैं वह आटविक बल कहलाता है। महाराज धृतराष्ट्र ने इस पांच प्रकार के बल (सेना) की बात कही है। किन्तु इसके बाद के नीतिशास्त्रों में ६ प्रकार के बल की बात कही गई है। १—मौलबल, २—भृतकबल, ३—श्रेणीबल, ४—मित्रबल, ५—शत्रुबल, ६—आटविकबल। इन छः प्रकार के बलों में पहले पहले श्रेष्ठ तथा उत्तरोत्तर हीन समझने की बात भी कही है।

शत्रुराजा के साथ संधि करके अथवा बलपूर्वक या उनमें फूट डाल कर शत्रु की फौज को बिजिगीषु जब अपने अधीन करले तो उसको शत्रुबल कहते हैं। यह शत्रुबल आटविकबल से श्रेष्ठ है। यही महाभारत के परवर्ती नीतिकारों ने भी कहा है। किन्तु धृतराष्ट्र ने यह शत्रुबल नहीं माना है। शत्रुबल को मौल-बल से भिन्न माना है। महाराज धृतराष्ट्र के मत से पहला मौलबल और दूसरा मित्रबल है। धृतराष्ट्र ने कहा है कि मित्रवल और मौलबल ये ही दो श्रेष्ठबल हैं। श्रेणीबल और भृतकबल दोनों समान ही होते हैं। इस पांच प्रकार की फौज में भी अनेक तरह के व्यसन होते हैं। उन सब पर विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये। सप्ताङ्ग राज्य के प्रत्येक अङ्ग पर ही अनेक तरह की आपत्तियां आ सकती हैं। इन सब की गणना धृतराष्ट्र ने नहीं बताई हैं। अन्यान्य नीतिकारों ने अनेक तरह की आपत्तियां बतलाई हैं। उनमें से कई एक का हम यहां उल्लेख कर देते हैं।

१––उपरुद्ध––अर्थात् शत्रु की सेना से चारों तरफ से घिर जाना।

२––परिक्षिप्त––फौज का विश्रृङ्खल अनेक जगहों में रहना।

३––अपमानित––फौज का अपमान करके उत्साह नष्ट कर देना।

४––अमानित––फौज का उचित सम्मान न होना, फौज के उचित प्रबन्ध की उपेक्षा।

५––व्याधित––फौज में किसी प्रकार का संक्रामक रोग फैल जाना।

६––श्रान्त––फौज थक कर काम करने लायक न रहे।

७––फौज का दूर देश से आना।

८––नवागत––नई फौज की भर्ती करना आदि अनेक आपत्तियां हो सकती हैं।

सप्ताङ्ग राज्य के जिस किसी भी अङ्ग पर आपत्ति आये उसके प्रतिकार के लिये तथा आगे ऐसी कोई आपत्ति न आ सके इसका समुचित प्रबन्ध करने के लिये राजा पूर्ण यत्न करे। सप्ताङ्ग प्रकृति के स्वस्थ होने पर ही राजा शत्रु के विरुद्ध युद्ध के लिये तैयार हो सकता है। शत्रु के विरुद्ध तैयार होने के लिये देश और काल का अनुकूल होना जरूरी है। पहले तो विजिगीषु को राजनीति-शास्त्र के ज्ञान आदि राजगुणों से युक्त होना चाहिये। फिर विजिगीषु की सेना हृष्ट-पुष्ट एवं उत्साह सम्पन्न होनी चाहिये। अमात्य सम्पद् अनुकूल हो, तथा कोष सम्पत्ति पूर्ण हो। इस पर भी विजिगीषु जब जान ले कि शत्रु इन सब सम्पत्तियों से क्षीण है, तब वह जब कभी भी चाहे शत्रु पर चढ़ाई कर सकता है। राजा युद्ध के समय अपनी फौज को शकटव्यह, पद्मव्यूह, वज्रव्यूह आदि विधियों से खड़ी करे। जैसे औशनस तन्त्र में बतलाया गया है, तदनुसार ही फौज को खड़ी करके युद्ध के लिये तैयार होजाय। युद्ध के लिये तैयार होने पर भी राजा शत्रुसेना की पूरी हालत अपने गुप्तचरों द्वारा जान ले और अपनी सेना की भी अवस्था समझ ले। प्रयोजनानुसार ही राजा कभी अपने

देश में कभी शत्रु के देश में जाकर युद्ध करे। राजा दान और मान से अपनी फौज का सदा उत्साह बढ़ाता रहे और युद्ध कार्य में अति निपुण व्यक्तियों को सेना के बीच में रखे।

राजा हर हालत में अपनी रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील रहे। राजा के लिये अपने मण्डल तथा पर मण्डलमें व्यवहार करने की जो बातें बतलाई गई हैं तदनुसार व्यवहार करने पर वह इस लोक में तथा परलोक में कल्याण पा सकता है। प्रजामण्डल का प्रिय राजा इस लोक में जैसे सुख भोग सकता है, ऐसे ही परलोक में भी सुखी रह सकता है। अनेक अश्वमेध आदि यज्ञ करने पर जो फल मिलता है, धर्म पूर्वक प्रजा का परिपालन करने पर भी वही फल मिलता है।

रामायण में राजनीति

भगवान् वाल्मीकि ने अपने आदि काव्य रामायण के अनेक स्थलों में राजनीति-शास्त्र की आलोचना की है, यह हमने इस प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही कह दिया है। युद्धकाण्ड के छठे सर्ग में देखा जाता है कि राक्षसराज रावण लंका में एक मन्त्रणा सभा बुलाता है। क्योंकि लंका पर आक्रमण करने के लिए रामचन्द्र बन्दरों की सेना के साथ समुद्र के उत्तर तट पर आ पहुँचे हैं और समुद्र के किनारे सेना का पड़ाव डाले हुए समुद्र पार करने का आयोजन कर रहे हैं। सेनापति नील की अध्यक्षता में बानर सेनाएँ समुद्र के उत्तर तट पर सैन्योचित रीति से पड़ाव डाले पड़ी हैं। यह समाचार लंकापति रावण को मालूम हो जाता है। इससे पहले कोई भी महावीर समुद्र को लांघ कर दुष्प्रवेश्य लंका में प्रवेश कर लंका को धर्षित कर सका हो ऐसा नहीं सुना गया था। इसी से लंका की अधर्षणीयता से राक्षस राज आज तक निश्चिन्त था, किन्तु आज इस समाचार से कुछ चिन्तित होकर सलाह करने के लिए सभा बुलाई गई है। राक्षस-मन्त्रिवर्ग सभा में इकठ्ठा हो गया है। राक्षस राज रावण उनको सम्बोधन करते हुए सिर पर आये हुए कार्य की महत्ता दिखला शत्रु पक्षीय इस कार्य को रोकने के लिए उन लोगों की क्या राय है जानना चाहता है। राक्षसराज कहता है—इस हालत में हमें क्या करना चाहिए। जिस तरह कार्य करने पर हमारा कल्याण हो सके और शत्रु को रोकने के लिए हमें जो अवश्य करना चाहिए—इसका निश्चय करने के लिए आप लोगों को एकान्त में सलाह करने के लिए बुलाया गया है।

राजाओं की विजय का मूल मन्त्रणा है। प्राचीन राजनीतिवेत्ताओं ने यही कहा है। इसलिए इस दशा में आपलोगों की सलाह सुनना चाहता हूँ। जो राजा सलाह देने में निपुण (मन्त्रणाकुशल) एवं अनुरक्त मन्त्रियों के साथ

सलाह कर अपने कर्त्तव्य का निश्चय कर ले एवं तदनुरूप ही कार्य कर सके तथा दैव एवं पुरुषार्थ में समान यत्नशील हो वही राजा श्रेष्ठ होता है।

जो राजा मन्त्रियों की परवाह न करके केवल आप ही अपनी बुद्धि से कर्त्तव्य का निश्चय कर ले और सब कार्यों का दायित्व अपने ही ऊपर लेकर काम करे वह राजा मध्यम होता है।

जो राजा कर्त्तव्य कार्य के गुण-दोषों को बिना समझे और नीति की कुछ परवाह न कर मात्र राग या द्वेष के वशीभूत हो "मैं ऐसा ही करूँगा" यह निश्चय करके काम करता है वह निकृष्ट राजा होता है। उक्त क्रम से राजा जैसे तीन प्रकार के होते हैं, वैसे ही मन्त्रणा भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन तरह की होती है। जहाँ पर मन्त्रणानिपुण मन्त्रिवर्ग नीति शास्त्रानुकूल मन्त्रणा करके कर्त्तव्य निश्चय में एकमत हो जायँ, उनमें यदि आपस में मतभेद न हो, सब ही एकमत हो कर्त्तव्य का निश्चय कर दें—वह मन्त्रणा उत्तम होती है। जहाँ किसी विषय का निर्णय करने में मन्त्रिवर्ग आपस में पहले एक दूसरे के विरुद्ध राय दे, फिर वे ही मंत्री आपस में एकमत हो जायें, उसको मध्यम मन्त्रणा कहते हैं। जहाँ किसी कार्य का निर्णय करने के लिए इकट्ठे हुए मन्त्री एक दूसरे के प्रतिकूल तर्क, प्रमाण उपस्थित करते हुए अपने अपने पक्ष का समर्थन करते रहें और किसी एक निर्णय पर न पहुँच सकें, वह मन्त्रणा अधम होती है।

उत्तम, मध्यम, अधम भेद से पुरुष जैसे तीन तरह का होता है, सलाह भी उत्तम, मध्यम, अधम भेद से तीन तरह की होती है। राक्षसराज कहता है—आपलोग सभी नीतिशास्त्र में कुशल हैं, बुद्धिमान् हैं। उपस्थित इस आपत्ति के प्रतिविधान में आपलोगों की एक राय से कर्त्तव्य का निर्णय हो पाये ऐसी व्यवस्था करें। आपलोगों की एक सम्मति होने से ही कल्याण है, यही मेरा वक्तव्य है। राम बहुत से वीर वानरों की सेना लेकर समुद्र के उत्तरी तट पर सन्निवेश किये हुए हैं। हमसे लड़ने के लिए वे समुद्र पार कर लंका आयेंगे। पराक्रमी बन्दर सेना एवं विक्रमशाली लक्ष्मण—इन सब के साथ मिलकर राम जब लंका आयेंगे, तब उनके साथ हमारा घोर युद्ध होगा। उसको रोकने के लिए हमलोगों को विशेष रूप से इतिकर्तव्यता के निर्धारण के लिये निश्चित मन्त्रणा आवश्यक है।

इस मन्त्रणा सभा में उपस्थित मन्त्री लोगों में से राक्षसराज रावण के प्रस्ताव के अनुसार सेनापति प्रहस्त, दुर्मुख, वज्रदंष्ट्र, कुंभकर्ण का पुत्र निकुंभ, वज्रहनु आदि राक्षसगण अपने अपने असाधारण पराक्रम का उल्लेख करते हुए खम ठोकने लगे। शत्रु की हीनता एवं शत्रु अवज्ञा के योग्य है, यह बताते हुए उन्होंने रावण को पूर्ण विश्वस्त कर दिया। उन्होंने केवल अपने अपने पराक्रम की

डींग हांक कर ही रावण को दिलासा दे दी। किन्तु शारीरिक बल बतलाने के अलावा जिस मंत्रणा के लिए ये बुलाये गये थे उस मन्त्रणा के विषय में कुछ नहीं कहा।

जिस समय शस्त्र उठाये हुए यह राक्षसगण शत्रु की हीनता और उपेक्षणीयता प्रकाशित कर रहा था, उसी समय विभीषण उन राक्षसों को रोक कर और उनके आसनों पर उनको बैठाते हुए विनीत भाव से यह कहने लगे कि जिस जगह साम, दान और भेद इन तीनों उपायों से कार्य सिद्ध न हो सके, वहाँ विक्रम प्रदर्शन रूप चौथा दण्ड प्रयोग किया जा सकता है। यही नीतिशास्त्रवेत्ता कहते हैं। दण्ड प्रयोग भी सब जगह फलप्रद नहीं होता। जहाँ शत्रु प्रमत्त हो, या बलवान् दूसरे शत्रु से आक्रान्त हो, या व्याधि, दुर्भिक्ष आदि दैवी आपत्तियों से दबा हो, ऐसे शत्रु के प्रति पराक्रम प्रकाशित किया जा सकता है। किन्तु यह विक्रम प्रकाश करना भी तभी सफल होता है जब शत्रु के कोष सैन्य आदि की पूरी कमजोरी जानकर नीतिशास्त्र के अनुसार इसका उपयोग किया जाय। हमलोग जिस शत्रु को रोकने के लिए मन्त्रणा करने बैठे हैं वह शत्रु प्रमत्त नहीं है किन्तु बहुत सावधान है और विजिगीषु के सभी गुणों से सम्पन्न है तथा बड़ी भारी सेना के साथ है। क्रोध को जीतने वाला है, दुराधर्ष (जो दबाया न जा सके) है तथा क्रोध के वशीभूत हो अकस्मात् कोई कार्य नहीं करता है। वह दुराधर्ष है उसको तुम कैसे दबा सकोगे? शत योजन समुद्र को लांघकर हनूमान् लंका में आकर जो दुष्कर कार्य कर गया है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। शत्रु की असंख्य फौज और उसका अप्रतिम पराक्रम बिना जाने सहसा उसकी उपेक्षा कर देना बुद्धिमानों का कार्य नहीं है। विशेष बात यह है कि आज हम जिस राम को शत्रु समझ लड़ने को तैयार हो रहे हैं, इस राम ने रावण का क्या अपकार किया है? यदि राम ने हमारा कोई अपकार नहीं किया तब राम हमारा शत्रु कैसे हुआ? जिसने पहले कभी भी हमारा कोई अपकार नहीं किया हो, वह हमारा कभी भी शत्रु नहीं हो सकता है। राम की स्त्री को रावण ने अकारण ही जनस्थान से क्यों चुरा लाया? खरदूषण आदि को जो राम ने मार डाला उसमें भी तो राम का कोई अपराध नहीं है। क्योंकि राम और लक्ष्मण को मारने के लिए उनके आश्रम पर आक्रमण किया गया। सुतरां राम को अपनी प्राण-रक्षा के लिए इनको मारने के लिए बाध्य होना पड़ा। परदाराभिमर्षण वीर की कीर्ति को नष्ट करने वाला तथा आयु विनाशक घोरतर पाप है। यह घोरतर पाप करके सीता को जो लंका में लाकर रोक रखा है यह हमारे लिए विशेष भय का कारण है। मेरे ध्यान से तो सीता को वापिस दे देना ही उचित है। अकारण युद्ध मोल लेने का कोई कारण नहीं। परम पराक्रमशाली एवं धर्मानुवर्ती राम के साथ निरर्थक युद्ध करने की आवश्यकता नहीं। इसलिए सीता को

वापिस देने की ही बात सोचो। ताड़का को मारना, मारीच को वश में करना, सुबाहु को मारना, शिव जी के धनुष को तोड़ना, परशुराम का दमन करना, कवन्ध, विराध आदि राक्षसों को मारना, खरदूषण आदि को चौदह हजार सहायकों के सहित मार डालना, इन सब बातों से राम का असाधारण पराक्रम स्पष्ट जाना जा सकता है।

इसलिए अकारण ही राम के साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो जाना किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। इस युद्ध के छिड़ जाने पर लंका अवश्य नष्ट हो जायगी। लंका के शूर, वीर राक्षसगण नष्ट हो जायेंगे। हनूमान् के कार्य से ही हम बानर सेना की दुर्धर्षता जान सकते हैं। इस बानर सेना के लंका पर आक्रमण करने पर कभी भी हमारा कल्याण न होगा। सीता को यदि वापिस न दिया जायगा तो महावीर राम और दुर्धर्ष वानरी सेना के साथ युद्ध छिड़ेगा। इससे लंका का क्षय अनिवार्य है। इसलिए मैंने राक्षसों की भलाई को सोचकर ही सीता को वापिस देने का प्रस्ताव रखा है। राक्षसराज से मैं वन्धु होने के नाते अति विनीत भाव से यह प्रार्थना करता हूँ। विभीषण का परामर्श सुनने के बाद उस दिन की मन्त्रणा सभा समाप्त हो जाती है। दूसरे दिन प्रातःकाल फिर मन्त्रणा सभा का अधिवेशन प्रारम्भ होता है। उस दिन-भी सभा में विभीषण अति विनीत भाव से आकर बैठ जाते हैं। राक्षस-राज रावण से राम के साथ युद्ध न करने के लिए अनेक हितकारी बातें कहते हैं। विभीषण जब रावण से राम के साथ युद्ध न करने के लिए कह रहे थे, उस समय उस सभा में रावण के प्रधान मन्त्रियों के सिवा और कोई न था। विभीषण ने कहा कि सीता हरण के बाद से लंका में अनेक तरह के बुरे शकुन हो रहे हैं। जिनसे जाना जा सकता है कि लंका नगरी तथा इसके निवासी राक्षसों पर भारी विपत्ति आने वाली है। इसलिए निकट भविष्य में आने वाले उस घोर दुर्दिन से बचने के लिए राक्षसराज यदि उचित समझें तो सीता को वापिस दे दें——यही संगत है।

विभीषण फिर बोले——इस मेरे कहने में कुछ त्रुटि हुई हो तो राक्षसराज उसको क्षमा करें। मैंने जो लंका में होने वाले बुरे शकुनों की बात कही है, उसको लंका निवासी सभी लोग जानते हैं, किन्तु महाराज के सामने यह बात कहने का कोई साहस नहीं करता। मैंने इसको अवश्य-वक्तव्य समझ कर निवेदन किया है। इसके उत्तर में राक्षस राज कहते हैं कि मैं भय का कोई भी कारण नहीं देख पा रहा हूँ। यह कहकर उन्होंने सभा का कार्य स्थगित कर दिया।

सप्तम अध्याय

भट्टिकाव्य में दण्डनीति

हमने रामायण के युद्धकाण्ड के छठे सर्ग से दसवें सर्ग तक आलोचना करके मन्त्रणा सभा का स्वरूप बता दिया है। रामायण के ही प्रतिपाद्य विषय को लेकर बना हुआ बहुत प्राचीन भट्टिकाव्य है। उसके बारहवें सर्ग के १४वें श्लोक से रामायण की इस मंत्रणा सभा की उक्तियों को भट्टि कवि ने अपनी कविभाषा में परिवर्तित किया है और उसमें कवि भट्टि ने इस रामायण की मन्त्रणा की उक्तियों का अधिक विशदरूप में अपनी ओजस्विनी भाषा में वर्णन कर दिया है। इसी बात का निश्चय कराने के लिए हम यहाँ भट्टिकाव्य के बारहवें सर्ग का आशय प्रकट करेंगे। इसमें विशेष बात यह है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के छठे और सातवें प्रकरण में वर्णित विषयों को भी कवि ने इसमें संकलित कर दिया है।

भारत के ऐसे भी सुदिन थे जब कि कवि के लिए दण्डनीतिशास्त्र का अध्ययन आवश्यक था। उसकी उपेक्षा करके कवि होना सम्भव नहीं था। भट्टिकाव्य में कहा गया है कि मन्त्रणा सभा में सम्मिलित हुए मन्त्रिगण को लक्ष्य करके राक्षसराज कहते हैं कि आपलोग सभी हमारे मित्र हैं, मन्त्रणा में कुशल हैं और अनेक बार आपलोगों का पुरुषार्थ देखा जा चुका है। जो केवल नीतिशास्त्र को जानते हैं, किन्तु नीतिशास्त्रोपदिष्ट कार्यों को जिन्होंने स्वयं नहीं किया है, वे लोग किसी कठिन समस्या के आ जाने पर विषादग्रस्त हो जाते हैं। आपलोग नीतिशास्त्र के अभ्यासी हैं अर्थात् आपलोगों ने अनेक बार नीतिशास्त्र का अध्ययन किया है। आपलोग बुद्धिमान् हैं और साम, दान आदि चतुर्विध उपायों के प्रयोग करने में निपुण हैं। आप सरीखे सुयोग्य मन्त्रियों के साथ सलाह करके किया हुआ कार्य अवश्य सफल होगा। राम ने महावीर बालि एवं खरदूषण प्रभृति राक्षसों को जरूर मार दिया है। किन्तु मैं इसको उपेक्षा की दृष्टि से ही देखता रहा हूँ। इसके प्रतिकार का विचार ही नहीं किया है। हनूमान् ने लंका जला दी और उसके साथ युद्ध करने में कुमार अक्ष भी मारा गया है। शत्रु सेना समुद्र के उत्तर तट पर इकट्ठी हो गई है और समुद्र को पार करने के लिए योजना तैयार कर रही है। इस दशा में हमको आगे क्या करना चाहिए

यह बतलाइये। राक्षसराज के इस प्रस्ताव के उत्तर में सेनापति प्रहस्त आदि प्रधान राक्षसगण हाथ चलाते हुए एवं धनुष, गदा तलवार आदि शस्त्रों को सम्भालते हुए राक्षसराज को कहते हैं—आपने जो इस तुच्छ शत्रु के साथ विरोध होने पर इसके प्रतिकार के लिए मन्त्रणा सभा बुलाई इससे तो उलटा शत्रु का गौरव ही आपने बढ़ाया। आपने स्वर्ग के राजा इन्द्र को पराजित किया है, फिर इस क्षुद्र मनुष्य के साथ विरोध होने पर आपको चिन्ता करने का कोई कारण ही नहीं है। आपके आदेशानुसार हमलोग ही जिस किसी भी प्रबल शत्रु को पराजित कर सकते हैं। इस तुच्छ वानरी सेना के सहित राम को पराजित करने को तो हम सभी अनायास समर्थ हैं। आप महावीर है, आप आदेश करे तो कौन कार्य ऐसा है जो हम न कर सकें। आपने जो हनूमान् की लंका फूंक देने की बात कही, उससे शत्रु की कुछ बलवत्ता नहीं प्रमाणित होती। केवल हमलोगों की असावधानी से यह घटना हो गई। जिस समय हनूमान् लंका जलाने को तैयार हुआ था उसी समय उसको मार डालना चाहिए था। उस समय उसको मार नहीं डाला यही राक्षसों की असावधानी हुई।

प्रहस्त आदि राक्षसों की ये उछल-कूद और डींग मारने की बातें सुनकर विभीषण प्रहस्त आदि राक्षसों से कहने लगा कि आपलोग इस मन्त्रणा सभा में उपस्थित होकर जो बातें कह रहे हैं, वे शौर्य प्रदर्शक बातें हो सकती हैं। शौर्य प्रदर्शन का स्थल रणक्षेत्र होता है मन्त्रणा सभा नहीं। आप लोगों ने जो कहा कि—इस तुच्छ शत्रु के प्रतिरोध करने के लिए जो मन्त्रणा सभा बुलाई गई उससे शत्रु की महत्ता ही प्रदर्शित की गई मालूम देती है। आप लोगों की इस बात का समुचित उत्तर तो लंका को दग्ध करके हनूमान् ने दे ही दिया है। यदि शत्रु तुच्छ होता तो शत्रु का साधारण अनुचर हनूमान् लंका को जलाने में समर्थ न होता। लंका को जला देने से ही जाना जा सकता है कि शत्रु तुच्छ नहीं है। इसी से मन्त्रणा सभा बुलाने की आवश्यकता हुई। आप लोगों ने जो कहा कि राक्षसों की असावधानी से ही हनूमान् लंका जला सका। इस पर मैं जानना चाहता हूँ कि यदि राक्षसों की असावधानी से ही लंका दहन हो गया तो अत्यन्त दारुण ब्रह्मास्त्र से हनूमान् क्यों न मारा जा सका। मेघनाद ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके भी हनूमान् का कुछ भी क्यों न बिगाड़ सका। यहाँ भी क्या राक्षसों की असावधानी कही जा सकती है? यह संसार भी अति विचित्र है और इसके मनुष्य भी अति विचित्र शक्तिशाली हैं। इसलिए अब व्यर्थ आत्माभिमान से फूल उठना उचित नहीं। सिर पर आई हुई विपत्ति से बचने के लिए जो अवश्य कर्त्तव्य हो वह करो। संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव इन छहों गुणों का यथार्थ उपयोग करने वाले व्यक्ति के लिए अवज्ञा दिखाना विजिगीषु का काम नहीं। अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्य-दूत छहों द्रव्यप्रकृति

की सम्पत्ति से युक्त एवं अपनी उत्साहादि शक्तियों से सम्पन्न ही राजा विजिगीषु होता है। यही विजिगीषु राजा नीतिशास्त्रानुसार सन्धि विग्रह आदि छहों गुणों का उपयोग कर सकता है। इसलिए इस परिज्ञान को ही नीति का प्रधान स्थान कहा है।

इस कार्य के करने पर वृद्धि हो सकती है। इससे स्थान प्राप्ति हो सकती है। इससे विनाश असंभव है। इन तीनों फलों को जान कर कार्य करना उचित होता है। संधि, विग्रह आदि छहों गुणों में से जिस गुण का प्रयोग करना विजिगीषु उचित समझे करे। ऐसा करने पर ही वह अपने दुर्ग की विशुद्धि, नदी आदि पर पुल बँधवाना, लम्बी चौड़ी दूर देशगामिनी सड़कें बनवाना, खान आदि की खोज कराना आदि अपनी वृद्धि के कार्य कर सकता है। शत्रु के इन्हीं सब कार्यों को नष्ट कर सकता है। विजिगीषु उसी गुण का उपयोग करे जिसका फल वृद्धि हो। नीतिशास्त्रकारों ने १—कृषि, २—सड़कें बनवाना, ३—पुल बँधवाना, ४—जंगलों से हाथियों को पकड़वाना, ५—खानों की खोज कराना, ६—आकर (लवणादि जहाँ पैदा होते हों) को जान लेना, ७—खाली पड़ी जमीन को काम में लेना, ८—दुर्ग ठीक रखना—ये आठ काम बताये हैं। इनको अष्टवर्ग कहते हैं। संधि विग्रहादि जिस गुण के प्रयोग करने पर कृषि आदि आठ कर्म सुसम्पन्न हो सकें उसको वृद्धि कहते हैं। इसके विपरीत जिस गुण के उपयोग से कृषि आदि अष्टकर्म नष्ट हो जाँय उसको क्षय कहते हैं।

जिस गुण के उपयोग से कृषि आदि कर्म न बढ़ सके और न क्षीण हो उसको स्थान कहते हैं। विजिगीषु राजा अपनी एवं शत्रु की वृद्धि, क्षय और स्थान इन तीनों का पूरा विचार करके सन्धि आदि छहों गुणों में से जिसको उपयुक्त समझे उसका अवलम्बन करे। विचार पूर्वक इनका प्रयोग करने से चंचल राजलक्ष्मी भी विजिगीषु राजा को कभी नहीं छोड़ती।

इसके अनन्तर विभीषण कहते हैं कि ऐसा भी समय हो सकता है जबकि विजिगीषु राजा शत्रु की वृद्धि की उपेक्षा कर दे। साधारण तौर पर शत्रु की वृद्धि उपेक्षणीय नहीं होती है, किन्तु किसी विशेष दशा में शत्रु की वृद्धि की भी उपेक्षा की जा सकती है। वह दशा यह है कि यदि शत्रुराजा नीतिशास्त्र से सर्वथा अपरिचित है, दुर्नीति में निरत हो गया है एवं इन्द्रियोपभोगों में आसक्त हो चुका है। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद आदि में लिप्त हो चुका है तो इस दशा में शत्रु की वृद्धि की उपेक्षा की जा सकती है। क्योंकि उक्त दुर्गुण युक्त राजा से सारी प्रजा ही विरक्त हो उठती है। सभी लोगों को उद्विग्न कर देनेवाली शत्रु की वृद्धि भी अन्त में शत्रु के समूलोन्मूलन का कारण बन जाती है।

विभीषण और कहते हैं—ऐसी हालत भी हो सकती है जब कि विजिगीषु

अपने क्षय की भी उपेक्षा करे। जिस दशा में विजिगीषु का क्षय भी प्रजाजनों के अनुराग को बढ़ाने वाला हो और जिस क्षय से विजिगीषु का अमात्य आदि प्रकृतिमण्डल उसके प्रति अत्यन्त अनुराग सम्पन्न हो उठे, ऐसा क्षय भी विजिगीषु के लिए उपेक्षणीय ही होता है। जिस विजिगीषु ने काम क्रोधादि अरि षड्वर्ग को जीत लिया है ऐसे विजिगीषु को जनानुराग के लिए अपना क्षय भी उपेक्षणीय होता है। यह क्षय भी उसी दशा में उपेक्षा के योग्य होता है जब कि विजिगीषु राजा शत्रुराजाओं के साथ दृढ़ संधि के बन्धनों में आबद्ध हो। यदि शत्रुराजाओं के साथ ऐसी कोई सुदृढ़ सन्धि न हो तब ऐसे क्षय युक्त राजा को शत्रुराजा ही तिरस्कृत कर सकता है। जब विजिगीषु राजा सन्धि और विग्रह इन दोनों में से किसी भी गुण का प्रयोग करने पर अपनी वृद्धि न देखे, तब विजिगीषु अपनी वृद्धि के लिए आसन का आश्रय ले चुपचाप बैठ जाये। कौटिल्यार्थशास्त्र के सप्तम अधिकरण में कहा है कि "उपेक्षणमासनम्"। इसका मतलब यही है कि शत्रुराजा के साथ सन्धि विग्रह कुछ न करके चुप बैठ जाना आसन कहलाता है। सन्धि, विग्रह कुछ न करना ही उपेक्षा है। जब विजिगीषु सन्धि या विग्रह करके न अपनी ही वृद्धि देखे और न शत्रु का क्षय ही संभावित हो, तब उन्हें अपनी वृद्धि के लिए कोष, दण्ड, दुर्ग आदि बढ़ाने का प्रयत्न करता रहे, शत्रु की उपेक्षा कर दे। शत्रु से न सन्धि करे न विग्रह, केवल अवसर की प्रतीक्षा करता हुआ आसन का अवलम्बन करे। जिस कार्य से अपनी वृद्धि अथवा शत्रु का क्षय संभावित न हो—ऐसी निष्फल संधि या विग्रह के प्रयास से राजा विरत रहे। अपने कोषादि की वृद्धि में तत्पर रहते हुए शत्रु के साथ संधि अथवा विग्रह न करते हुए अवसरानुसंधानी विजिगीषु राजा की अवस्थिति का नाम आसन है। जिस समय विजिगीषु राजा शत्रु के साथ सन्धि करके उसकी शर्तों से जकड़ा जाय, उस समय भी निश्चेष्ट न रहे। अपने कोष, दण्डादि की वृद्धि के लिए प्रयत्न करता रहे।

संधि करके भी विजिगीषु पूरी शक्ति से अपनी वृद्धि के लिए उद्योग करता रहे, अथवा गुप्त रूप से घातक लोगों से या विषादि द्वारा शत्रु को मरवा डाले। अथवा शत्रुराज्य में रहने वाले श्रेष्ठ जनों को अनेक तरह के प्रलोभन दिखा शत्रुराज्य से अलग कर दे। अथवा और किसी प्रबल राजा से शत्रु का युद्ध प्रारम्भ करा दे, जिससे शत्रु दुर्बल हो जाय। फिर पहले की हुई सन्धि की शर्तों को तोड़ कर शत्रु को अपने वश में कर ले।

विजिगीषु राजा प्रबल शत्रु के साथ अपनी आपत्ति टालने के लिए यदि सन्धि करना चाहे और शत्रु सन्धि करने के लिए तैयार न हो तो विजिगीषु राजा शत्रु के अमात्य आदि प्रकृतिमण्डल में फूट डालकर उसको सन्धि करने के लिये बाध्य कर दे। शत्रुराजा के साथ अत्यन्त स्नेहपूर्ण व्यवहार करके उसका विश्वासपात्र

हो जाय। फिर शत्रु के अमात्य आदिकों में फूट पैदा कर दे। इस तरह शत्रुमण्डल को भेद डाल कर बेकाम बना शत्रु को सन्धि करने के लिए बाध्य कर दे। इस तरह की नीति का प्रयोग ही विजिगीषु राजा की वृद्धि का उपाय है।

प्रत्येक राजा युद्ध के लिए तैयार नहीं हो सकता। युद्ध करने पर उसका ही विनाश संभव होगा। विशिष्ट गुण सम्पन्न विजिगीषु राजा ही शत्रु के साथ युद्ध कर सकता है। जिस विजिगीषु राजा का अमात्यवर्ग और सेनापति आदि प्रधान पुरुषगण अत्यन्त सहिष्णु हो अर्थात् किसी भी आपत्ति के आ पड़ने पर अपने स्वामी को न छोड़े और न लोभ भय आदि से जिनमें शत्रु पक्ष फूट ही डाल सके। जिस विजिगीषु का दुर्ग भयानक जंगल में या पर्वत पर अथवा दुर्लंघ्य जलमय प्रदेश में हो ऐसा राजा ही शत्रु के साथ विग्रह करके लाभ उठा सकता है। इसके विपरीत जिस राजा का अमात्यवर्ग केवल सुख ही भोगना चाहता हो, कष्ट सहन न कर सके, शत्रुपक्ष जिसमें साधारण लोभ, भय आदि दिखाकर सहज में ही भेद डाल सकता हो एवं जिस राजा का किला दुर्गम्य स्थान में सुदृढ़ न हो, ऐसे विजिगीषु राजा का शत्रु के साथ युद्ध करने में विनाश ही होता है। विजिगीषु राजा पूर्वोक्त गुण सम्पन्न होने पर भी शत्रु से युद्ध करने में उस दशा में सफलता नहीं पा सकता जबकि शत्रुराजा भी पूर्वोक्त विजिगीषु के गुणों से युक्त हो। यदि विजिगीषु और उसका शत्रु सब तरह तुल्य बल हो तो एक दूसरे को पराजित करने में असमर्थ होते हैं। इस दशा में विजिगीषु को पूर्वोक्त आसन का आश्रय ले लेना चाहिए। इस समय विजिगीषु राजा शत्रु के शत्रुराजाओं को अनेक तरह की सहायता देकर प्रोत्साहित करे और शत्रु को उनसे लड़ा दे। इसको श्वावराह कलह कहते हैं। व्याध जब शूकर को मारने में असमर्थ हो जाता है तब वह उसको मारने के लिए कुत्ते को नियुक्त कर देता है। जब शूकर के साथ कुत्ता लड़ने लगता है, तब व्याध मन में सोचता है कि इस युद्ध में शूकर मरता है अथवा कुत्ता मरता है, दोनों ही दशा में मेरा लाभ ही है--अर्थात् शूकर और कुत्ता दोनों ही का मांस मेरे लिए भक्ष्य है। इसी तरह विजिगीषु राजा भी स्वयं शत्रु को जीतने में असमर्थ होने पर शत्रु को शत्रुओं से भिड़ा कर श्वावराह-कलह की व्यवस्था कर दे।

इस समय विजिगीषु स्वयं आसन का आश्रय ले अपने दुर्ग, सेतु, बणिक्-पथ, सैन्यसंग्रह, द्रव्यसंग्रह, हाथियों के वन से हाथियों का संग्रह आदि से अपनी सम्पत्ति को बढ़ा ले।

मनुसंहिता के सातवें अध्याय के १५४ वें श्लोक में राजा को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए जो कृषि आदि अष्टविध कर्मों की बात कही गई है वह भी आसन का आश्रय लेकर शत्रु के साथ श्वावराह (कुत्ते और शूकर) की लड़ाई की व्यवस्था करके अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने की व्यवस्था के लिए ही है।

विजिगीषु राजा की अपनी सम्पत्ति और सैन्य की वृद्धि के लिये विशेष रूप से उत्साहित होने पर उसकी इन चेष्टाओं से ही यदि शत्रु उसकी अधीनता स्वीकार कर ले तो युद्ध करने की आवश्यकता न होगी। जिस राजा के मंत्रणा-साध्य बुद्धिबल, धनबल और सैन्यबल इन तीनों ही प्रकार के बल न हों वह अवश्य ही शत्रु से पराजित होता है। किंतु इन तीनों ही बलों के बढ़ाने में सर्वदा उद्युक्त राजा के सामने शत्रु स्वभाव से ही झुक जाता है और इन तीनों बलों के सम्पादन से विमुख राजा को शत्रु स्वभाव से ही दबा लेता है। इसलिये राजा को अपना बुद्धिबल, धनबल और सैन्यबल बढ़ाकर शत्रु को दबाये रखना चाहिये।

जो राजा शत्रु के विनाश के लिये युद्ध की तैयारी करे उस राजा के कार्यों का दो भागों में विभाजन किया जा सकता है। प्रथमतः शत्रु के दुर्ग आदि अष्ट-विध कार्यों को नष्ट करने का प्रयत्न करना, दूसरे शत्रु के द्वारा अपने राज्य के अष्टविध कर्मों को नष्ट करने के उपायों को विफल बना कर अपने दुर्ग आदि अष्टविध कर्मो की रक्षा करना। विजिगीषु राजा जहाँ अपने बल बढ़ाने की चेष्टा करे वहाँ शत्रु के बल को नष्ट करने का भी पूरा ध्यान रखे और जब वह समझ ले कि मैं अपने राष्ट्र दुर्गादि की रक्षा करने में असमर्थ हूँ और शत्रु के राष्ट्र आदि को भी क्षति नहीं पहुँचा सकता, तब विजिगीषु राजा अपने से तथा शत्रु से प्रबल अन्य किसी राजा का आश्रय ले ले। दूसरे राजा का आश्रय लेते समय विजिगीषु राजा अच्छी तरह विचार करे कि इसका आश्रय लेने पर मैं क्षय से आसन और आसन से वृद्धि प्राप्त कर सकूंगा; तब उस प्रबल राजा का आश्रय ले, अन्यथा नहीं। यद्यपि विजिगीषु जिस अन्य राजा का आश्रय ले रहा है वह भी विजिगीषु का शत्रु ही ठहरता है, किंतु वर्तमान में जो शत्रु साक्षात् आक्रमण कर रहा है उससे वह भिन्न रूप का शत्रु है। यह आश्रय दाता शत्रु साक्षात् आक्रमण करने वाला नहीं है और विशेष बलशाली है। ऐसा प्रबल पराक्रमी, शत्रु होता हुआ भी आक्रमणकारी शत्रु से बचने के लिये, किसी विशेष स्थिति में आश्रय लेने योग्य होता है। जिसका आश्रय पाकर विजिगीषु क्षय से स्थान और स्थान से लाभ पा सके ऐसे ही विशेष बलशाली राजा का आश्रय लेना चाहिये।

विजिगीषु राजा जब एक साथ ही अनेक शत्रुओं से आक्रान्त हो तब वह अपनी वृद्धि का ध्यान रखकर किसी से संधि, किसी से विग्रह आदि यथोचित उपायों का प्रयोग करे। जिसके साथ संधि करने से या जिसके साथ विग्रह करने से अपना लाभ समझे उससे वैसा ही करे।

विभीषण ने पूर्णरूप से राजनीति का वर्णन कर विजिगीषु राजा का क्या कर्तव्य है यह साफ बतला दिया है। नीतिशास्त्रानुसार विजिगीषुका जो कर्तव्य होता है वह बतलाकर विभीषण ने विजिगीषु में जो गुण होने चाहिये, जिन गुणों के होने

पर ही विजिगीषु शत्रु पर चढ़ाई कर सकता है, यह सब बता दिया। किंतु राक्षसराज रावण में इनमें से कोई भी गुण नहीं है, यही बतलाने के लिये विभीषण राक्षसराज से कहता है कि जिस राजा में प्रजाजनों का अनुराग नहीं है वह राजा प्रजाजनों के विद्वेष का पात्र होने से दुर्बल होता है। राक्षसराज प्रजाजनों का अत्यंत पीड़क है, इसी कारण से प्रजा इनसे विरक्त हो गई है। राजमण्डल भी राक्षसराज पर क्रुद्ध है। जिस राजा का राजमण्डल ही उस पर क्रुद्ध हो वह कभी कल्याण नहीं पा सकता। स्वर्गराज इन्द्र आदि मण्डलाधिपतिगण राक्षसराज के व्यवहार से अतिशय क्रुद्ध हो उठे हैं।

राक्षसराज जिस शत्रु राम के साथ युद्ध करना चाहता है, वह शत्रु राम सभी लोकों का प्रीतिभाजन है और राजमण्डल उससे सर्वथा संतुष्ट है। विजिगीषु और शत्रु के गुणों की आलोचना करने पर राक्षसराज दुर्बल एवं राम प्रबल ठहरता है। यदि सोचा जाय कि प्रतापशाली विजिगीषु राजा अपने प्रताप से ही सब कमज़ोरियों को ठीक कर सकता है और शत्रु को दबा सकता है, तो राक्षसराज के विषय में तो इस तरह सोचने का भी कोई कारण नहीं दीखता। क्योंकि राक्षसराज के परम मित्र बानर राज बाली को राम ने मार कर राक्षसराज के परम शत्रु सुग्रीव को बानर-राज्य पर अभिषिक्त कर दिया है। बाली की मृत्यु और सुग्रीव की राज्य प्राप्ति से राक्षसराज की भावी कल्याण परम्परा ही नष्ट हो गई।

एक दिन था जब कि राक्षसराज का प्रताप विश्वव्यापी था। किंतु अब तो ताड़का के वध सुबाहु, मारीच आदि राक्षसों का विनाश और खर दूषण प्रभृति राक्षसों के विनाश आदि से राक्षसराज का प्रताप केवल इस लंका की चहारदीवारी के अंदर ही सीमाबद्ध हो गया है। बल्कि कहा जा सकता है कि लंका में भी राक्षसराज का प्रताप क्षीण हो चला है। लंका दहन, शत्रु के सामान्य अनुचर के द्वारा कुमार अक्ष का वध, अशोक वाटिका का उच्छेद आदि से स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है कि लंका में भी लंकाधिपति का प्रताप अव्याहत नहीं है। मन्त्रणासभा में बुलाया हुआ विभीषण अपने पक्ष की दुर्बलता एवं शत्रु पक्ष की प्रबलता दिखाकर नीतिशास्त्र के अनुसार प्रबल शत्रु के साथ युद्ध करना सर्वथा अनुचित है, यही कहता है। इस दशा में राम के साथ रावण का युद्ध करना अनुचित है यही अपना मंतव्य बताता है। राजनीतिशास्त्र प्रणेता सभी आचार्यों का इसमें ऐकमत्य है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष इन छहों शत्रुओं को त्याग कर राजा पहले अपनी इन्द्रियों का नियंत्रण करे। अजितेन्द्रिय राजा कभी भी राज पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। फिर इसी तरह विद्यावृद्ध पुरुषों का संग करके राजा अपनी बुद्धि की वृद्धि करे। गूढ़पुरुषों (गुप्तचरों) को राज्य दर्शन के लिये चक्षुरूप से ग्रहण करे। गूढ़पुरुषों के द्वारा ही राजा

अपने तथा दूसरों के राष्ट्रों को देख सकता है। पूर्ण प्रयत्न से कार्य को करके योग-क्षेम, अप्राप्त राज्य की प्राप्ति और प्राप्त राज्य का सम्यक् परिपालन सम्पादन करे। अनेक प्रकार के कर्त्तव्य कार्यों के अनुशासन द्वारा अपने राष्ट्र में धर्म की स्थापना करे।. यह कार्य इस तरह करना होगा—इस तरह की आज्ञा देने को ही अनुशासन कहते हैं। अर्थसंयोग से ही राजा लोकप्रिय होता है।

कहीं से धन संग्रह करना और कहीं धन देना इसी को अर्थसंयोग कहते हैं। ये सब कार्य राजा को अवश्य करने चाहिये। किंतु राक्षसराज काम क्रोधादि छहों दुर्गुणों के वश में हैं। राक्षसराज ने काम आदि षड्वर्ग को जीता नहीं, बल्कि उनसे स्वयं जीता गया है। इसका अमात्यवर्ग मूढ़बुद्धि एवं नीतिशास्त्रानभिज्ञ है। राक्षसराज का मित्रनाम से पुकारा जाने वाला कोई नहीं है। राक्षसराज की दुर्नीति से दूसरे सभी राजा शत्रु बन गये हैं। इसलिये राक्षसराज चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ है। दूसरी तरफ हमारे शत्रु राम काम क्रोधादि अरिषड्वर्ग को जीत चुके हैं और उनका अमात्यवर्ग नीतिशास्त्र का पूर्ण वेत्ता है; अपनी राक्षस मित्रमण्डली के सहित रावण के अतिरिक्त उसका कोई शत्रु नहीं है। इसलिये राम प्रबल और राक्षसराज दुर्बल है। प्रबल के साथ दुर्बल का युद्ध हाथी के साथ पदाति का युद्ध कराने के समान है। हाथी के साथ पदाति के युद्ध में पदाति का विनाश अवश्यम्भावी है। इसलिये मैं सोचता हूँ कि वर्तमान दशा में राम के साथ हमारा संधि कर के झुक जाना ही उचित है। राम के साथ युद्ध करने पर हमारा विनाश अवश्यम्भावी है।

राम के साथ हमारी संधि अनायास ही हो सकती है क्योंकि नीतिशास्त्रकारगण कहते हैं कि—"उत्तप्तम् उत्तप्तेन सम्बध्यते"। लोहे के दो टुकड़े बिना अग्नि में तपाये जुड़ नहीं सकते। अग्नि में तपा लेने पर दोनों लोहे के टुकड़े अनायास ही जुड़ सकते हैं। राम सीता के वियोग में सन्तप्त हैं; हम भी खर, दूषण, त्रिशिरा आदि राक्षसों के विनाश से एवं हनुमान् के द्वारा कुमार अक्ष के वध से अत्यंत सन्तप्त हैं। हमारा बंधुवर्ग जिसे राम और हनुमान् ने मार डाला है वह सब हमारा अत्यंत अन्तरंग था। इस तरह हम दोनों ही पक्ष सन्तप्त हैं। उत्तप्त दो लौह खण्डों की तरह हम दोनों पक्षों का मेल अनायास हो सकता है। मेरा विचार है कि राम को सीता वापिस दे देना ही संधि का सबसे अच्छा मार्ग है।

राम का दुःसह तेज हम सबको ज्ञात हो गया है। वह असह्य तेज अब सीता के वियोग में और भी अधिक प्रदीप्त हो उठा है। हमारे शत्रु पक्ष के इन्द्रादि देवताओं ने इसको और प्रज्वलित कर दिया है। अपने पराक्रम का दृढ़ भरोसा रखने वाले राम हमारे साथ युद्ध करने में कभी विमुख नहीं हो सकते।

इसलिये यदि हम लोग साम प्रयोग से सीता को वापिस देकर राम से संधि

करलें, तो राम का वह दु:सह तेज इस तरह शान्त हो जायगा जिस तरह विपुल जल डाल देने से अग्नि शान्त हो जाती है। शत्रुपक्ष की प्रबलता और अपने पक्ष की दुर्बलता हमने अच्छी तरह देख ली है। यदि जबर्दस्ती समझ भी लिया जाय कि दोनों पक्ष समान बल सम्पन्न हैं, हम कम जोर नहीं, तब भी समान बलवाले राजा से संधि करना ही उचित है, विग्रह उचित नहीं कहा जा सकता।

समान बल वाले दो राजाओं के आपस में युद्ध में प्रवृत्त होने पर उन दोनों का ही विनाश होता है। जैसे मिट्टी के दो पात्र आपस में भिड़ने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह समान बल दो राजा आपस में लड़कर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। हमारा शत्रु राम अत्यन्त पराक्रमशाली है और उसके अनुचर-वृन्द उसमें सर्वथा अनुरक्त हैं। इन्द्रादि देवगण उसके सहायक हैं। इधर राक्षसराज के अगणित शत्रु हैं और वे शत्रु भी अधिकतर बलवान् हैं। इस दशा में मित्र-मण्डल से परिवेष्टित एवं अधिकतम बलशाली राम से अनेक शत्रुयुक्त राक्षसराज का युद्ध करना किसी तरह भी संगत नहीं हो सकता। समान बल वाले या अधिक बल-सम्पन्न शत्रु से सन्धि कर लेना ही उचित होता है। विग्रह नहीं। सब तरह से कमजोर राजा से ही लड़ाई की जा सकती है। यही राजनीति-वेत्ता आचार्यों का सिद्धान्त है। मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति, इन तीनों शक्तियों से सुसम्पन्न राजा को ही बलशाली कहा जाता है। इन तीनों शक्तियों से या इनमें से एक अथवा दो शक्तियों से हीन राजा को हीन बल कहते हैं। बुद्धिबल को ही मंत्रशक्ति कहा है और कोष एवं दण्ड बल को प्रभुशक्ति कहा गया है। पराक्रम बल को उत्साह शक्ति कहते हैं। यदि राक्षसराज यह मन में सोच लें कि हमारे यहाँ सुवर्ण रत्नादि धन पर्याप्त है और चतुरंगिनी सेना भी अगणित है जो कि शत्रुपक्ष में नहीं है, उस दशा में हीनशक्ति शत्रु राम से युद्ध करना ही उचित है।

इस पर हमारा यही कहना है कि राम का पराक्रम अधिक है और उसके सुग्रीव हनुमान् प्रभृति मित्रवर्ग का पराक्रम हमको ज्ञात हो ही गया है। इसलिए युद्ध में जय या पराजय किस पक्ष की होगी यह अनिश्चित है। यदि मान भी लिया जाय कि विशेष प्रयत्नों से हमारी विजय हो भी गयी तो भी यह सोचना होगा कि इससे हमारा लाभ क्या होगा। हमारा शत्रु अधिक धन सम्पन्न नहीं और न किसी बड़े राज्य का ही अधिकारी है। इस हालत में हमने अपने वीरों का विनाश करके जय पा भी ली तो उस जय से हमारा क्या कल्याण होगा? हमारी क्षति पूर्त्ति की कोई सम्भावना नहीं। यदि हम पराजित हो गये तो हमारा सब प्रकार से विनाश ही है। हमारा जो कोषबल या दण्डबल है, वह सब धूल में मिल जायगा। सुतरां इस तरह के संदिग्ध स्थल में युद्ध में प्रवृत्त होना किसी तरह भी संगत नहीं हो सकता।

विशेष बात यह है कि जो अभिमानी राजा कभी कोई विशेष उन्नति नहीं कर सका है, केवल क्लेशों के भोगने में ही जिसका जीवन बीता है, जिसके भृत्यवर्ग ने भी दुःख से ही सारा समय बिताया है और जो स्वयं कभी कोई विशेष सम्पत्ति नहीं पा सका है, ऐसा राजा ही जान जोखिम में डाल सकता है। युद्ध में जय पराजय अनिश्चित होने पर विशेष सम्पत्ति पाने के लोभ से युद्ध में लिप्त हो सकता है। किन्तु जो राजा राक्षसराज के समान कृतार्थ है जिसकी प्रचुर सम्पत्ति सब तरह से पूर्णता प्राप्त कर चुकी है ऐसा राजा कभी भी संदिग्ध कार्यों में हाथ नहीं डालता। राक्षसराज सब तरह से समृद्ध हैं। वे अकारण इस सन्दिग्ध बेमतलब के झगड़े में क्यों पड़ें? जिस राजा से राजलक्ष्मी विमुख हो, ऐसा ही राजा इस तरह के बेमतलब के लड़ाई में पड़ता है। विशेष बात यह है कि राजा को युद्ध में प्रवृत्त होने के पहले यह विशेष रूप से जान लेना चाहिए कि मैं इस लड़ाई को अन्त तक निभा सकूँगा या नहीं। यह काम मेरे बूते का है या नहीं, युद्ध करने में कोई और आपत्ति तो खड़ी न हो जायगी। इस युद्ध के शुरू होने पर राजमण्डल में किसी तरह का क्षोभ तो पैदा न हो जायगा।

राजमण्डल के क्षुब्ध हो जाने पर युद्ध में विजय होने पर भी हानि ही संभव है। किन्तु यदि उस युद्ध से अपनी क्षति पूर्ति होनी निश्चित हो तब राजा को युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि युद्ध छिड़ जाने पर वह सहज में समाप्त न होगा। यदि अधिक समय तक युद्ध चलाने की सामर्थ्य हो तो युद्ध में लगना चाहिए। एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि राजा को पहले जान लेना चाहिए कि उसका अमात्य वर्ग एवं राष्ट्र उसमें अनुरक्त है या नहीं। इनका अनुराग जानकर ही युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिये अन्यथा नहीं।

असाधारण उत्साहशक्ति सम्पन्न राजा को पराजित करना बड़ा कठिन है। यह राम राजनीतिशास्त्र में परम प्रवीण है; इसलिए इसके साथ युद्ध करने में हमारी जय की कोई संभावना नहीं है। इस युद्ध के छिड़ जाने पर हमारा जनक्षय एवं धनक्षय अधिक मात्रा में होगा। इस युद्ध में विजय प्राप्त होने पर भी हमको कोई राज्य नहीं मिल सकता। क्योंकि राम किसी सुसमृद्ध राज्य का मालिक नहीं है। इसलिए इस युद्ध को बन्द कर देना ही हमारे पक्ष के लिए कल्याणकर होगा।

और भी एक बात है कि राम ने बाली को मार दिया, यह बात भी हमको विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। केवल बाली को मार देने से ही राम को अधिक लाभ और राक्षस राज को बड़ी हानि हुई है। राजमण्डल में एक-मात्र बाली ही राक्षसराज का असाधारण मित्र था। बानरराज सुग्रीव राक्षसराज

का परम शत्रु है। बाली की मृत्यु से रावण के मित्र का विनाश हुआ है और राम को रावण के परम शत्रु सुग्रीव की मित्रता प्राप्त हो गई है। राम ने एक मात्र सुग्रीव को ही मित्र रूप में पा लिया है यही नहीं, बल्कि बानरराज सुग्रीव की सुविशाल सेना भी आज राम की आज्ञाकारिणी है। एक बालिबध से ही राम प्रचुर शक्तिशाली और हमलोग दुर्बल हो गये हैं। यदि राक्षसराज समझते हों कि हम शत्रु पक्ष में फूट डालकर शत्रु को पराजित कर सकेंगे, यह भी संभव नहीं है। कारण हम राम के परम सहायक कपिराज सुग्रीव के साथ राम का भेद पैदा कर देंगे यह बात असंभव है। क्योंकि भेद के लिए क्रोधी, लोभी, भीत और अपमानित ये चार प्रकार के लोग ही उपयुक्त होते हैं। कपिराज सुग्रीव राम की सहायता करने के लिए ही राम से मिला है। राम की कृपा से ही सुग्रीव कपिराज्य पा सका है। सुग्रीव किसी लोभ से राम की सहायता नहीं कर रहा है। राम के साथ सुग्रीव की मैत्री होने से राम से सुग्रीव को किसी तरह भय भी नहीं है। राम के कार्य से सुग्रीव सन्तुष्ट है। इसलिए राम पर क्रुद्ध भी नहीं। राम ने सुग्रीव का उपकार किया है। इससे सुग्रीव राम से अपमानित भी नहीं है। इसलिए राम-सुग्रीव में फूट डालने का प्रयत्न व्यर्थ होगा। सुग्रीव जो राम की सहायता के लिए तैयार हुआ है, वह केवल राम के उपकार का बदला चुकाने के लिए। उपकारी का प्रत्युपकार करना यही सज्जनोचित मार्ग है। इसी सज्जन-रीति का अनुसरण करने के लिए सुग्रीव राम के साथ मिला है। यदि मान लिया जाय राम-सुग्रीव में भेद नहीं डाला जा सकता, किन्तु अन्यान्य नील, कुमुद आदि विशेष विशेष व्यक्तियों में तो फूट डाली ही जा सकती है तो यह भी संभव नहीं। नील, कुमुद आदि प्रधान बानरगण किस लोभ से सुग्रीव का पक्ष छोड़कर राक्षसराज के पक्ष का समर्थन करेंगे? ये बन्दर फल मूल खाने के कारण मिष्टान्न की अपेक्षा तो रखते नहीं। जंगलों में बेरोक-टोक कुंज इत्यादिकों में रहते हैं। इससे सुन्दर महलों में रहने की इच्छा नहीं हो सकती। ये बानर जाति के हैं इसलिए इनको सुन्दर रमणियों की भी अपेक्षा नहीं है। इनको किसी धन, रत्न आदि की भी आवश्यकता नहीं है, जिससे बहुत सा धन-रत्न देकर राम-सुग्रीव के पक्ष से इन्हें अलग किया जा सके।

रहा महावीर बाली का पुत्र अङ्गद। उसमें भी भेद नहीं डाला जा सकता। यद्यपि बानरराज बाली राक्षसराज का परम मित्र था और अङ्गद उसका औरस पुत्र है, फिर भी वर्तमान दशा में अङ्गद रावण का पक्ष न ले सकेगा। कारण—सुग्रीव अङ्गद की माता तारा के सर्वथा अनुगत है। सुग्रीव ने अंगद को युवराज भी बना दिया है और अङ्गद में पुत्रवत् स्नेह रखता है। इस हालत में अङ्गद कभी भी सुग्रीव का पक्ष छोड़ कर राक्षसराज की सहायता न कर सकेगा। इसलिए किसी तरह भी शत्रु पक्ष में भेद डालने का अवकाश नहीं है।

यदि सोचा जाय कि किसी प्रबल राजा का आश्रय लेकर राम से युद्ध किया जा सकता है तो यह भी संभव नहीं। कारण—राम से अधिक पराक्रमी अथवा राम के समान भी पराक्रमी कोई राजा दिखाई नहीं पड़ता। यदि दीख पड़ता तो उस की ही सहायता हम ले सकते थे। यदि सोचा जाय कि भगवान् ब्रह्मा ने रावण को दुर्लभ वर दिये हैं और ब्रह्मा की कृपा से ही रावण असाधारण बल और ऐश्वर्य पा सका है। इसलिए ब्रह्मा की सहायता अवश्य पा सकेगा। यह भी सोचना गलत है। क्योंकि ब्रह्मा रावण को दुर्लभ वर देकर स्वयं बहुत पछता रहे हैं। ब्रह्मा सोचते हैं कि मैंने रावण को विपुल बल एवं ऐश्वर्य देकर बड़ा दुष्कर्म किया है। सुतरां ब्रह्मा की सहायता पाना भी असंभव है। इन्द्र, वरुण आदि देवता यद्यपि विपुल पराक्रमी हैं, किन्तु उनसे हमारी पहले से ही शत्रुता चली आती है। उनसे मदद मिलने की भी कोई आशा नहीं की जा सकती। यदि सोचा जाय कि राम के लंका को घेर लेने पर भी हम अपने सुदृढ़ किले में ही चिरकाल तक रह सकते हैं और शत्रु हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता तो यह भी संभव नहीं। क्योंकि राम के लंका को घेर कर अधिक समय तक यहाँ पड़ाव डालकर पड़ जाने पर हमारा ऐसा कोई मित्रपक्षीय प्रबल राजा नहीं है जो पीछे से शत्रु पर आक्रमण करके शत्रु को नष्ट कर सके।

इसलिए दीर्घकाल तक किले के अन्दर ही रह कर हम स्वयं नष्ट हो जायेंगे। शत्रु को इससे कोई क्षति न होगी। जो शत्रु आज हमारे ऊपर आक्रमण कर रहा है उसको युद्ध की किसी सामग्री की जरूरत नहीं। इसलिए वह यदि चिरकाल तक यहाँ पड़ाव डाले रहे तो उसका युद्धोपकरण कुछ कम न होगा और किसी तरह की हानि भी न हो पायगी। यह बानरी सेना वृक्ष एवं पत्थर आदि से ही युद्ध करती है। वृक्ष और पत्थरों की कभी कहीं कमी नहीं होती। इनको खाने-पीने की भी कोई कमी न होगी क्योंकि ये साधारण जल मात्र पान करके ही जीवन बिता सकते हैं। इनको अच्छे मद्य आदि की जरूरत नहीं। ये फल मूल खाकर और साधारण जल पीकर रह सकते हैं। खाने के लिए इन्हें उत्तमोत्तम पुलाव आदि आहार की आवश्यकता नहीं। मांस, घी, दूध आदि की भी इनको जरूरत नहीं। ये पैदल युद्ध करते हैं, इनको हाथी घोड़े आदि की अपेक्षा नहीं। इनका कोई सुसमृद्ध राज्य नहीं है जिसकी रक्षा करने की जरूरत इनको यहाँ से हटा सके। इसलिए शत्रु को यहाँ दीर्घ काल तक रहने में कोई हानि न होगी। अन्दर रुके रहने पर केवल हमारा ही क्षय होगा। इससे शत्रु के साथ युद्ध करना हमारे लिये किसी तरह भी उचित नहीं हो सकता। मेरे मत में तो अविलम्ब शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए। राक्षसराज शत्रु से शीघ्र ही सन्धि कर लें, और कोई उपाय नहीं है। यदि राक्षसराज नीति विगर्हित मार्ग में प्रवृत्त हो शत्रु से युद्ध करेंगे तो हमारी पराजय अवश्यम्भावी है।

जिस समय मंत्रणा सभा में विभीषण ने नीतिशास्त्रानुसार अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया और राक्षसराज के नाना माल्यवान् ने भी इसका ही समर्थन कर दिया। उस समय सभा में उपस्थित राक्षसराज के भ्राता कुम्भकर्ण यह बोले कि मंत्रणा सभा के विचारणीय विषय के पाँच अंग होते हैं। ये पाँच अंग इस तरह हैं। १—कर्म के प्रारम्भ करने के उपाय, २—पुरुष-द्रव्य सम्पत्, ३—देश और काल का विभाग, ४—आपत्ति का प्रतिकार, ५—कार्यसिद्धि।

भट्टिकाव्य में कुम्भकर्ण की उक्ति में जो भट्टि कवि ने मंत्रणा के पाँच अंगों की बात कही है, ये पाँचों अंग कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के सप्तम अधिकरण के ११वें प्रकरण में बड़े विस्तार से दिखाये हैं। मंत्रणा का पहला अंग है कार्य के प्रारम्भ का उपाय। इसका अर्थ यही है कि राजा अपने राष्ट्र में परिखा (खाई), प्राकार (चहारदीवारी), दुर्ग आदि तैयार कराये और पहले बने हुए की मरम्मत करा दे। शत्रुराज्य में सन्धि या विग्रह आदि के लिए दूतों को भेजने का विचार करे। इसी को आरंभोपाय कहते हैं। द्वितीय अंग है पुरुष-द्रव्य संपत्—अर्थात् पुरुष-सम्पत् और द्रव्य-संपत्। इसके अनुसार राजा अपने राष्ट्र में दुर्ग, सेतु आदि बनाने में निपुण शिल्पी आदि के विषय में विचार करे। सेनापति सेना के लिए एवं दुर्ग आदि के लिये—लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि, जो चीज़ें आवश्यक हों उन सबका पूरा ध्यान रखे। शत्रुराष्ट्र से सन्धि-विग्रह आदि कार्यों में कुशल दूत सेनापति आदि तथा स्वर्ण, रत्न आदि विषयों की चिन्ता करे। अपने राष्ट्र के साथ शत्रुराष्ट्र की पुरुष-सम्पत् और द्रव्य-सम्पत् की तुलना करके न्यूनाधिक्य का विचार करे। तीसरा अंग है—देश काल विभाग। इस तीसरे मंत्रणा-अंग के विचार का विषय यही है कि अपने राष्ट्र में जो दुर्ग आदि बनाना है, वे कहाँ बनाये जायँ? राष्ट्र के मध्य में या किसी एक किनारे पर? इसी तरह सेतु, परिखा आदि के निर्माण में भी जगह के लिए विचार करना होगा। दुर्ग आदि जो बनाये जायेंगे, वे नीची तरी की ज़मीन में, या जंगल में, या साधारण जगह में, इन सब बातों का विचार करना होगा। इसी तरह समय के सम्बन्ध में भी विचार करना होगा। यह सुभिक्ष का समय है, यह दुर्भिक्ष का—इसको जान कर सुभिक्ष समय में क्या करना चाहिए और दुर्भिक्षकाल में क्या करना चाहिए, स्थिर करे। इसी तरह शीत वर्षा आदि ऋतुओं के विषय में भी विचार करना होगा। कौन सा कार्य वर्षा ऋतु में एवं कौन सा कार्य शीत काल में प्रारम्भ करने से सुविधा जनक होगा। देश, काल आदि की ये बातें जैसे अपने राष्ट्र के विषय में अनुकूलता से विचारणीय होंगी वैसे ही शत्रुराष्ट्र के देश काल की भी विवेचना करनी होगी। जैसे शत्रु का देश कैसा है, उसमें कौन चीज अधिक पैदा होती है, उसकी भूमि अधिक उपजाऊ है या मरुप्राय बँजर है? शत्रुदेश में कौन सा अंश समृद्ध है कौन सा असमृद्ध।

सन्धि इत्यादि करने में शत्रु के राज्य का कौन-सा भाग लेने पर हमको लाभ होगा, किस भाग के लेने पर हमको कौन विशेष लाभ न हो सकेगा। शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए कौन सी ऋतु हमको अनुकूल होगी, कौन समय प्रतिकूल रहेगा—यह विचारना होगा। मंत्रणा के तृतीय अंग देश-काल विभाग की ये सब बातें ही सोचने की हैं। मंत्रणा का चौथा अंग है—विनिपात-प्रतीकार। विनिपात शब्द का अर्थ है विघ्न, क्षति आदि— उसका प्रतिकार सोचना। राजा अपने राष्ट्र में जो कार्य प्रारम्भ कर रहा है, उनमें अनेक विघ्न होंगे और हानि होगी। उनके समाधान की व्यवस्था भी सोचनी होगी। शत्रु से संधि आदि करने में जो विघ्न बाधाएँ उपस्थित होंगी, उनको शान्त करने के उपाय सोचने होंगे। विनिपात-प्रतिकार में यही सब सोचने का विषय है। मंत्रणा का पंचम अंग कार्य-सिद्धि है। कार्यसिद्धि का अर्थ है प्रारंभ किये गये कार्यों का फल पाना। शुरू किये कामों का फल तीन तरह का होता है—क्षय, स्थान और वृद्धि। अपनी जिस दशा में राजा ने वह काम शुरू किया है उस दशा से भी यदि उसकी दशा हीन हो जाती है तो वह क्षय कहलाता है। जिस दशा में रहते हुए उसने कार्य प्रारम्भ किया है उस दशा से उसकी दशा यदि न खराब है और न अच्छी, वही पहले की सी हालत है तो वह स्थान कहलाता है; जिस दशा में कार्य आरम्भ हुआ है, यदि उस समय से अब उन्नत दशा प्राप्त हो रही है, तो उसको वृद्धि कहते हैं। क्षय दशा में रहने वाला पुरुष स्थान के लिए और स्थान स्थित पुरुष वृद्धि के लिए प्रयत्न करे। इसी का नाम कार्यसिद्धि है। कामन्दक-नीति के ग्यारहवें अध्याय के ५६वें श्लोक में पंचांग मंत्रणा की बात कही गई है। किन्तु इस समय जो कामन्दकनीति उपलब्ध है, उसमें ये वाक्य असंपूर्ण एवं अस्पष्ट हैं। किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग के १२वें श्लोक की टीका में मल्लिनाथ ने ये वाक्य उद्धृत किये हैं। किन्तु वे भी पूरे नहीं हैं। मंत्रणा के पाँच अंग क्या हैं, यह बात हमने कौटिल्य अर्थशास्त्र से दिखाई है। नीतिशास्त्र का जानने वाला राजा यदि मंत्रणा की इन पांच बातों का निश्चय करके देश तथा काल का उल्लंघन न करता हुआ काम शुरू करता है, तो उसकी सिद्धि अवश्यंभावी है। मंत्रणा सभा में कुम्भकर्ण ने रावण से यही कहा है कि विजिगीषु राजा पंचांग सलाह का निश्चय करके यदि उसके अनुसार देश-काल का अतिक्रम न करके कार्य प्रारंभ करता है और पुरुष-सम्पत् एवं द्रव्य-संपत् को ठीक रखता हुआ आये हुए विघ्नों का उपशम करता है, तो वह मंत्रणा का फल कार्यसिद्धि प्राप्त करता है।

किन्तु जो राजा अपने को ही असाधारण योग्य व्यक्ति समझ के सोचता है कि मेरे समान और कोई समझदार योग्य व्यक्ति है ही नहीं, ऐसा अभिमानी राजा देश-काल की उपेक्षा ही दिखलाता है। अपने दुरभिमान के कारण जो

राजा देश–काल के प्रतिकूल होने पर भी कार्य प्रारम्भ करता है उसको मंत्रणा का कुछ फल नहीं मिल सकता। राक्षसराज बहुत ज्यादा अभिमानी है। यह अभिमान ही राक्षस राज के विनाश का मूल कारण होगा। इन्द्रिय जय प्रकरण में कौटिल्य ने कहा है कि "मानाद् रावणः परदारान् अप्रयच्छन् सबन्धुराष्ट्रो विननाश।" कुंभकर्ण ने मंत्रणा सभा में यही कहा है कि यदि आकाशमध्यस्थित सूर्य अपनी गर्मी छोड़ दे, चन्द्रमा अपनी शीतलता छोड़ दे, तब भी सब लोकों को तुच्छ समझने वाला रावण अपना अभिमान न छोड़ सकेगा। मेरे समान और कोई नहीं है––इस तरह के दुरभिमान को मान कहते हैं। यह दुर-भिमान ही सब अनर्थों की जड़ है। सुतरां हमलोगों ने मंत्रणा सभा में एकत्र होकर यह आलोचना क्यों की? इससे राक्षसराज की कुछ सहायता न हो सकेगी। राक्षसराज हमारी इस सलाह को कभी भी ग्रहण न करेंगे। हमलोग राक्षसराज के बन्धु हैं, उनसे अधिक स्नेह रखते हैं और उनकी कार्यसिद्धि की इच्छा रखते हुए हमलोगों ने जो कुछ कहा है राक्षसराज उसकी कुछ भी परवाह न करेंगे। राक्षसराज सर्वत्र ही प्रतिकूल चेष्टा करते हैं। हमारी यह चेष्टा व्यर्थ होगी। अनुपयुक्त स्थान में मंत्रणा से हमलोग ही दूसरों के सामने उपहासास्पद होंगे। फिर भी हम राक्षसराज के प्रति अज्ञानजन्य स्नेह से प्रेरित हो उचित सलाह देने से कभी न चूकेंगे। यह राक्षसराज सदा से ही परहिंसा आदि क्रूर कर्मों में निरत रहे हैं। दूसरों की स्त्रियों को भोगने आदि ग्राम्य सुखों में ही इनकी अधिक आसक्ति रही है। ये सभी कार्य पूर्व संचित पुण्यों के नाश का एकमात्र कारण हैं। यही विद्वान् लोगों ने निर्णय किया है। राक्षसराज इन्हीं सब अन्याय कार्यो में प्रेम रखते हैं। इसलिए राक्षसराज का पतन समीप है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। हमारी यह सब मंत्रणा व्यर्थ होगी। बुरे आचरण करने वाले रावण के सामने कोई हित का उपदेश काम न करेगा। फिर भी स्नेह के कारण जो अवश्य करणीय है उसका उपदेश जरूर करेंगे। रावण के अनुग्रह से जो हमको यह सारा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, उसका बदला हम राक्षसराज के लिए युद्ध में प्राण त्याग कर देंगे और कृतार्थ हो सकेंगे। कुंभकर्ण ये बातें कहके फिर बोला कि राक्षसराज के सेनापति प्रहस्त आदिकों ने जो झूठी दुर्नीति की बातें कहकर राक्षसराज को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया है यह नितान्त असंगत है एवं विभीषण ने जो कहा है वही समुचित है। इस मंत्रणा सभा में विभीषण और रावण के नाना माल्यवान् ने जो राम के साथ सन्धि कर लेना ही एकमात्र कर्त्तव्य बतलाया है और अनेक युक्तियों से इसका समर्थन भी कर दिया है, वही समुचित है। इस मंत्रणा सभा में राजनीति को जानने वाले विभीषण, माल्यवान् और कुंभकर्ण आदि ने राम के साथ सन्धि करके युद्ध से विरत होने के लिए कहा है और प्रहस्त आदि राक्षसों ने राक्षसराज को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया है।

नीतिशास्त्रवेत्ताओं के सत्परामर्श की उपेक्षा करके रावण युद्ध में प्रवृत्त हो गया। फिर अपने बहुत शूरों के नष्ट होने पर डर गया और उस दशा में सोते हुए कुंभकर्ण को विशेष प्रयत्नों से उसने प्रबोधित किया यह नीतिशास्त्रों के सत्परामर्श न मानने का ही परिणाम कहा जा सकता है। जागने पर कुंभकर्ण ने राक्षसराज की सभा में आकर फिर कहा--हे राक्षसराज! हमने पहले ही मंत्रणा सभा में सम्मिलित होकर आपको जो सब बातें कहीं थीं, उनमें से कोई भी बात आपने नहीं सुनी। बुद्धिमानों की बात का निरादर किया और मूर्खों की बातों पर आस्था रखी। आज उसका ही विषमय फल उपस्थित हुआ है। आपने नीतिवेत्ताओं की बात नहीं मानी एवं मूर्खों की बात मान ली। आपने संपूर्ण नीतिशास्त्रों का अध्ययन किया है किंतु नीतिशास्त्रानुसार काम करने की प्रवृत्ति आप में नहीं है। आप के मूर्ख मंत्रिमण्डल ने आप को पूरी तरह से प्रभावित कर लिया है। उन्होंने अपनी मूर्खता से आप को इस दारुण युद्ध में लगा दिया। हमारे मातामह माल्यवान् ने मंत्रणा सभा में बड़ी अच्छी युक्तियों से आपको उपदेश दिया किंतु आपने उसको ग्रहण नहीं किया। हर बात में ही आपकी असावधानी साफ प्रतीत हो रही है। आपने किसी से युद्ध के विषय में कुछ सलाह न करके ही प्रबल प्रतापी राम की पत्नी का अपहरण किया है। इस पर भी विभीषण, माल्यवान् आदि नीतिवेत्ता एवं अपने परमहितैषी आप्त मंत्रियों के बहुत मना करने पर भी आपने सीता को वापिस नहीं दिया। आपने अपने दोषों का जरा भी विचार नहीं किया। आज उसका विषमय फल उपस्थित है। अब मोह या क्रोध करना व्यर्थ है। हमने पहले ही मंत्रणा सभा में संधि का प्रस्ताव किया था किंतु आपने अति मान के कारण उसको सुना ही नहीं और संधि कर लेने का अवसर खो दिया। वर्तमान में जो दशा है इस में संधि का अवसर ही नहीं रहा। आप ने हमारे परम बन्धु महावीर राक्षसों का वध करा दिया तथा संचित राजकोष विनष्ट कर दिया। हो सकता है राक्षसराज की प्रचण्ड तेजस्विता का ध्यान करके राम युद्ध से पहले सीता को वापिस दे देने पर संधि करने पर राजी हो जाता। किंतु आज राक्षसराज का वह प्रचण्ड तेज नष्ट हो गया है। अकारण युद्ध छेड़ कर उन्होंने कोष एवं सैन्य बल नष्ट कर दिया। इसलिये राक्षसराज अति विपन्न दशा में है। इस दशा में दुर्बल शत्रु से कोई भी संधि करना स्वीकार नहीं कर सकता। जिस दशा में हम पहुँचे हैं, इस दशा में हमारा विनाश अनिवार्य है। ये सब बातें कहकर रावण का भाई कुंभकर्ण रावण के अतिशय स्नेह के कारण युद्ध में सम्मिलित हुआ और मारा गया।

हमने जो भट्टिकाव्य के बारहवें और पंद्रहवें सर्ग से दण्डनीति की आलोचना प्रदर्शित की है, इन सारी आलोचनाओं का मूल रामायण है। वह हमने पहले ही दिखा दिया है। रामायण में जो आलोचनायें की गई हैं उन्हीं को भट्टि-

काव्य में विस्तृत एवं विशदरूप से दिखाया गया है। महाकवि भट्टि ने रामायण के अनेक अंशों का अति संक्षेप में वर्णन किया है किंतु दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना में कृपणता नहीं की गई है। भट्टिकाव्य की इन आलोचनाओं से साफ मालूम हो सकता है कि महाकवि भट्टि के समय में भारतीय आर्यमात्र विलास व्यसनों में मग्न रहना ही एकमात्र पुरुषार्थ नहीं समझते थे। राष्ट्र-रक्षा के लिये अधिकतम उद्योगशील आर्य किसी हालत में भी दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना को उपेक्षा का विषय नहीं समझते थे। आर्यजाति के क्रमशः अधःपतन होने के फलस्वरूप और सब बातों में जैसे अत्यन्त हीनता देखी जाती है, वैसी ही राज्य रक्षा के विषय में भी उदासीनता हो गई है। उसी का फल हुआ कि इसके बाद के काव्यों में दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना क्रमशः क्षीण होती चली गई और वर्तमान में लुप्त ही हो गई है। भारत के कवि होने में राजनीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक था यह बात हमको स्वप्नातीत हो गई है। प्राचीन भारत के साहित्य, दर्शन यहाँ तक कि धर्मशास्त्र में भी राष्ट्र रक्षा के लिये अधिक मात्रा में उत्साह देखा जाता है। किंतु अधःपतित भारत के काव्यों में राष्ट्र रक्षा की बात पूरी तरह से लुप्त हो गई है। जनसाधारण को राष्ट्र रक्षा के लिये प्रोत्साहित करना कवि का काम ही नहीं समझा जा रहा है। जिस साहित्य की आलोचना से जनगण भीरु, क्लीव, एवं कायर बन सकें वही काव्य आज श्रेष्ठ समझा जाता है। राष्ट्रिय जन संगठन में जो दर्शनशास्त्र की असाधारणता थी उसकी हम आज कल्पना भी नही कर सकते। बल्कि राष्ट्रिय स्वतंत्रता की रक्षा में दर्शनशास्त्र का पूरा प्रभाव था यह सोचने वाले को भी अब हम मूर्ख समझते हैं। धर्मशास्त्र से राष्ट्र रक्षा के लिये जन-संगठन प्रोत्साहन आदि हो सकते थे——इस बात की आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। किंतु भारतीय आर्यजनता के गौरव के समय में रामायण और महाभारत सरीखे महाकाव्यों में दण्डनीतिशास्त्र की पूर्ण विवेचना बड़ी श्रद्धा के साथ की गई है। इसके बाद रामायण और महाभारत के आधार पर बने हुए भट्टि और किरातार्जुनीय आदि काव्यों में भी राजनीतिक विवेचना का पर्याप्त निदर्शन रहा है।

पूरे ध्यान से न्याय, वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रों की आलोचना करने पर स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा कि राष्ट्र-संगठन में दर्शनशास्त्र का अतिमात्र प्रभाव है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारदस्मृति आदि धर्मशास्त्र ग्रंथों की आलोचना करने पर भी दण्डनीतिशास्त्र की उपादेयता जानी जा सकती है। प्राचीन पुराणशास्त्रों की आलोचना करने पर भी देशप्रेम के अगणित उदाहरण मिलते हैं। विश्वरूप, मेधातिथि आदि धर्मशास्त्र के प्राचीन टीकाकारों एवं भाष्यकारों के ग्रंथों की विवेचना करने पर भी दण्डनीतिशास्त्र के ज्ञान की परमावश्यकता साफ जानी जा सकती है। किंतु

भारत के अध:पतन के युग में क्या साहित्य, क्या दर्शन, क्या धर्मशास्त्र के अनेक निबन्ध––जिनकी विवेचना करके देखा जाय उनसे स्पष्ट मालूम हो सकेगा कि भारतीय जनता राष्ट्रतंत्र की आलोचनाओं से क्रमशः गिरती चली जा रही है। राष्ट्र, समाज आदि की रक्षा से उदासीन हो जाने का फल है कि आज हम इस शोचनीय दशा में आ पहुँचे हैं। इस प्रबन्ध के आरम्भ में ही हमने दण्डनीति-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता के सम्बन्ध में शास्त्रों का निर्देश कर दिया है और अब फिर भी यही कहने को बाध्य हैं कि महाभारत के शान्तिपर्व के ५६ वें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर राजधर्म की उपादेयता के सम्बन्ध में कहते हैं कि सारे जीवलोक का राजधर्म ही एक मात्र आश्रय है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चतुर्वर्ग राजधर्म के ही अधीन है। इस राजधर्म में यदि थोड़ी भी असावधानी हो जाय तो सभी लोकसंस्थायें नष्ट हो जायेंगी। हमारी राजनीति की उपेक्षा का ही फल है कि आज हम इस शोचनीय दशा में हैं।

अष्टम अध्याय

किरातार्जुनीय काव्य में दण्डनीति

जिन काव्यशास्त्रों में दण्डनीतिशास्त्र की विशेष आलोचना देखी जाती है उन सब की रचना भारतवर्ष की समृद्धि के समय में हुई हैं। भारत की पतनोन्मुख दशा में जो काव्यशास्त्र निर्मित हुए हैं उनमें दण्डनीतिशास्त्र का विवेचन संभव नहीं। क्योंकि उस समय भारतीय जन दण्डनीति की विवेचना से बहुत दूर हट गये थे। जिन आलोचनाओं से जन समूह का चित्त विनोद न हो, उन विषयों की आलोचनायें काव्यों में स्थान नहीं पा सकतीं। काव्यों की आलोचनाओं के विषय से उस समय के लोगों की रुचि का परिचय मिलता है। इसलिये दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना जिन काव्य ग्रन्थों में है वे प्राय: सब प्राचीन हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हमने भट्टिकाव्य में दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना दिखादी है। अब किरातार्जुनीय काव्य से दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना दिखायेंगे। इस काव्य का वर्णनीय विषय महाभारत के वनपर्व से संगृहीत हुआ है। जुए में हार कर पाण्डवों ने बारह वर्ष वनवास एवं एक वर्ष अज्ञात वास किया। पाण्डवों के बारह वर्ष के वनवास की सब घटनायें वनपर्व में वर्णित हैं। एक वर्ष के अज्ञात वास की घटनायें विराटपर्व में उल्लिखित हैं। इस समय में जैसे पाण्डव अपनी शक्ति संचित करने में उद्युक्त थे वैसे ही शत्रुपक्ष भी इनके कार्य कलाप को बड़ी सावधानी से लक्ष्य कर रहा था।

मनुसंहिता के सप्तम अध्याय के १७७वें श्लोक में कहा है कि नीतिशास्त्रज्ञ राजा सब प्रकार के उपायों से ऐसी व्यवस्था करे जिसमें उसका मित्रपक्षीय या शत्रुपक्षीय राजा किसी तरह किसी बात में उससे बढ़ने न पाये। मित्र राजा के भी प्रबल हो जाने पर विजिगीषु राजा पर कभी भारी विपत्ति आ सकती है। प्रबल राजा फिर मित्रता पालन नहीं करेगा, उस समय वही शत्रु हो जायगा। मनुसंहिता के इसी अध्याय के १८० वें श्लोक में राजनीतिशास्त्र का सार संग्रह कर कहा है कि विजिगीषु राजा सर्वदा ऐसा प्रयत्न करता रहे जिससे उसको मित्र, उदासीन और शत्रु राजा किसी तरह भी न दबा सके। इसलिये विजिगीषु राजा केवल शत्रुपक्ष से ही शंकित न रहे अपितु मित्र और उदासीन पक्ष से भी सदा सशंक बना रहे।

बुद्धिबल और धनबल आदि के द्वारा जो राजा ऊँचा बढ़ जाता है वह और दूसरे राजाओं को अपने वश में कर लेता है इसमें कोई संदेह नहीं। इसलिये

विजिगीषु राजा गुप्तचर आदि की सहायता से हर समय बारहराजमण्डलों की सब बातें जानता रहे और उसीके अनुसार अपने यहाँ उसके प्रतिकार आदि की व्यवस्था करे। शांति के समय भी विजिगीषु राजा कभी निश्चेष्ट न रहे। सब तरह से अपना बल बढ़ाने के लिये शांति का समय विजिगीषु राजा के पक्ष में भगवान् का वरदानरूप ही होता है। जो शांति के समय भोगविलासों में मग्न रहता है और राष्ट्र की बलवृद्धि के लिये कुछ उद्योग नहीं करता, आपत्ति आ पड़ने पर वह राष्ट्र विनाशोन्मुख हो जायगा। इसलिये हम यहाँ भारत के प्राचीन काव्य किरातार्जुनीय से शांति के समय विजिगीषु राजा को किस तरह अपना बल बढ़ाने में तत्पर होना चाहिये और अपने राष्ट्र को सुदृढ़ संगठित करना चाहिये इसका आभास देंगे।

कुरुराज दुर्योधन छल से पाण्डवों का सुसमृद्ध राज्य और उनका सारा कोष अपना कर भी निश्चेष्ट होकर नहीं बैठा रहा। पाण्डव जब एक दीर्घकाल तेरह वर्ष के लिये प्रतिज्ञावद्ध होकर बनवासी हो गये तब दुर्योधन बड़े उत्साह से अपने तथा दूसरों के राष्ट्रों का अनुरंजन करने के लिये अत्यंत उत्साह से काम करने लगा। जिस अनुचित उपाय से दुर्योधन ने पाण्डवों का राज्य अपना लिया था इससे उसके राष्ट्रवासी राजा तथा दूसरे राष्ट्रों के राजा कोई भी संतुष्ट न था। छल से पाण्डवों का राज्य ले लेने के कारण सारा ही राजमण्डल क्षुब्ध हो उठा था और दुर्योधन के इस कार्य को किसी तरह भी समर्थन योग्य न मान कर उसको घृणा की दृष्टि से देखने लगा था। मेरे इस काम से मेरा राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र मुझसे घृणा करने लगे हैं, यह बात दुर्योधन ने अच्छी तरह जान ली थी। दुष्कर्म करने पर उस दुष्कर्म का फल कितना भयानक हो सकता है—बुद्धिमान् व्यक्ति यह बात भी अच्छी तरह जान लेता है। इसलिये दुर्योधन अपने इस दुष्कर्म को ढकने के लिये एवं अपने तथा दूसरे राष्ट्र मण्डलों के राजाओं का प्रेम प्राप्त करने के लिये नीतिशास्त्र वेत्ताओं की तरह नीति के अनुसार कार्य करने लगा। किस तरह प्रजावर्ग को अपनी ओर आकृष्ट किया जा सकता है, राजा में प्रजा का अनुराग होना ही राष्ट्रिय समृद्धि का एक मात्र कारण होता है—ये सब बातें नीतिशास्त्र में कुशल दुर्योधन अच्छी तरह जानता था। इसलिये दुर्योधन पाण्डवों को राज्य से निर्वासित करके भी अपने तथा दूसरे राष्ट्रमण्डलों के राजाओं को और अपने अमात्य आदिकों को अपने में अनुरक्त करने के लिये और सब तरह से उनको अभेद्य बनाने के लिये राज-नीति के अनुसार सब कार्य करने लगा। उन्ही सब बातों को महाकवि भारवि ने अपने काव्य के प्रारंभ में स्पष्टरूप से बताया है। महाकवि भारवि ने अपने काव्य में जो बातें कही हैं वे सभी महाभारत से ली गई हैं। महाभारत में दुर्योधन की जो नीति संक्षेप में वर्णित है उसका भारवि ने कहीं विस्तृतरूप से और जो

महाभारत में विस्तृतरूप से है, उसका संक्षेप में वर्णन कर दिया है। महाराज दुर्योधन की संगठन नीति कैसी थी और वह अपने राजमण्डल तथा परराष्ट्र मण्डलों के राजाओं का अनुराग कैसे पा सका था इसके लिये यही एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा कि अति विशाल भारत के आर्य और म्लेच्छ राजा दुर्योधन के बुलाने पर दुर्योधन के पक्ष में सम्मिलित हो सके। केवल सम्मिलित ही नहीं हुए बल्कि अपने पुत्र, भृत्य, सेना और वाहन, धन आदि लेकर उन्होंने दुर्योधन के पक्ष में पूर्ण सहयोग दिया। कुरुक्षेत्र के महासमर में दुर्योधन के पक्ष की क्रमशः पराजय होने पर भी किसी एक राजा ने भी दुर्योधन का पक्ष नहीं छोड़ा। कुरुक्षेत्र युद्ध में जब दुर्योधन की पराजय सुनिश्चित रूप से जान ली गयी थी तब भी किसी राजा ने दुर्योधन का पक्ष परित्याग नहीं किया। दुर्योधन के निमंत्रण से निमंत्रित होकर आये हुए विशाल भारत के आर्य तथा म्लेच्छ राजाओं ने अपने पुत्र-भृत्य आदिकों के सहित दुर्योधन के पक्ष में होकर कुरुक्षेत्र के महासमर में प्राण त्याग दिये। इस महासमर में अगणित राजा दुर्योधन का पक्ष लेकर लड़े और क्रमशः एक एक करके सब मारे गये। किंतु कभी भी किसी ने दुःखी होकर दुर्योधन से युद्ध से विरत होने के लिये अनुरोध नहीं किया और न दुर्योधन का पक्ष ही छोड़ा। दुर्योधन से किसी विशेष सुविधा या समादर पाने की कभी चेष्टा भी नहीं की। दुर्योधन के पक्ष वाले सभी राजाओं ने अपना शेष रक्त विन्दु तक दुर्योधन के लिये दे दिया। इन राजाओं में जब तक एक भी राजा रहा, उसने युद्ध से मुँह नहीं मोड़ा। कितनी निर्मल एवं सुदृढ़ नीति का प्रभाव है जिससे इस तरह का आश्चर्य जनक संगठन सका। यह सोचकर स्तंभित हो जाना पड़ता है। हमको बहुत से युद्धों का विवरण मिलता है, किन्तु युद्ध में जिस पक्ष की क्रमशः पराजय होने लगती है, उस पक्ष में सम्मिलित होने वाला मित्र राजगण अपनी अपनी स्वार्थ सिद्धि पर दृष्टि पात करके उस युद्ध से विरत हो जाता है।

हमने सभी के मुँह से यह कहते सुना है कि हम इस युद्ध में अपना शेष-रक्तविन्दु तक दे देंगे। किंतु कार्यरूप में इसको परिणत करते नहीं देखा गया। यह केवल जबानी जमाखर्च के रूप में ही रहता है। किंतु महाराज दुर्योधन के पक्ष में सम्मिलित होने वाले आर्य एवं म्लेच्छ राजाओं ने अपना शेष रक्तविन्दु पर्यन्त कुरुक्षेत्र के युद्ध में देकर इस गर्वित उक्ति को पूर्णरीति से सार्थक करके दिखा दिया—पृथ्वी के किसी भी युद्ध के इतिहास में इसकी तुलना नहीं मिलती। मात्र वाणी से धोखा देकर दुर्योधन कभी भी विशाल भारत के राजाओं को संगठित नहीं कर सकता था। इसलिये स्वतः ही मन में यह बात आती है कि यह दुर्योधन की स्वीकृत नीति की ही एक असाधारण विशेषता है।

इस नीति के प्रभाव से अनेक राजा निर्भय होकर प्राण देने में जरा

भी कुंठित नहीं हुए। भारतीय राजनीति की यह असाधारण विशेषता है जिसका हमने नारदनीति के विवेचन प्रसंग में उल्लेख किया है। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि हे महाराज! तुम्हारी नीति के प्रभाव से सारे प्रधान राजोंका तुम्हारे प्रति विशेषरूप से अनुराग तो है? एवं काम पड़ने पर तुम्हारे लिये वे प्राण तक देने को तैयार तो हैं? नारद की इस उक्ति के अनुसार समझा जा सकता है कि भारतीय राजनीति की क्या असाधारण महिमा है। प्रत्येक राजा अपनी व्यक्तिगत सुविधा के लिये किसी पक्ष में सहयोग देकर फिर असुविधा होने से उस पक्ष को छोड़ कर दूसरे पक्ष में सहयोग दे, यह एक साधारण नीति में गिना जाता है। नीतिशास्त्रकारों ने भी कहा है कि जो राजा गौ के कान की तरह शिथिलता से किसी पक्ष में सहयोग देता है उसके साथ देने का कुछ मूल्य नहीं। गौ अपनी इच्छानुसार अपना कान घुमा फिरा सकती है। इसी प्रकार आज जिस पक्ष में हैं कल उसमें असुविधा देखने पर दूसरे पक्ष का अनायास अवलम्बन करे, इसके समान हीन संगठन और कुछ नहीं हो सकता।

जो विजिगीषु राजा विभिन्न देश के ऐसे राजाओं को अपने पक्ष में मिला लेता है उसमें भारी त्रुटि है क्योंकि उसके पक्ष में सहयोग देकर भी राजा उसके शत्रु को सहयोग देने के लिए हाथ फैला देते हैं। किसी के लिए कोई अपना स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं होता। यह नीति की और नीति प्रयोक्ता की न्यूनता है। कुरुक्षेत्र के महासमर में आखिरी दिन जिस समय महाराज शल्य सेनापति पद पर अधिष्ठित हो गये, इसके बाद दुर्योधन के परम मित्र और गुरु स्थानीय कृपाचार्य महाराज दुर्योधन के सामने सन्धि का प्रस्ताव रखते हैं। जिस समय कृपाचार्य ने दुर्योधन के सामने सन्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया था, उस समय कुरुक्षेत्र में दुर्योधन के पक्ष का कोई भी वीर यह आशा नहीं कर सकता था कि युद्ध में हमारी जय होगी। कौरवों की जय की आशा निर्मूल हो चुकी थी और पराजय सुनिश्चित थी। भीष्म, द्रोण, कर्ण प्रभृति महावीरगण एक एक करके रणांङ्गण में सो चुके थे। कुरुराज की सेना अत्यन्त क्षीण हो चुकी थी। युद्ध के उपकरण ही बहुत ही कम बच पाये थे। ऐसे समय में कृपाचार्य ने जिसरूप में महाराज दुर्योधन के सामने सन्धि का प्रस्ताव रखा वह अतिशय हृदयग्राही था। इस समय की युद्धसभा में मरने से बचे हुए राजा लोग सम्मिलित थे। इस समय कृपाचार्य ने अत्यन्त शोकाकुल हृदय से महाराज दुर्योधन के सामने सन्धि का प्रस्ताव किया था। यह प्रस्ताव जैसा समयोचित था वैसा ही हृदयग्राही भी था। शल्यपर्व के चौथे अध्याय में इस संधि-प्रस्ताव का पूर्ण विवरण है। शल्यपर्व के पाँचवें अध्याय में महाराज दुर्योधन ने इस सन्धि के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उस समय दुर्योधन ने जो बातें कही हैं, वे सब विशद रूप से इसमें वर्णित हैं। वार्हस्पत्य नीति की उक्तियों को उद्धृत करके कृपाचार्य ने यह सन्धि-प्रस्ताव रखा

था और महाराज दुर्योधन ने बड़ी निपुणता के साथ पूरी तरह उसका प्रत्याख्यान कर दिया। वर्तमान दशा में सन्धि कर लेना किसी तरह भी संगत नहीं–इसको पुष्ट करने के लिए दुर्योधन ने अनेक युक्तियाँ दिखाई हैं। उन सबका हम यहाँ उल्लेख नहीं कर सकेंगे। किन्तु दुर्योधन की उन युक्तियों में से यहाँ केवल एक ही युक्ति दिखा देते हैं जिसके पढ़ने से पाठकवृन्द जान सकेगा कि दुर्योधन कैसा हृदय लेकर कैसी राजनीति का अनुवर्तन कर विशाल भारत के राजाओं को अपने पक्ष में मिला सका था। महाराज दुर्योधन कृपाचार्य के सन्धि-प्रस्ताव को अस्वीकार करने का कारण बताते हैं "ये मदर्थे हताः शूरास्तेषां कृतमनुस्मरन्। ऋणंतत् प्रतियुंजानो न राज्ये मन आदधे" इसका अभिप्राय यही है कि जो सारे शूर-वीर अनेक देशों से मेरे पक्ष में आकर मेरे लिए इस रणांङ्गण में सो चुके हैं, मैं उनके अपरिशोध्य ऋण जाल में बँध गया हूँ।

उनके इस ऋण परिशोध का एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि मैं भी उनके गौरव जनक कार्य को पूर्ण करने के लिए उनकी तरह ही रणांगण का आलिंगन करूँ। मैं उनके अपरिशोध्य ऋण का परिशोध बिना किये राज्यांश लेने के लिए किसी प्रकार भी तैयार नहीं हो सकता। मैं तुच्छ राज्य के लोभ से उन समस्त महावीर पुरुषों के किये गौरवान्वित कार्यों को किसी तरह भी धूल में नहीं मिला सकता।

महाराज दुर्योधन ने अन्ततक रणांगण का आलिंगन कर अपने लिये मरे हुए शूर-वीरों के अपरिशोध्य ऋण का परिशोध किया है। राज्य, समृद्धि, अगणित भोग, सबको तृणवत् समझ कर अगणित वीर पुरुषों का ऋण चुकाने के लिए महाराज दुर्योधन ने अन्त में समरांगण का ही आलिंगन किया।

महाराज दुर्योधन की ऐसी निर्मल भारतीय नीति जिस दिन से भारतवर्ष में उपेक्षित होने लगी, उसी दिन से भारत का पतन शुरू हो गया। हम महाकवि भारवि वर्णित दुर्योधन की उसी नीति को यहाँ देखेंगे।

महाराज युधिष्ठिर एक विजिगीषु राजा थे। वे शत्रु के चक्कर में पड़ १३ वर्ष के लिए वनवासी हो गये। इसपर भी वे पुनः राज्य पाने के लिए सर्वदा उद्योग करते रहे। कभी भी आलसी होकर बैठे नहीं रहे। महाराज दुर्योधन ने छल से युधिष्ठिर का राज्य ले लिया था और पाण्डवों को १३ वर्ष के लिए राजधानी से निर्वासित कर वनों में रहने के लिए वाध्य किया था। वन में रहते हुए युधिष्ठिर ने अपने अपहृत राज्य में दुर्योधन की नीति जानने का प्रयत्न किया। दुर्योधन किस तरह अपने तथा दूसरे राज्य में अपना प्रभाव फैला रहा है, किन किन उपायों से वह अपने मण्डल के तथा परमण्डल के राजाओं को अपने पक्ष में मिलाने के लिए उद्योग कर रहा है, इन सब बातों को अच्छी तरह जानने के लिए युधिष्ठिर ने एक गुप्तचर नियुक्त किया था। भारतीयनीति में

गुप्तचर की व्यवस्था का एक विशेष स्थान है। मनुसंहिता, रामायण, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि की आलोचना करने पर इसकी अधिकतम व्यवस्था की बातें जानी जा सकती हैं और इसकी विशेष आवश्यकता भी समझी जा सकती है। ये गुप्तचर लोग अनेक तरह के रूप बना लेने में दक्ष तथा अनेक भाषाओं से पूर्ण परिचित एवं सब तरह के व्यवहारों में कुशल और राजनीति के मूल सिद्धान्तों में अटल श्रद्धा रखने वाले होते हैं। यह गुप्तचरवर्ग विजिगीषु राजा का एकान्त हितैषी होता है। महाराज युधिष्ठिर के द्वारा नियुक्त यह गुप्तचर दुर्योधन के राष्ट्र में सर्वत्र घूम कर दुर्योधन क्या क्या काम करता है, दुर्योधन अपने मण्डल तथा परमण्डल से कैसा व्यवहार करता है, इन सब बातों को जान सका। दुर्योधन के राज्य में घूम कर वहाँ की सत्य बातें जो उसे ज्ञात हुई थीं, वे ही सब बातें बतलाने के लिए वह सरस्वती नदी के किनारे बैठे हुए युधिष्ठिर के पास आया। युधिष्ठिर उस समय द्वैतवन में रहते थे। जिन्होंने भारवि का काव्य पढ़ाया है, वे द्वैतवन नाम से परिचित ही होंगे, किन्तु द्वैतवन अरण्य है या सरोवर, यह प्रायः कोई नहीं जानता। महाभारत के वनपर्व में द्वैत वन को एक सरोवर बताया है। वास्तविक द्वैतवन कोई कृत्रिम सरोवर न था यह सरस्वती नदी का ही एक हिस्सा था। शल्यपर्व के ३७वें अध्याय में बलदेव जी की सारस्वत तीर्थयात्रा के प्रसंग में द्वैतवन के नाम का उल्लेख है, यह एक सरस्वती नदी का तीर्थ-विशेष था। इस स्थान में अनेक ऋषि रहते थे एवं बलदेव जी तीर्थयात्रा के प्रसंग में इसी द्वैतवन में रहकर इस सारस्वत तीर्थ में स्नानादि कार्य सम्पन्न करते थे। इसी द्वैतवन में महाराज युधिष्ठिर राज्य छिन जाने पर आकर रहे थे। इसी जगह युधिष्ठिर का गुप्तचर दुर्योधन के राज्य का पूरा समाचार जान कर युधिष्ठिर के पास आया था।

एक विजिगीषु राजा के द्वारा किसी कार्य में नियुक्त गुप्तचर का क्या कर्त्तव्य होता है, विजिगीषु राजा के साथ चार का कैसा सम्बन्ध होता है और चार में कैसी विद्या बुद्धि होनी आवश्यक है—इन सब बातों को कवि ने इस काव्य के प्रारम्भ में ही स्पष्ट रूप से बतला दिया है। आज हम सोचते हैं कि इन सब राजनीति की जटिल समस्याओं का वर्णन काव्य में न होना ही अच्छा है। कवि को राजनीति की बातें जानने की कोई आवश्यकता नहीं और न काव्य में राजनीति का कोई स्थान ही है। स्वाधीन भारत के कवि को बहुत कुछ जानना आवश्यक था, सहज में ही स्वाधीन भारत का कवि होना सम्भव न था। महाकवि भामह ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है कि ऐसा कोई शास्त्र नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई कारीगरी नहीं, जो काव्य का अंग न हो सके। इसलिए कवि को अपने ऊपर एक गुरुतर भार है, यह समझना होगा! "जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः" (भामह)। रामायण, महाभारत को छोड़कर भी रघुवंश, किराता-

र्जुनीय, माघ प्रभृति लौकिक महाकाव्य राजनीति की आलोचनाओं से सर्वथा परिपूर्ण हैं। इसी से किरातार्जुनीय काव्य में दुर्योधन के राष्ट्र का सारा समाचार गुप्त-रूप से जानकर युधिष्ठिर का चार गुप्त रूप से ही युधिष्ठिर के पास वापिस आ गया। उसने एकान्त स्थान में बैठे हुए महाराज युधिष्ठिर की अनुमति पाकर संग्रह किये हुए दुर्योधन के राष्ट्र के सब समाचार उनसे कह दिये। चार ने जो सारे समाचार निश्चित रूप से जाने थे वे सब समाचार युधिष्ठिर को बताने के पहले वह युधिष्ठिर से क्षमा प्रार्थना करता है कि हे महाराज! हित और कानों को प्रिय लगनेवाले वाक्य तो दुर्लभ होते हैं इसलिए आपके हित का ख्याल करके ऊपर से सुनने में अप्रिय लगने वाली भी यथार्थ घटनाएँ आप से निवेदित करूँगा। राजकार्य में नियुक्त पुरुष यदि राजा के हित-चिन्तक नहीं हों और हित-चिन्तक राजपुरुष के द्वारा संगृहीत समाचारों को राजा यदि ध्यान से न सुने तो राजा और राजपुरुष दोनों को ही मूर्ख समझना होगा।

चारगण राजाओं के चक्षु होते हैं। इसीलिए राजाओं को चारचक्षु कहा गया है। राष्ट्र में घूमने से राष्ट्र का समाचार नहीं जाना जा सकता है। राजनीति अति दुर्विज्ञेय है। इसलिए नीति के मर्म को समझने वाला व्यक्ति ही राष्ट्र में घूम कर राष्ट्र की नीति के रहस्य को जान सकता है। मैंने जो दुर्योधन के राष्ट्र में घूम कर दुर्योधन की नीति के गूढ़ रहस्य जान पाये हैं, वे सब आपके सामने यथार्थ रूप में कहूँगा। महाराज दुर्योधन छल से आपके राज्य को अपना कर निश्चिन्त नहीं बैठा है। दुर्योधन आज सम्राट् बन बैठा है और आप लोग वनवासी हो गये हैं, यह सत्य है। किन्तु फिर भी दुर्योधन आपलोगों के प्रभाव से डर कर इसका प्रतिकार करने की सदा चेष्टा करता रहता है। अति प्रबल शत्रु आज दुर्बल हो गया है। यह समझ कर दुर्योधन शत्रु की कुछ परवाह न करके निश्चिन्त नहीं बैठा है। दुर्योधन यह साफ समझ रहा है कि छल से राज्य जीत लेना वास्तविक राज्य जीत लेना नहीं होता। जब तक नीतिपूर्वक राज्य न जीत लिया जाय तब तक राज्य पर वास्तविक विजय नहीं होती। इसलिये दुर्योधन नीति से राज्य को जीतने का प्रयत्न कर रहा है। अपने तथा दूसरे राष्ट्रमण्डल के राजाओं के हृदय से अपनी इस त्रुटि को दूर करने के लिए राजनीति के उपायों का उपयोग कर रहा है। आप लोगों के जिन विशेष गुणों के कारण राजा आपके प्रति विशेष अनुराग रखते थे, उन्हींसब विशेष गुणों को ध्यान में रखते हुए आपलोगों के उन गुणों से भी अधिकतर गुण सम्पादन करने का प्रयत्न कर रहा है और इससे दुर्योधन की यशोराशि सारे राज्य में फैल चुकी है। दुर्योधन आप लोगों की अपेक्षा अधिक गुणशाली है यही बात संसार में प्रसिद्ध करने के लिए राजनीति शास्त्रों में बतलाये हुए सब उपायों को काम में ले रहा है। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष इन छहों शत्रुओं को दुर्योधन ने जीत लिया है।

प्राचेतस मनु की बतलाई हुई राजनीति के अनुसार दिन और रात्रि में करने योग्य कार्यों का विभाग करके अपना पुरुषार्थ बढ़ा रहा है।

वह मान छोड़कर राज कर्मचारियों के साथ अत्यन्त मित्र की तरह व्यवहार करता है। अपने बान्धवों के साथ भाइयों के जैसा व्यवहार करता है। वह धन, विद्या आदि के अभिमान को छोड़कर भाइयों के साथ अपने जैसा व्यवहार करता है। इसलिये दुर्योधन का राजा होना किसी को भी कष्ट देने वाला या भय देने वाला नहीं है बल्कि मालूम होता है कि दुर्योधन का आधिपत्य मानो उसके भाइयों पर ही न्यस्त है। दुर्योधन धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग का अनासक्त भाव से सेवन करता है। इसलिए यह त्रिवर्ग उसकी पक्षपातरहित दृष्टि से सेवित होने के कारण आपस में मित्रता प्राप्त कर चुका है। अर्थात् अधिक काम सेवन से अर्थ और धर्म पीड़ित नहीं होते। इसी तरह अधिक अर्थ सेवन से भी काम और धर्म पीड़ित नहीं होते और ऐसे ही धर्म और अर्थ सेवन से काम वाधित नहीं होता। दुर्योधन इस तरह त्रिवर्ग का सेवन करता है। उसका साम दान-वर्जित नहीं अर्थात् वह मात्र मीठी बातों से ही लोगों को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करता बल्कि उचित मात्रा में धनादि भी देता है। उसका दान भी साम से खाली नहीं अर्थात् बहुत कुछ देकर भी मधुर वाक्यों का ही प्रयोग करता है। वह जिसका जो सत्कार करता है वह उनके गुणों के अनुसार ही करता है। निर्गुण पुरुष का अकारण सत्कार नहीं करता। दुर्योधन काम, क्रोध आदि छहों अन्तःशत्रुओं को जीत कर धर्म, लोभ और क्रोध से रहित हो, यह मेरा अवश्य कर्त्तव्य है—यही सोचकर शत्रु और मित्र को उनके अपराध प्रमाणित होने पर अपराध के अनुसार ही दण्ड देने की व्यवस्था करता है।

महाराज दुर्योधन अपने राष्ट्र की तथा परराष्ट्रों की रक्षा के लिए विशिष्ट व्यक्तियों को ही नियुक्त करता है। मन में उनकी तरफ से पूरा विश्वास न रखता हुआ भी पूर्ण विश्वस्त की तरह उनसे व्यवहार करता है। भारतीय नीतिशास्त्र का यही मूल सूत्र है। शान्तिपर्व के ५८वें अध्याय में वृहस्पति-प्रोक्त नीति में यही कहा है कि राजा दूसरों का विश्वास न करता हुआ भी विश्वस्त की तरह व्यवहार करे। आगे शान्ति पर्व के ८०वें अध्याय में भी कहा गया है कि राजा यदि नौकरों पर ही पूरा विश्वास रखकर कार्य करेगा तो वह राजा नष्ट हो जायेगा। सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्यु से अधिक भयानक होता है। अनुजीवियों का एकान्त विश्वास कर लेना ही राजा की विपत्ति का कारण होता है। इसलिए राजा जितना उन पर विश्वास करे उतना ही उनसे सशंकित भी रहे। विशेष कार्यों में नियुक्त किये अधिकारियों द्वारा उस कार्य के सम्पन्न हो जाने पर दुर्योधन उनको जो पारितोषिक देता है, उससे ही दुर्योधन अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। मात्र मौखिक प्रशंसा करके ही वह नहीं

रह जाता। अनुजीवियों के किये कामों की विशेषता यदि राजा न जान सके या जानकर उसके काम के अनुसार अनुजीवियों को पुरस्कार न दे तो अनुजीवी-वर्ग राजा के प्रतिकूल हो सकता है। अनुजीवियों के कार्य की सम्यक् उपलब्धि एवं तदनुसार उनके पद आदि की वृद्धि कर देने वाले राजा को कृतज्ञ कहा जाता है। कृतज्ञ राजा के प्रति ही अनुजीविवर्ग अनुराग प्रकट करता है। अनुराग रखने वाला अनुजीविगण ही राजा का रक्षक होता है। दुर्योधन अच्छी तरह सोच-विचार कर साम-दान आदि उपायों में से जहाँ जिसका उपयोग करना उचित है वहीं उसका उपयोग करता है। इसीलिए उसके द्वारा प्रयुक्त हुए साम आदि उपाय अर्थसिद्धि की वृद्धि का कारण बन जाते हैं। इसी से अपने मण्डल में तथा परमण्डल में काम में लिये गये सामादि उपायों से प्रभावित हुए राजा दुर्योधन में अत्यन्त अनुरक्त होकर अनेक तरह के धनों से उसका कोष परिपूर्ण करते हैं। अपने मण्डल के तथा दूसरे मण्डलों के राजा दुर्योधन का प्रेम पा सकने के लिए हाथी घोड़े आदि अनेक तरह की भेंट लेकर दुर्योधन की राजधानी हस्तिनापुर में इकट्ठे होते हैं। दुर्योधन के राज्य में किसानों की अवस्था बड़ी अच्छी है। उसका राष्ट्र देवमातृक (वर्षा से ही खेती पैदा होने वाला) नहीं है।

देवमातृक देश में बिना वर्षा हुए या बेमौके वर्षा होने पर खेती पैदा न होने से अकाल पड़ जाता है। इसलिए दुर्योधन ने अपने राष्ट्र को अनेक तरह के कृत्रिम उपायों से खेती पैदा होने वाली जमीनों में जल देने की व्यवस्था करके अदेवमातृक कर दिया है। इसी से उसके राष्ट्र में अधिक मात्रा में अन्न पैदा होता है। इससे किसान अनायास ही शस्य सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं। मानो कृषि कार्य की सुव्यवस्था से ही जैसे किसान लोगों के बिना जोते ही सारा भूभाग शस्य समृद्धि से पूर्ण हो गया है। निरन्तर लोकहित के कामों के करने से कुरुराज्य अत्यन्त समृद्ध बन गया है। उदारकीर्ति एवं दयालु दुर्योधन की सब तरह रक्षा की सुव्यवस्था से उसकी सारी आपत्तियाँ दूर हो गई हैं। पृथ्वी जैसे स्वतः ही उसके गुणों से आकृष्ट होकर बहुत धन प्रदान कर रही है।

दुर्योधन का सैन्य विभाग भी अति समुज्ज्वल है। उसकी सेना में बलिष्ठ, अच्छे कुलों में पैदा हुए, अपने कुल के योग्य कार्यों का अभिमान रखने वाले, युद्धों में कीर्ति पाने वाले और आपस में स्नेह रखने वाले वीरगण उचित समय पर दुर्योधन से पुरस्कृत होकर अपने प्राण देकर भी दुर्योधन का कल्याण सम्पादन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं।

दुर्योधन केवल अपने ही राष्ट्र की रक्षा में तत्पर हो––यही नहीं है। वह दूसरे राष्ट्रों के भी सारे समाचार बड़ी सावधानी से जानता रहता है। अत्यन्त

दक्ष और अपने में पूर्ण अनुराग रखने वाले गुप्तचरों को सब राजमण्डलों में नियुक्त करके उनके द्वारा शत्रु, मित्र, उदासीन सभी राष्ट्रमण्डलों के समाचार पूर्णरूप से जानता रहता है। कौन राजा किस काम के करने का उद्योग कर रहा है यह बात वह उन गुप्तचरों की सहायता से जान लेता है। दूसरे राष्ट्रों के इच्छित कार्यों को जान कर भी अपने इष्ट कार्यों को दूसरे लोग न जान सकें, इसकी पूरी व्यवस्था कर देता है। उसके लिए शुभ कामों के द्वारा ही दूसरे लोग उसकी इच्छा को बाद में जान पाते हैं।

राजा दुर्योधन दूसरे देशवासी राजाओं के साथ विरोध या युद्ध करने में लिप्त नहीं होता है। दूसरे राजाओं के साथ उसका व्यवहार अत्यन्त सौहार्द्र पूर्ण है। दुर्योधन के अशेष सद्गुणों से आकृष्ट होकर ही दूसरे राजा दुर्योधन के शासन को नतमस्तक होकर स्वीकार करते हैं। राजा दुर्योधन ने अपने छोटे भाई दुःशासन को युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया है और स्वयं अनेक प्रकार के यज्ञ करके राष्ट्र का मंगल सम्पादन कर रहा है।

आज ससागरा पृथ्वी में दुर्योधन का कोई शत्रु नहीं है। बेरोक-टोक उसका शासन सर्वत्र माना जा रहा है। इतना सब होते हुए भी दुर्योधन आपलोगों से आनेवाली विपत्ति को सोचकर हर समय शंकित चित्त से चंचल रहता है। कथा प्रसंग में भी कोई अर्जुन के विक्रम की बात कहता है अथवा युधिष्ठिर का नाम ले लेता है तो दुर्योधन विशेष रूप से व्यथित हो जाता है। पाण्डवों को राज्य से निर्वासित करके महाराज दुर्योधन जैसी नीति अपनाकर सारे राजाओं को अपने सहायक रूप में पाने का और उनका असाधारण अनुराग पाने का प्रयत्न कर रहा है—ये सभी बातें हमारे कवि भारवि की उक्तियों में संक्षेप से दिखाई गई हैं। जब छोटे से छोटा काम भी निःसहाय व्यक्ति सम्पन्न नहीं कर सकता तब राज्य परिपालन सरीखा बड़ा भारी काम एक निःसहाय राजा पूरा कर सकेगा—यह कैसे कहा जा सकता है। इसलिये राजा को सहाय संग्रह के लिए सदा उद्योग करते रहना चाहिए। राजा के सहायक मित्र चार तरह के होते हैं। १—सहार्थ, २—भजमान, ३—सहज, ४—कृत्रिम। जिस विषय में जिन दो व्यक्तियों की सम्पत्ति और विपित्त समान हो, उस विषय में वे दोनों व्यक्ति आपस में सहार्थ-मित्र होते हैं। जब कोई व्यक्ति दूसरे राजा से डर कर आश्रय पाने के लिए किसी राजा की सेवा करता है तो वह उस राजा का भजमान मित्र होता है। ममेरा भाई, फुफेरा भाई, मौसेरा भाई आदि सहजमित्र होते हैं। धन वगैरह देकर जिसको सहायक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है उसको कृत्रिममित्र कहते हैं।

महाराज दुर्योधन इन चार प्रकार के मित्रों को जुटाने के लिए भारतीय दण्ड-नीति में बतलाये सब तरह के उपायों से काम ले रहा है। दुर्योधन यह साफ

समझ गया है कि पाण्डव उसके प्रबल शत्रु हैं। वे राज्य से निकाले जाने पर भी किसी समय प्रबल हो उठेंगे। उस समय पाण्डवों के साथ मेरा युद्ध करना अनिवार्य होगा। प्रबल पराक्रमी पाण्डवों के साथ युद्ध में विजय पाना एक असहाय राजा के लिए असम्भव है। इसलिए वह सारे राष्ट्रों को अपने में अनुराग युक्त करने के लिए सब तरह की नीति का प्रयोग कर रहा है।

महाभारत के वनपर्व में दुर्योधन की नीति का वर्णन मिलता है। महाकवि भारवि ने महाभारत में वर्णित नीति का ही संकलन और विश्लेषण किया है। वनपर्व के ३६वें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर ने दुर्योधन की इस नीति को दिखाया है। युधिष्ठिर ने कहा है कि जिन जिन राजाओं को पहले हमने पराजित करके कर देने वाला बना लिया था, आज वे सब राजा दुर्योधन का पक्ष ले चुके हैं और महाराज दुर्योधन की नीतिज्ञता से प्रभावित हुए वे सब राजा दुर्योधन में अत्यधिक अनुराग रखने लगे हैं। ये सब राजा दुर्योधन की भलाई के लिए सदा ही तैयार रहेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है। ये हमारा भला कभी नहीं चाह सकते। हमसे सताया गया राजवृन्द जिसने आज दुर्योधन का आश्रय ले लिया है, वह सभी प्रचुर धन-सम्पन्न है और उसका बुद्धि-बल और सैन्य बल भी पर्याप्त है। दुर्योधन के साथ हमारी लड़ाई छिड़ जाने पर ये सभी राजा हमारी पराजय के लिए दुर्योधन के पक्ष में विशेष रूप से योग देंगे। दुर्योधन कौरव सेना को अनेक तरह से धनमान आदि के द्वारा विशेष रूप से परितुष्ट कर चुका है।

दुर्योधन की सेना में सेनापति आदि बड़े बड़े पदों पर प्रतिष्ठित राजकुमारों को एवं अमात्य और सैनिकगणों को दुर्योधन धनमान आदि से प्रसन्न करके उनको अपने में अनुरक्त करने पर तुला हुआ है। दुर्योधन से सम्मानित हुए ये सब वीर युद्ध छिड़ने पर दुर्योधन के लिए अपने प्राण तक भी दे सकेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि महारथियों का सम्बन्ध हमारे और दुर्योधन के साथ यद्यपि समान है फिर भी ये सब महारथी दुर्योधन से प्रचुर धन और सम्मान पाते रहे हैं। इसीलिये इस धन और सम्मान के बदले में दुर्योधन के पक्ष में ही सहयोग देंगे। यहाँ तक कि आवश्यकता होने पर उसके लिये प्राण भी दे सकेंगे। इसी तरह महाराज वाल्हीक, सोमदत्त, भूरिश्रवा आदि कुरुवंशीय महारथीगणों का हमारे और दुर्योधन के साथ समान सम्बन्ध होने पर भी भीष्म, द्रोण आदि की तरह दुर्योधन के पक्ष में ही सहयोग देंगे।

और भी एक विशेष बात है कि दुर्योधन का परम मित्र और हमारा भीषण शत्रु महाराज कर्ण सब शस्त्रों को जानने वाला और अविजेय है। दुर्योधन के पक्ष में सहयोग देने वाले इन सब महारथियों को युद्ध में पराजित बिना किये हमारी विजय नहीं हो सकती। आज हम सर्वथा असहाय हैं। कर्ण की वीरता

आज पृथ्वी के सब वीरों से बढ़ी चढ़ी है। कर्ण की वीरता का ध्यान करके मुझे रात्रि में नींद नहीं आती। महाराज युधिष्ठिर भीम से ये सब बातें कह कर बनपर्व के ३७ वें अध्याय में अर्जुन से कहते हैं कि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वस्थामा और कर्ण ये पाँचों व्यक्ति असाधारण वीर हैं। इन्होंने चतुष्पाद धनुर्वेद पूर्णरूप से जाना है और ये सब तरह के शस्त्रों के प्रयोगों में कुशल हैं। दुर्योधन इनकी शरण में है। दुर्योधन इनका बहुत सम्मान तो करता ही है, इसके अतिरिक्त इनको गुरुवत् श्रद्धा भी दिखाता है। दुर्योधन से सम्मानित होंने के कारण ये दुर्योधन की असाधारण हितकामना भी करते हैं। दुर्योधन अपने सैनिकों पर परम प्रेम भी प्रकट करता है। भीष्म और द्रोण आदि आचार्यगण दुर्योधन के किये सम्मान से उसके ऊपर बहुत खुश हैं। दुर्योधन पर कोई विपत्ति आने पर ये लोग उसके निवारण का उपाय अवश्य करेंगे। दुर्योधन के साथ हमारा युद्ध छिड़ जाने पर ये लोग दुर्योधन का पक्ष लेकर अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करने में कुंठित न होंगे। आज सारी पृथ्वी दुर्योधन के वश में है। ग्राम, नगर, वन, खान आदि जो कुछ धन पैदा होने के स्थान हैं, वे सभी दुर्योधन के हाथ में है। इसलिये ऐसे प्रबल शत्रु दुर्योधन के साथ संघर्ष करने के लिये हमको भी उपयुक्त सामर्थ्य संग्रह करनी आवश्यक है।

उद्योगपर्व के ५५वें अध्याय में दुर्योधन धृतराष्ट्र के सामने अपनी सफलता बताता है। दुर्योधन कहता है कि पहले सारी पृथ्वी युधिष्ठिर के वश में थी। किन्तु आज यह बात नहीं है। आज सारी पृथ्वी मेरे वश में है। आज युधिष्ठिर हमारे साथ विरोध करने में किसी तरह समर्थ नहीं होंगे और यह कि केवल सारी पृथ्वी ही हमारे वश में है यही नहीं, बल्कि पृथ्वी के सारे राजा मेरी उन्नति में अपनी उन्नति और मेरी अवनति में अपनी अवनति मानते हैं। जो मुझे इष्ट है, वही आज सारे पृथ्वी के राजाओं को इष्ट है। इन सब राजाओं का मुझ में इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि मेरी कार्य सिद्धि के लिये ये सब राजा अग्नि में प्रवेश करने को तथा समुद्र में कूदने को भी तैयार हैं। युधिष्ठिर आदि पाण्डवगण आज राज्य भ्रष्ट, सहाय हीन, छिन्न पक्ष और निर्वीर्य हैं। इसलिये पाण्डवों की तरफ से हमको किसी तरह के भय की संभावना नहीं (२४–२६ श्लोक)।

महाभारत के इस अंश को विशेष ध्यान से पढ़ने पर समझा जा सकेगा कि दुर्योधन की नीति के विश्लेषण प्रसंग में भारवि ने जो बातें कही हैं उनमें विशेष नवीनता कुछ नहीं है। बल्कि महाभारत की बातों में अधिक गांभीर्य है और विशेष दूरदर्शिता भी दीख पड़ती है।

भारवि के काव्य के प्रथम सर्ग में जो दुर्योधन की नीति दिखाई गई है उसका हमने यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर दिया। गुप्तचर ने युधिष्ठिर से जो सारी बातें कही

हैं, वे ही सब बातें युधिष्ठिर ने भीम आदि के साथ बैठी हुई द्रौपदी से कही हैं। गुप्तचर का सारा समाचार जान कर महारानी द्रौपदी ने युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए बहुत सी बातें कही हैं। द्रौपदी की उन सब बातों में से हम यहाँ एक दो बातों का ही उल्लेख करेंगे। द्रौपदी कहती हैं—हे महाराज युधिष्ठिर! कपटी एवं मायावी शत्रु के साथ जो लोग सरल निष्कपट व्यवहार करते हैं उनकी पराजय सुनिश्चित है। जो व्यक्ति अत्यन्त कूटनीतिज्ञ शत्रु के साथ कूटनीति का प्रयोग नहीं करता, ऐसे मूढ़ बुद्धि पुरुष की पराजय अवश्यंभावी है। इसलिए कपटाचारी शत्रु के साथ कपट का व्यवहार अवश्य करना चाहिये। जो योद्धा कवच से शरीर को बिना ढके युद्ध करता है, तीक्ष्ण वाण उसके शरीर को अनायास ही विदीर्ण कर देते हैं। इसी तरह कूटनीति सम्पन्न शत्रु भी सीधे स्वभाव वाले पुरुष को अनायास ही नष्ट कर देता है। इसलिये महाराज युधिष्ठिर को भी कूटनीति सम्पन्न दुर्योधन के साथ कूटनीति का व्यवहार करके उसको नष्ट कर देना चाहिये। क्रोधशून्य व्यक्ति का मित्र भी उसका आदर नहीं करता। जिसका क्रोध निष्फल नहीं जाता और जो विपत्ति को नष्ट करने में समर्थ होता है सारी दुनिया उसी की अधीनता स्वीकार करती है।

महाराज युधिष्ठिर ने जो नीति अपना रखी है वह शांत हृदय मुनि जनों के लिये ही उचित एवं सिद्धि कारक हो सकती है। किन्तु राजाओं को यह नीति कभी भी लाभ नहीं दे सकती। युधिष्ठिर मन में सोच सकते हैं कि हम लोगों ने १२ वर्ष वन में रहने की तथा एक वर्ष अज्ञात रूप से रहने की प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा का उल्लंघन कैसे करेंगे? किन्तु युधिष्ठिर का यह प्रतिज्ञा भंग का भय अत्यंत तुच्छ है।

विजिगीषु राजा शत्रु के साथ संधि करके भी अपने प्रयोजन वश छल से कोई बहाना बना कर पहले की हुई संधि को तोड़ सकता है। कोई न कोई बहाना बना कर पहले की हुई संधि को तोड़ देना विजिगीषु का अवश्य कर्तव्य है। इसलिये तेरह वर्ष तक वनवासी रहने का कोई प्रयोजन नहीं है।

द्रौपदी के यह कह देने के बाद भीमसेन ने युधिष्ठिर से ऐसी ही कई एक बातें और कही हैं, जो किरातार्जुनीय के दूसरे सर्ग में बतलाई गई हैं। भीम ने कहा है कि हमारा शत्रु दुर्योधन जिस नीति का अवलम्बन कर सारी पृथ्वी को अपने आधीन कर चुका है, उस नीति से दुर्योधन की यह उन्नति यदि परिणाम में विनाशशील होती तो हमको इसकी उपेक्षा कर देनी उचित थी, किंतु दुर्योधन के विषय में ऐसा होना संभव नहीं दीखता। विजिगीषु राजा शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा कर दे यदि शत्रु का वह अभ्युदय अंत में शत्रु के विनाश का कारण बन सके। शत्रु का वह क्षय भी उपेक्षणीय नहीं हो सकता जिससे आगे चलकर शत्रु की वृद्धि संभावित हो।

शत्रु का क्षय यदि आगे चलकर वृद्धि का कारण बन सके तो वह क्षय कभी भी उपेक्षा कर देने योग्य नहीं होता है; यदि अभ्युदय का परिणाम क्षय हो तो वैसा अभ्युदय विजिगीषु के लिये अवश्य उपेक्षणीय है। किंतु दुर्योधन का यह अभ्युदय अंत में नाश का कारण नहीं बन सकता। विजिगीषु राजा जैसे शत्रु की शीघ्र विनाशकारी वृद्धि की उपेक्षा कर दे, वैसे ही अपनी भी इस तरह की वृद्धि का प्रतिकार करे। शत्रु का जो अभ्युदय शीघ्र ही उसको नष्ट कर देने वाला नहीं है, विजिगीषु शत्रु के ऐसे अभ्युदय की कभी भी उपेक्षा न करे। जो विजिगीषु निरुत्साही होने के कारण क्रमशः बढ़ती हुई शत्रु की सम्पत्ति की उपेक्षा कर देता है वह विजिगीषु राजा बहुत जल्दी राज्यश्री से भ्रष्ट हो जाता है।

क्रम से बढ़ता हुआ शत्रु ही उसको ग्रस लेता है। विजिगीषु राजा क्षीण शक्ति होने पर भी यदि स्वाभाविक उत्साहशक्ति से युक्त और तेज समन्वित है तो शीघ्र ही पूर्णता पा लेगा। कार्यों के प्रारंभ करने के उपाय, पुरुष-द्रव्य सम्पत्ति, देश काल विभाग, आपत्तियों का निवारण और कार्य सिद्धि, मंत्रणा के पाँच अंग होते हैं। उक्त पंचांग से युक्त सलाह ही प्रभुशक्ति की उत्पत्ति का स्थान है। कोष और दण्ड ही प्रभुशक्ति का स्वरूप है। मंत्रशक्ति से ही प्रभुशक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर भी उत्साहशक्ति हीन पुरुष के लिये यह कुछ नहीं करती। उत्साह हीन विजिगीषु राजा के मंत्रशक्ति सम्पन्न होने पर भी उससे उसकी कोई वृद्धि नहीं हो सकती। उसका कोई काम सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये विजिगीषु राजा का पहले उत्साहशक्ति सम्पन्न होना आवश्यक है। इसी से उसकी मंत्रशक्ति अपना उचित फल दे सकेगी। उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति और मंत्रशक्ति इन तीनों शक्तियों में उत्साहशक्ति ही प्रधान है। इस उत्साहशक्ति को ही लोक में पुरुषार्थ कहते हैं। भीम ने युधिष्ठिर को इन तीनों शक्तियों की बात बताई है और इनमें उत्साहशक्ति को ही प्रधानता दी है। इन तीनों शक्तियों में कौन शक्ति कैसे प्रधान होती है, इसकी विस्तृत आलोचना कौटिल्य अर्थशास्त्र में छठे अधिकरण के ९७वें प्रकरण में तथा सप्तम अधिकरण के ११८ वें प्रकरण में है। भीम फिर कहते हैं कि उत्साह शक्ति की कमी ही वृद्धि का सबसे बड़ा विघ्न है। पराक्रम से पाई हुई समृद्धि विषाद के साथ वास नहीं करती, अर्थात् निरुत्साही पुरुष की वृद्धि नहीं होती। दूसरी बात यह है कि यदि दुर्योधन को तेरह वर्ष तक राज्य भोग लेने दिया जायगा तो इसके बाद वह कभी भी राज्य वापिस न करेगा। इतने समय में उसके पूर्ण शक्ति-सम्पन्न हो जाने से जबर्दस्ती उससे राज्य वापिस ले लेना भी संभव न होगा। इसलिये समय की प्रतीक्षा न करके जल्दी से जल्दी आक्रमण करके दुर्योधन से राज्य ले लेना चाहिये।

यह बात भी है कि दुर्योधन यदि तेरह वर्ष तक राज्य भोग कर बाद में

हमको आधा राज्य दे भी दे तो क्या हम दुर्योधन के दिये हुए राज्य से सुखी हो सकेंगे ? दूसरों के अनुग्रह से राज्य पा लेने पर क्या हमें अपने पराक्रम दिखाने का अवकाश मिलेगा ? फिर हमारी इन भुजाओं के बल का क्या गौरव ? असल में तो मनस्वी व्यक्ति दूसरों से समृद्धि पाने की इच्छा ही नहीं करता। दूसरे की दी हुई समृद्धि भोग कर वह संतुष्ट नहीं हो सकता। अपनी विक्रमोपार्जित सम्पत्ति का ही भोग महान् पुरुष किया करते हैं।

पशुराज सिंह अपने पराक्रम से ही हाथी को मार कर अपना जीवन निर्वाह करता है। दूसरे के मारे हुए पशु का मांस वह नहीं स्वीकार करता। जो विजिगीषु राजा महान् आत्मा वाले होते हैं वे क्षण भंगुर जीवन के बदले में चिरस्थायी यश ही चाह करते हैं। जो उदार व्यक्ति क्षण विनाशी जीवन के बदले में शत्रु को दबा कर स्थायी कीर्ति चाहता है, लक्ष्मी उसके पास स्वयं अवश्य ही आ जाती है। मनस्वी पुरुष शत्रु से पराजित होकर जीने की अपेक्षा मरने को कहीं अच्छा समझता है। वह प्राण त्याग करना पसन्द करता है, अपना तेज और पराक्रम नष्ट होना कभी पसन्द नहीं करता। तेजस्वी व्यक्ति कभी दूसरों से नहीं दबाया जाता, जैसे जल्ती हुई अग्नि किसी से पैरों से नहीं दबाई जाती। निस्तेज पुरुष सब से ही दबाया जाता है, जैसे राख का ढेर सब के पैरों से रौंदा जाता है। तेजस्वी पुरुष स्वभाव से ही विजिगीषु होता है। तेजस्वी सिंह बिना किसी प्रयोजन के ही बादलों की गरज को दबाने की चेष्टा करता है।

महान् पुरुष भी स्वभाव से ही अपने शत्रु की वृद्धि को सहन नहीं कर सकता। इसलिए हे महाराज युधिष्ठिर! तुम उत्साह-शक्ति-सम्पन्न होकर शत्रु के उच्छेद का सफल प्रयत्न करो। तुम्हारा अनुत्साह ही आज तक शत्रु को निरापद रख सका है।

इसके बाद महाराज युधिष्ठिर भीम की पूर्वोक्त युक्तियुक्त मंत्रणा की खूब प्रशंसा करके कहने लगे कि भीमसेन! तुमने राज्य पाने के लिए इसी समय पराक्रम दिखाने की जो बात कही है वह हमको संगत नहीं मालूम हुई। इसी समय पराक्रम दिखाने से कार्य सिद्ध न हो सकेगा। अच्छी तरह बिना सोचे समझे सहसा कोई कार्य कर बैठना उचित नहीं। क्योंकि अविवेक ही सारी विपत्तियों का मूल होता है। विचारशील पुरुष को ही सम्पत्ति और ऐश्वर्य प्राप्त होता है। पहले कर्त्तव्य का निश्चय करके उस कर्त्तव्य की रक्षा करते हुए काम में प्रवृत्त होने से उसका उचित फल मिलता है। जैसे कृषकगण उपयुक्त समय में बीज बोकर पानी बरसने पर खेती का उचित फल पाता है। नीतिसे काममें लिया हुआ शौर्य सम्पत्ति का भूषण है। उपयुक्त समय में दिखाई हुई वीरता शक्ति के गौरव को भूषित करने वाला अलंकार है।

युधिष्ठिर फिर कहते हैं कि किसी अनिश्चित कठिन कार्य में उस कार्य को

करनेवालों में मतभेद होना स्वाभाविक है। कोई व्यक्ति उसको कर्त्तव्य मानता है तो दूसरा अकर्त्तव्य कहता है। कार्यकर्त्ताओं में इस तरह मतभेद होने पर कर्त्तव्य का निश्चय होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ऐसे स्थलों में कर्त्तव्य निश्चय करने का एकमात्र उपाय है नीतिशास्त्र। दीपक जैसे अन्धकार से ढँकी हुई वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है, इसी तरह शास्त्र भी कार्यकर्त्ताओं के मतभेद से ढँके हुए कर्त्तव्य को प्रकाशित कर देता है। शास्त्रानुसार साध्य और असाध्य कार्य का निरूपण करके उसके अनुसार काम करने पर यदि प्रतिकूल दैव के कारण वह कार्य सिद्ध न भी हो सके तो उसमें खेद करने का अवसर नहीं होता। विजिगीषु राजा अपने क्रोध के वेग को रोककर कार्य आरम्भ के पूर्व यह जान लें कि इस कार्य में हानि कम और लाभ अधिक है तब अपने पुरुषार्थ का उपायों के साथ प्रयोग करें। विशेष लाभ की संभावना के बिना थोड़े से थोड़े क्षयकारक कार्य में भी प्रवृत्त न हो। विजिगीषु राजा पराक्रमशाली होने पर भी यदि अपने क्रोध के वेग को नहीं रोक सकता तो उसका क्षय अनिवार्य है। विजिगीषु राजा को प्रयोजनानुसार कभी तीक्ष्ण और कभी मृदु होना चाहिये। सर्वदा तीक्ष्ण या सर्वदा मृदु न रहे। सूर्य जैसे समय भेद से तीक्ष्ण और मृदु होता रहता है ऐसे ही विजिगीषु भी कार्यानुरूप समय समय पर तीक्ष्ण और मृदु स्वभाव वाला होता रहे। क्रोध आदि के वेग को न रोक सकने वाला व्यक्ति अति सम्पत्तिशाली होते हुए भी नष्ट हो जाता है। नीतिशास्त्र को पढ़कर भी जो पुरुष काम आदि अन्दरूनी छहों शत्रुओं को नहीं जीत पाता है उसका विनाश अवश्यंभावी है। जो व्यक्ति क्रोध के कारण कार्य-सिद्धि के अनुकूल समय को सहायक न मानकर सहसा कोई कार्य कर बैठता है, उसको प्राकृत पुरुष कहते हैं।

तुम जो समझते हो कि हमारे सहायक राजाओं ने दुर्योधन का पक्ष ले लिया है, यह सत्य नहीं है। हमारे स्वाभाविक सहायक यदुवंशीय राजा कभी भी हमारे विरुद्ध कोई काम न करेंगे। यदुवंशीय राजा तथा उनके मित्रवर्ग इस समय अपनी कार्य-सिद्धि के लिए अवश्य दुर्योधन का अनुवर्तन कर रहे हैं। किन्तु हमारे कार्य का समय होने पर वे सब हमारा ही पक्ष लेंगे। यदि हमलोग बनवास की प्रतिज्ञा करके निर्दिष्ट समय से पूर्व युद्ध करने को तैयार हो जायेंगे तो इन सब यदुवंशी वीरों की सहायता न पा सकेंगे।

किरातार्जुनीय में यहाँ तक जो युधिष्ठिर की नीति का स्वरूप बताया गया है, महाभारत में वह ऐसा ही है। किन्तु किरातार्जुनीय में इसके आगे जो युधिष्ठिर ने दुर्योधन की नीति के दोष दिखाये हैं वे सब कवि की मनः-कल्पित बातें हैं, यह महाभारत की चीज़ नहीं। किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर कहते हैं कि अभिमानी दुर्योधन प्रमादवश अपने अनुयायी राजाओं को अपमानित करेगा और इस अपमान को न सह सकने के कारण इसका अनुयायी नृपतिवर्ग दुर्योधन का पक्ष त्याग देगा।

सामान्यतया अपमान सभी को असह्य होता है। विशेषकर पराक्रमशाली नृपतिवृन्द तो दूसरे के किये अपमान को कभी भी नहीं सह सकता। युधिष्ठिर का यह कहना महाभारत की कथा के सर्वथा विपरीत है। दुर्योधन के पक्ष वाले राजा कभी भी दुर्योधन से अपमानित नहीं हुए और न उन्होंने कभी दुर्योधन के पक्ष का परित्याग ही किया। फिर युधिष्ठिर ने यह भी कहा है कि अहंकार के मद से मत्त राजा अपने कार्यानुरोध से साधारण विनय द्वारा अन्य राजाओं को अपने पक्ष में कर भी लें तो इस मित्र सम्पत्ति से उनका अहंकार ही बढ़ेगा। जिसका फल होगा कि उनका अनुयायी वर्ग उनको छोड़ देगा। दर्प और अभिमान से उद्धत राजा कभी अपनी मूढ़ता को नहीं छोड़ सकता और मोहाक्रान्त व्यक्ति कभी नीति पक्ष में नहीं चल सकता। नीति हीन व्यक्ति सबके विद्वेष का पात्र होता है। सबका विद्वेष-पात्र राजा शत्रु राजा से उन्मूलित हो जाता है।

विजिगीषु राजा का अमात्य आदि प्रकृतिवर्ग यदि उससे विरक्त हो जाय तो अमात्य आदि का यह विराग ही राजा के विनाश का कारण हो जाता है। जैसे वृक्ष की दो शाखाएँ आपस में रगड़ खा जाने से अग्नि पैदा कर देती है और उस अग्नि से वह वृक्ष नष्ट हो जाता है। नीति-शास्त्रज्ञ राजा दुर्नीति परायण शत्रुराजा की वृद्धि में भी उपेक्षा ही दिखाता है। क्यों कि दुर्नीति सम्पन्न शत्रु की वृद्धि ही उसको नष्ट कर देती है। दुर्नीति परायण राजा के राष्ट्र में स्वभाव से ही अनेक कमजोरियां हुआ करती हैं। दुर्नीति ही राष्ट्र को सब तरह से कमजोर बना देती है। इस दशा में एक विजिगीषु राजा शत्रु की कमजोरियों को जान कर उसी दुर्बल स्थान को लक्ष्य करके चोट करता है और अनायास ही शत्रु को नष्ट कर डालता है। दुर्नीति का अन्तिम फल आपत्ति है। विपत्ति में फँसा राजा अनायास ही नष्ट किया जा सकता है। जैसे नदी के वेग से कमजोर हुई नदी के किनारे की बहुत ऊँची भूमि क्रमशः धीरे-धीरे अनेक टुकड़े होकर नदी में गिर जाती है इसी तरह दुर्नीति राष्ट्र के अन्दर और बाहर अनेक तरह के भेद पैदा करके राष्ट्र को नष्ट कर देती है।

किरातार्जुनीय काव्य के द्वितीय सर्ग में महाराज युधिष्ठिर ने जो दण्डनीति-शास्त्र की आलोचना की है वह सर्वथा नीतिशास्त्रानुसार है। किन्तु प्रकृत स्थल में वह संगत नहीं कही जा सकती। महाराज दुर्योधन के युधिष्ठिर के साथ अन्याय कर लेने पर भी अन्य मित्र, मध्यम, उदासीन राजाओं के साथ उसके व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं दीख पड़ती। इसीलिए विशाल भारत के आर्य और म्लेच्छ सभी राजाओं ने दुर्योधन का पूरा साथ दिया और कुरुक्षेत्र के महा-समर में नष्ट हो गये। महाराज दुर्योधन का अमात्य आदि प्रकृतिवर्ग भी उसमें पूर्ण अनुराग रखता था।

द्यूत क्रीड़ा में हार कर पाण्डव जब जंगल में चले गये तब राष्ट्र में

अन्तःक्षोभ और वहिःक्षोभ अधिक मात्रा में दिखाई देने लगा। किन्तु महाराज दुर्योधन ने अपनी नीतिज्ञता और नीति प्रयोग की कुशलता से उस क्षोभ को शान्त कर दिया। द्रुपद, विराट्, आदि कुछ राजा जिनका युधिष्ठिर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध था, उन्होंने ही युधिष्ठिर के पक्ष में सहयोग दिया। युधिष्ठिर के सहजमित्र केकयराज और यदुवंशियों ने भी किसी अंश में युधिष्ठिर का ही साथ दिया। किन्तु केकय राज्य का भी बहुत सा भाग तथा यदुवंशियों में भी भोजगणों के साथ भोजराज कृतवर्मा आदि दुर्योधन के पक्ष में ही सम्मिलित हुए। जिन सब राजाओं ने दुर्योधन के पक्ष में सहयोग दिया था उनमें से किसी राजा ने भी दुर्योधन का पक्ष अन्त तक नहीं छोड़ा।

किरातार्जुनीय काव्य में महाराज युधिष्ठिर ने दुर्योधन को दुर्नीति सम्पन्न राजा के रूप में निर्दिष्ट किया है और दुर्विनीत शत्रु का उसकी दुर्नीति के कारण ही विनाश हो जायगा इत्यादि जो बातें कही हैं, ये सब बातें महाभारत की वर्णना के अनुरूप नहीं हैं। महाभारत की घटनाओं की आलोचना करने पर स्पष्ट मालूम हो जायगा कि दुर्योधन की दुर्नीति से उसके राष्ट्र में अन्दर और बाहर कहीं भी कुछ क्षोभ पैदा नहीं हुआ। इसलिए किरातार्जुनीय में जो युधिष्ठिर ने कहा है कि दुर्नीति-सम्पन्न शत्रु की वृद्धि भी उपेक्षणीय होती है यह बात किसी तरह संगत नहीं कही जा सकती।

किरातार्जुनीय में काव्य के प्रथम सर्ग में जो महाराज दुर्योधन की नीति वर्णित हुई है उससे दुर्योधन की नीतिज्ञता ही प्रकट होती है।

प्रथम सर्ग में दुर्योधन को एक नीति प्रयोग कुशल राजा बताया गया है। द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर के मुख से दुर्योधन की दुर्नीति प्रकट की गई है। इन दोनों बातों का सामंजस्य कवि के द्वारा कैसे सुरक्षित हो सका यह हमारे ध्यान में नहीं आता। किरातार्जुनीय काव्य के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर ने सब बातें बतला कर द्रौपदी तथा अपने भाइयों को विश्वास दिलाने का प्रयास किया है। यह महाभारत में युधिष्ठिर की उक्तियों से सर्वथा विपरीत है।

महाभारत के वनपर्व के ३६वें अध्याय में भीमसेन की उक्ति सुनकर महाराज युधिष्ठिर ने कहा है कि मुझे सारा राजधर्म मालूम है। भविष्य एवं वर्तमान की बातें सोचकर जो कार्य करता है वही नीतिशास्त्र का वेत्ता है। दुर्योधन के साथ जबर्दस्ती सन्धि-विच्छेद करके इसी समय उस पर आक्रमण करना नीति विगर्हित तथा धर्म विगर्हित है। अच्छी तरह विचार कर की हुई मंत्रणा के अनुसार कार्य करने पर कार्य सिद्धि होती है अन्यथा नहीं। केवल अपने बल के गर्व से चंचलता के कारण जो तुम इस समय ही कुरुराज्य पर आक्रमण करने की बात कहते हो उसका परिणाम अति भयानक होगा। आज दुर्योधन के पक्ष में महाराज भूरिश्रवा और उनके भाई महाराज शल्य, महाराज जरासन्ध, भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा

एवं दुराघर्ष धृतराष्ट्र के सौ पुत्र, ये सब महाराज दुर्योधन के एकान्त अनुगामी हैं। जो राजा पहले हमसे पीड़ित हो चुके हैं, वे भी सब आज दुर्योधन के पक्ष में सम्मिलित हैं। वे सभी दुर्योधन से प्रेम करते हैं तथा उसके हितचिन्तक हैं। इनमें कोई भी हमारी हित चिन्ता न करेगा। ये सभी राजा पूर्ण कोष युक्त बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ हैं। ये दुर्योधन का पक्ष लेकर युद्ध में हमारे प्रतिकूल लड़ेंगे। कौरवसेना में जो उत्तम, मध्यम आदि क्रम के पुरुष हैं, उनमें प्रत्येक ही अपने पुत्र अमात्यादि परिवार के साथ हैं। इन सब ही को दुर्योधन ने विपुल धन आदि के द्वारा सन्तुष्ट कर दिया है। दुर्योधन ने इनमें से हर एक के लिए पर्याप्त उपभोगों की व्यवस्था कर दी है। दुर्योधन ने केवल इनके सुखोपभोग की ही व्यवस्था नहीं की, अपितु विशेष सम्मान द्वारा इनको सम्मानित भी किया है। इस विषय में मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि ये सब राजा और इनकी सारी सेनाएँ दुर्योधन की भलाई के लिए युद्ध में प्राण तक दे सकेंगे। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, आदि यद्यपि हमारे और दुर्योधन के प्रति एक सा ही भाव रखते हैं तथापि इन्होंने जो दुर्योधन का अन्न खाया है और उसके द्वारा अनेक भोग भोगे हैं—इसका परिशोध वे अवश्य करेंगे। ये सभी दिव्यअस्त्रों को जाननेवाले एवं धार्मिक हैं और देवताओं के लिए भी अजेय हैं। विशेषकर महारथी कर्ण दिव्यअस्त्रों का वेत्ता, अभेद्य कवच युक्त, दुर्धर्ष, अति असहिष्णु और हमारा पूर्ण शत्रु है। इन सब महारथियों को बिना जीते दुर्योधन को पराजित करना असंभव है। हे भीम! मुझे कर्ण की असाधारण वीरता और सभी वीर पुरुषों में इसकी श्रेष्ठता विशेषरूप से मालूम है। कर्ण के दुःसह पराक्रम की बात सोचकर मुझे रात्रि में निद्रा नहीं आती।

महाराज युधिष्ठिर की ये सब बातें सुनकर अति क्रोधी भीमसेन बहुत उदास एवं त्रस्त हो गये। इसके बाद युधिष्ठिर से वे फिर कुछ नहीं बोले।

नवम अध्याय
शिशुपालबध काव्य में दण्डनीति

गत अध्याय में हमने किरातार्जुनीय काव्य में वर्णित दण्डनीति-शास्त्र के उपयोग के सम्बन्ध में कुछ आलोचना की है। अब शिशुपालवध काव्य में महाकवि माघ ने दण्डनीतिशास्त्र की कैसी विवेचना की है, इस बात पर हम प्रकाश डालेंगे। हम यहाँ शिशुपालवध के काव्य-सौन्दर्य अथवा अन्यान्य साहित्यिक विशेषताओं का विश्लेषण न करके नीतिशास्त्र के लिए अपेक्षित अंशों की ही आलोचना करेंगे। वेद से लेकर काव्य पर्यन्त भारतीय प्राचीन साहित्य में सर्वदा ही दण्ड-नीतिशास्त्र की आलोचनाएँ देखी जाती हैं। दण्डनीतिशास्त्र में हमारी अरुचि हो जाने के कारण काव्य में भी जहाँ जहाँ दण्डनीतिशास्त्र की आलोचना देखते हैं उन उन काव्य के अंशों को हम नीरस एवं निःसार समझते हैं। किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारत के कविगण दण्डनीतिशास्त्र की आलोचानओं को विरस एवं निःसार नहीं समझते थे। यदि ऐसा समझते तो अपने महाकाव्य आदिकों में दण्डनीतिशास्त्र की आलोचनाओं को स्थान न देते। भारवि के परवर्ती होने पर भी महाकवि माघ के समय में भारतीय जनता राजनीति शास्त्र से सर्वथा विमुख नहीं हो पायी थी। माघ कवि यदि नीति-शास्त्र की आलोचना से पण्डित समाज को विमुख देखते तो वे कभी भी अपने महाकाव्य में दण्डनीति की आलोचना नहीं करते।

शिशुपालवध महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में महाकवि माघ ने दण्डनीतिशास्त्र की कुछ आलोचना की है। इन्होंने महाभारत के सभा पर्व से अपना आलोच्य विषय संकलित किया है। सभापर्व के अन्तर्गत शिशुपालवध पर्व है। उसमें शिशु पालवध वर्णित हुआ है और शिशुपालवध पर्व के ठीक पहले "अर्ध्याहरण पर्व" में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में निमंत्रित होकर आये हुए शिशुपाल के विक्षुब्ध होने का कारण बताया गया है। महाराज युधिष्ठिर ने जिस समय राजसूय यज्ञ करने का विचार किया था, उस समय यदुवंशी लोग मगधराज जरासन्ध के डर से मथुरा को छोड़ द्वारका में जा बसे थे। द्वारका जहाँ बसाई गई थी, उस समय उस देश को आनर्त्त कहते थे। महाराज युधिष्ठिर ने यह सोचकर कि हम राजसूय यज्ञ को प्रारम्भ कर समाप्त कर सकेंगे या नहीं, इस सन्देह में पड़कर द्वारका में दूत भेज कर श्रीकृष्ण को इन्द्रप्रस्थ में बुला लिया। इन्द्रप्रस्थ

में ही यह यज्ञ हुआ है। इसी यज्ञ के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण को इन्द्रप्रस्थ बुलाया था।

राजसूय यज्ञ वही कर सकता है जो सम्राट् हो। सम्राट् बिना हुए राजसूय यज्ञ नहीं किया जा सकता। महाराज युधिष्ठिर जिस समय खाण्डवप्रस्थ के राजा थे उस समय वे सम्राट् न थे। सब राजाओं को पराजित करके जब तक उनको धन आदि रूप में वार्षिक नियत वृत्ति देने वाला न बना लिया जाय तब तक सम्राट् नहीं कहा जा सकता। इसी से सब राजाओं को जीतकर सम्राट् पद पाने के लिए युधिष्ठिर अति उत्सुक थे। हम सम्राट् पद पा सकेंगे या नहीं एवं सम्राट् होने पर भी राजा लोग राजसूय यज्ञ में कर प्रदानपूर्वक हमारे सामने आनत हो यज्ञ में सम्मिलित होंगे या नहीं, इसमें युधिष्ठिर को बड़ा सन्देह था। इसीलिए श्रीकृष्ण के साथ परामर्श करना जरूरी था।

सभापर्व के १५वें अध्याय में युधिष्ठिर ने स्वयं कहा है कि "सम्राट् शब्दो हि कृच्छ्रभाक्"—सम्राट् पद पाना साधारण काम नहीं है। सम्राट् द्वारा अनुष्ठित राजसूय यज्ञ में राजा लोग निमंत्रित होकर यज्ञ-मण्डप में उपस्थित होते हैं और प्रकाशरूप में राजा को कर देकर उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं।. सम्राट् के सामने राजाओं को उसकी अधीनता दिखाना राजसूय यज्ञ का एक विशेष व्यवहार है। जो लोग आज वेद के कर्मकाण्ड का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनके सामने हमारा यही निवेदन है कि राजसूय और अश्वमेध ये दोनों महायज्ञ वेद के कर्मकाण्ड के ही अन्तर्गत हैं। ससागरा वसुन्धरा का अधिपति होकर अन्य सभी राजाओं को कर देने के लिए वाध्य कर अपनी अधीनता स्वीकार कराकर उन सब राजाओं के साथ सम्राट् इस राजसूय यज्ञ का सम्पादन करता है। सारी पृथ्वी का स्वामी होकर अन्य सभी राजाओं को अधीन बनाकर सम्राट् का पद प्राप्त कर सकता है—यह उच्चतम आकांक्षा इस वेद के कर्मकाण्ड में ही सर्वप्रथम उद्घोषित हुई है। राजसूय यज्ञ का यह आदर्श आज भारतवासियों के सामने उच्च आदर्श नहीं कहा जा सकता। आज तो अनेक भारतवासी जन यही सोचते हैं कि भारतवासी सभी लोग यदि भिक्षावृत्ति स्वीकार कर पेट भर अन्न के लिए दरवाजे-दरवाजे घूमकर भीख मांगते घूमे, तो यही भारतवर्ष का उच्चतम आदर्श होगा। हम सोचते हैं कि आज के भारतीयों का सोचा उच्चतम आदर्श प्रायः आ ही पहुँचा है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही भारतवासी अपने अभीष्ट इस उच्चतम आदर्श को पा सकेंगे। आज भारतवर्ष के हिन्दू जीवित नहीं हैं। वेद का उच्चतम आदर्श आज भारतीयों के हृदय को छू नहीं सकता।

श्रीकृष्ण की सलाह के अनुसार महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करने को तैयार हो गये। उन्होंने अपने राजसूय यज्ञ के विरोधी जरासन्ध का युद्ध में वध करने के लिए श्रीकृष्ण की मंत्रणा के अनुसार भीम और अर्जुन को श्री

कृष्ण के साथ पाँच पर्वतों से परिवेष्ठित मगध देश की राजधानी गिरिव्रज में (वर्तमान राजगिरि पटने के पास) भेज दिया। इस युद्ध में जरासन्ध भीम के द्वारा पराजित हुआ और मारा गया। मगध राज जरासन्ध को मार कर श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों ने जरासन्ध के क़ैद किये हुए अनेक देशों के अनेक राजाओं को बन्धन से मुक्त किया। इसीलिए बन्धन से मुक्त हुए सभी राजा लोग पाण्डवों के विशेष मित्र बन गये। इसके बाद जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध के सिंहासन पर बैठाकर वे इन्द्रप्रस्थ वापिस जाकर महाराज युधिष्ठिर से मिले और फिर वहाँ से श्रीकृष्ण द्वारका को वापिस लौट गये।

इसके बाद भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव बहुत सेना और युद्ध के बहुत से उपकरण लेकर दिग्विजय के लिए निकले। दिग्विजय में पराजित हुए राजाओं ने बहुत-सा धन रत्न आदि देकर महाराज युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके अनन्तर इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ प्रारम्भ हुआ। महायज्ञ को सुचारु रूप से पूर्ण कराने के लिए महाराज युधिष्ठिर ने यदुवंशीयों को विशेष रूप से आमंत्रित किया। निमंत्रित होकर यदुवंशी लोग श्रीकृष्ण के साथ प्रचुर धनराशि तथा पर्याप्त सैन्य लेकर इन्द्रप्रस्थ में आये। महाराज युधिष्ठिर ने जिस समय राजसूय यज्ञ की सहायता के लिए विशेषरूप से द्वारका में आमंत्रण भेजा उस समय द्वारका में श्रीकृंष्ण तथा यदुवंशीयों के प्रधान मंत्री उद्धव राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर की सहायता करने के लिए इन्द्रप्रस्थ जाना चाहते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम जी और उनके अनुयायी लोग इन्द्रप्रस्थ जाना नहीं चाहते। यद्यपि कृष्ण ने ऊपर से बलराम जी के मत के अनुरूप ही कहा था, किन्तु उनका यथार्थ भाव उद्धव जी ने पीछे प्रकट कर दिया था। चेदिराज शिशुपाल के साथ यदुवंशीयों का किसी कारणवश विशेष विरोध हो गया था इसी से चेदिराज्य पर आक्रमण करने के लिए बलराम जी ने परामर्श दिया। चेदिराज पर आक्रमण किया जाय अथवा युधिष्ठिर की सहायता के लिए इन्द्रप्रस्थ जाया जाय इनमें से एक बात निश्चय करने के लिए द्वारका में गुप्तरूप से एक मंत्रणा सभा बैठी। इस सभा में मात्र बलराम जी श्रीकृष्ण और उद्धव सम्मिलित हुए। उसी मंत्रणा सभा के आलोच्य विषय को लेकर शिशुपालवध काव्य का द्वितीय सर्ग प्रारम्भ होता है। इस मंत्रणा सभा का जो विवरण महाकवि माघ ने दिया है वह महाभारत में विशेषरूप से आलोचित नहीं हुआ है। यह महाकवि माघ की ही कल्पना है।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में केवल यदुवंशी ही निमंत्रित हुए थे, ऐसी बात नहीं है, अपितु समस्त राष्ट्र के ब्राह्मणगण, नृपति वृन्द, वैश्यवर्ग और मान्य शूद्रगण सभी निमंत्रित हुए थे। "आमंत्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ। विशश्च मान्यान्-शूद्राँश्च सर्वानान यतेतिच" सभापर्व ३३।४१।। शिशुपालवध काव्य के द्वितीय सर्ग के अष्टम श्लोक में कहा गया है कि उद्धव और बलराम जी के साथ श्री कृष्ण जब

मंत्रणा सभा में उपस्थित हुए तब श्रीकृष्ण ने मंत्रणा सभा का कार्य प्रारम्भ करने के लिए सबसे पहले यही कहा कि महाराज युधिष्ठिर ने अपने पराक्रम से सारे राजाओं को अपना करद बना लिया है। युधिष्ठिर के भाई दिग्विजयी महावीर हैं। इसलिए यदि हमलोग युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सहायता के लिए न भी जायँ तो भी युधिष्ठिर अपना राजसूय यज्ञ पूरा कर सकेंगे। यह सोचा जाने लगा कि, हम सब युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होकर युधिष्ठिर की यज्ञ समाप्ति के बाद चेदिराज्य पर आक्रमण कर सकेंगे यह भी सोचना संगत नहीं। क्योंकि हमारा शत्रु शिशुपाल क्रमशः अत्यधिक बढ़ता जा रहा है। किसी भी नीतिज्ञ विजिगीषु राजा के लिये शत्रु की ऐसी वृद्धि उपेक्षा का विषय नहीं हो सकती। बढ़ता हुआ शत्रु और रोग दोनों समान ही होते हैं। इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। नीतिवेत्ताओं ने यही कहा है।

यदि सोचा जाय कि हमलोग अपने परम मित्र महाराज युधिष्ठिर के पक्ष में सहायता के लिए न जाकर अपने शत्रु का दमन करने लगें तो दुनिया हमको स्वार्थपरायण कहेगी। हमारी मित्र वत्सलता न रहेगी। ऐसा सोचना भी उचित न होगा। क्योंकि हम अपने किसी स्वार्थ के लिए चेदिराज्य पर आक्रमण करने नहीं जा रहे हैं। चेदिराज हमसे अत्यन्त द्रोह रखता है, इसका हमें परिताप नहीं है। किन्तु चेदिराज दुर्नीति सम्पन्न होने के कारण बहुत लोगों के दुःख का कारण हो उठा है। शिशुपाल के अत्याचारों से पीड़ित जनों का दुःख हमको अधिक मात्रा में व्यथित कर रहा है। उन सबका दुःख दूर करने के लिए बहुत जल्दी हमें शिशुपाल का दमन करना आवश्यक है। श्रीकृष्ण इस तरह अपना मत प्रकट करके बलराम जी और उद्धव का मत जानने के लिए उनसे कहने लगे कि मैंने आपका मत नहीं सुना है, हो सकता है कि आपका मत सुनने पर मेरी राय बदल जाय। किन्तु जब तक आपलोगों का मत न सुनूँ तब तक मेरा यही मत समझिए। अब मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ। विज्ञ व्यक्ति भी अकेला किसी कर्त्तव्य विषय का निर्णय नहीं कर सकता, उसको भी संशय रह ही सकता है। चेदिराज का दमन या युधिष्ठिर के यज्ञ में जाना इन दोनों कार्यों में से कौन-सा कार्य करना चाहिए, इसका निर्णय हम अब तक नहीं कर सके हैं। इस तरह श्रीकृष्ण थोड़े में ही अपना वक्तव्य समाप्त कर चुप हो गये। श्रेष्ठ पुरुष स्वभावतः ही कम बोलने वाले हुआ करते हैं।

श्रीकृष्ण के मत प्रकाशित कर देने के बाद मंत्री उद्धव का मत प्रकाशित करना उचित था। क्योंकि मंत्री उद्धव राजनीति शास्त्र के असाधारण पण्डित थे। श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध के ६४वें अध्याय में उद्धव के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि उद्धव यदुवंशियों के प्रधान मंत्री, वृहस्पति के साक्षात् शिष्य, असाधारण बुद्धिमान् एवं श्रीकृष्ण के परम प्रिय सखा थे। उद्धव वृहस्पति के शिष्य होने

के नाते ही राजनीतिशास्त्र में परम निष्णात कहे जा सकते हैं। इन्ही उद्धव को कौटिल्य अर्थशास्त्र में वातव्याधि के नाम से पुकारा गया है। महाकवि माघ ने भी अपने शिशुपालवध काव्य के द्वितीय सर्ग के १५वें श्लोक में इनका 'पवन व्याधि' नाम से निर्देश किया है। उद्धव प्रणीत राजनीति शास्त्र वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। किन्तु प्राचीन नीतिशास्त्रकारों ने उद्धव के सिद्धान्त अनेक जगह उद्धृत किये हैं। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में उद्धव के मत का उल्लेख किया है।

मंत्रण सभा में उद्धव के उपस्थित रहते हुए भी उद्धव के मत प्रकाश करने के पहले ही असहिष्णु होने के कारण बलराम जी ने अपना मत प्रकट कर दिया। बलराम ने कहा कि श्रीकृष्ण ने जो निर्दोष और तेजस्वितापूर्ण बात कही है उससे उनका अभिप्राय स्पष्ट समझ में आ जाता है। मैं समझता हूँ कि वाणी से उसका उत्तर न देकर उनके मतानुसार कार्य में लग जाना ही उनकी बात का यथार्थ उत्तर हो सकेगा। श्रीकृष्ण ने बहुत थोड़े में जो कहा है इससे अधिक बोलने पर भी इसकी अपेक्षा कुछ ज्यादा नहीं कहा जा सकता। शब्दों का बाहुल्य ही अर्थबाहुल्य का कारण नहीं हुआ करता। प्रचण्ड अग्निज्वालाएँ सूर्य के तेज का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। सूर्य के द्वारा जैसा प्रकाश होता है वैसा अनेक अग्नि की ज्वालाओं से भी नहीं हो सकता। इसलिए श्रीकृष्ण ने जो कहा है उससे अधिक बात बताना असंभव होने पर भी मैं जो कुछ कहूँगा वह, केवल श्रीकृष्ण की उक्तियों का भाष्य रूप ही होगा।

इस तरह बलराम जी श्रीकृष्ण के मतानुसार चेदिराज के विरुद्ध युद्धयात्रा का समर्थन करके मन में सोचने लगे कि——नीतिशास्त्रवेत्ता उद्धव अपने नीतिशास्त्र के पाण्डित्य से हमारे मत की निःसारता दिखा सकता है। शत्रु के विरुद्ध युद्ध यात्रा का हमारा मत होने पर भी राजनीतिज्ञ उद्धव अनेक राजनीतिशास्त्रों के वाक्यों से हमारे मत का विरोध कर सकता है। वह राजनीतिज्ञ है, हम राजनीतिज्ञ नहीं। वह राजनीतिशास्त्र की अनेक युक्तियाँ दिखा कर हमको परास्त कर सकता है। हमको ही क्या, अनेक पण्डितों को परास्त कर सकता है। वह सिद्धान्त को अपसिद्धान्त और अपसिद्धान्त को सिद्धान्त प्रतिपादित कर सकता है। राजनीतिक उद्धव कर्त्तव्य को अकर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य प्रमाणित कर सकता है। क्योंकि वह नीतिशास्त्र का ज्ञाता है। किन्तु केवल नीतिशास्त्रज्ञ होने के कारण ही वह हमारे मत के विरुद्ध बोले, यह बात मंजूर कर लेने लायक नहीं हो सकती। मन्दबुद्धि पुरुष भी राजनीतिशास्त्र पढ़कर बहुत कुछ कह सकता है। राजनीति-शास्त्र में वाग्मी होने से ही उसका मत मान लिया जाय——यह बात नहीं हो सकती। उपस्थित कार्य की आलोचना बिना किये नीतिशास्त्र की बहुत-सी बातें बना कर अनेक मत-मतान्तरों का उपपादन करने पर भी क्या किसी का मत उपादेय हो

सकता है ? सन्धि, विग्रह, यान, आसन्, द्वैधीभाव और समाश्रय––नीति-शास्त्रोक्त ये छः गुण, प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति, उत्साहशक्ति–– ये तीन शक्तियाँ इन तीन शक्तियों से पैदा होने वाली प्रभुसिद्धि, मंत्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि रूप तीन सिद्धियाँ तथा छहों गुणों के उचित उपयोग से होने वाले क्षय, स्थान, वृद्धि रूपी तीन फलों का वर्णन औशनसतंत्र तथा वार्हस्पत्यतंत्र में है। जिन्होंने ये शास्त्र पढ़े हैं वे छहों गुणों आदि की व्याख्या कर सकते हैं। मन्दबुद्धि भी इन शास्त्रों को पढ़कर इनकी व्याख्या कर सकता है। किन्तु नीतिशास्त्र की व्याख्या-मात्र से ही तो कर्त्तव्य का निश्चय नहीं हो जाता। मंत्रणासभा में तो पंचांग मंत्र ही विचारा जाता है। जो पंचांगमंत्र निर्णय में असमर्थ होते हैं वे केवल सन्धि-विग्रह आदि गुणों की तथा शक्तियों की संख्या ही बता सकते हैं। इतने से ही तो कर्त्तव्य निर्णय की सामर्थ्य नहीं पैदा हो जाती। जो लोग मंत्र के पाँचों अंगों पर पूरा विचार करने में समर्थ हैं, वे ही कर्तव्य निर्णय करने में समर्थ होते हैं। सन्धि, विग्रह आदि ही राजाओं का कार्य शरीर होता है। मंत्रणा ही उनकी आत्मस्थानीय होती है। यह मंत्रणा पाँच अंग वाली होती है। जैसे बौद्ध मत में रूपस्कंध, वेदना-स्कंध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कंध और संस्कारस्कंध इन पाँच स्कंधों के अतिरिक्त आत्मा कुछ नहीं है। इसी तरह राजाओं के भी सलाह के पाँच अंगों के अतिरिक्त और कोई चीज़ नहीं है।

१––कर्म का आरम्भोपाय, २––पुरुष-द्रव्य संपत्, ३––देश––काल विभाग, ४––विनिपात प्रतिकार, ५––कार्यसिद्धि––ये ही मंत्रणा के पाँच अंग होते हैं। मंत्रणा के इन पाँचों अंगों का विशेष परिचय हमने इस प्रबन्ध के सप्तम अध्याय में कुम्भकर्ण की राजनीति के उपदेश–प्रसंग में दिखा दिया है। बलराम जी ने कहा है कि राजाओं के सन्धि, विग्रह आदि रूप कार्य–शरीर की मंत्रणा ही आत्मा है। यह मंत्रणा पंचांग युक्त होती है। इन पांच अंगों को छोड़कर मंत्रणा और कोई वस्तु नहीं है। केवल छहों गुणों का पाठ कर लेने से ही मंत्रणा नहीं होती। मंत्रणा पंचांग के रूप में बताई गयी है। राजाओं की मंत्रणा भी राजाओं की तैयार सेना की तरह अधीर एवं चंचल होती है। कवच आदि से सर्वांग जिनका सुरक्षित है, ऐसा सैनिकगण आक्रमण करने में विलम्ब सहन नहीं कर सकता। युद्ध करने के लिए तैयार हुए सैनिक को आक्रमणादि कार्य में विलम्ब होने से शत्रु द्वारा उनमें भेद डाला जा सकता है। इसी तरह निश्चित की हुई सलाह को शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत न करने पर दूसरों को उस सलाह का ज्ञात हो जाना सम्भव है। इस दशा में शत्रु को गुप्त सलाह ज्ञात हो जाने पर सारा कार्य नष्ट हो जाता है। इस सभा का और विचारणीय विषय कुछ नहीं रहा। श्रीकृष्ण की बातों से ही कर्त्तव्य-निश्चय हो चुका। अब हमको कार्य प्रारम्भ करने में देर नहीं करनी चाहिए। अब नीतिशास्त्र की बहुत बातें बताना व्यर्थ

है। नीतिशास्त्र का अधिक से अधिक मन्थन करने पर यही सार निकलता है कि अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि का प्रयत्न करना चाहिये यही नीतिशास्त्र का सार है। इन दो ही सिद्धान्तों को लेकर सुविशाल नीतिशास्त्र रचा गया है।

यदि सोचा जाय कि यदुवंशीयों को यथेष्ट समृद्धि मिल चुकी है और उनकी काफी वृद्धि हो चुकी है। शत्रु की हानि की आवश्यकता क्या हैं? इस पर बल-राम जी कहते हैं कि श्रेष्ठ राजा लोगों को विपुल ऐश्वर्य से भी संतोष नहीं होता और न होना चाहिये। संतोष ब्राह्मणों का ही भूषण है। राजाओं के लिये संतोष करना दोष है। नीतिशास्त्रकारों ने कहा है—"असंतुष्टा द्विजानष्टाः संतुष्टाश्च महीमृतः"। बड़े लोग बड़े से बड़ा ऐश्वर्य मिल जाने पर भी संतुष्ट नहीं हो सकते। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है चन्द्रोदय की इच्छा रखने वाला महासमुद्र। महाजलराशि से सर्वथा पूर्ण होने पर भी समुद्र अपनी जल वृद्धि के लिये चन्द्रोदय की आकांक्षा रखता है। राजाओं के लिये प्राप्त समृद्धि से संतोष कर लेना महादोष है। जो राजा थोड़ी-सी ही सम्पत्ति से तुष्ट हो जाता है इससे भगवान् भी उसकी वृद्धि की कुछ व्यवस्था नहीं करता। जिसको वृद्धि की इच्छा नहीं है, भगवान् भी उसकी वृद्धि करना नहीं चाहता। श्रेष्ठ राजा पराक्रम से प्राप्त वृद्धि को ही वृद्धि समझते हैं। औरों की दी हुई समृद्धि को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। शत्रु का समूलोन्मूलन किये बिना मानी महीपति-गण कभी भी कृतकृत्य नहीं हो सकता। सूर्य घोर अन्धकार राशि का समूल विनाश किये बिना कभी उदित नहीं होता। राजाओं का उदय भी सूर्य के उदय की तरह ही होता है।

और भी एक बात है कि शत्रु का उच्छेद बिना किये राजा की प्रतिष्ठा ही असम्भव है। जैसे धूल समुदाय को कीचड़ बनाकर ही जल उसके ऊपर रह सकता है। जब तक धूल कीचड़ के रूप में परिणत नहीं होती तब तक जल धूल के ऊपर नहीं रह सकता। यदि मान भी लिया जाय कि एकमात्र शिशुपाल ही हमारा शत्रु है और कोई शत्रु नहीं है। सब राजा हमारे मित्र हैं इसलिये एक शिशुपाल हमारा क्या अनिष्ट कर सकता है? इसके उत्तर में हमारा यही कहना है कि जब तक एक शत्रु भी रहता है तब तक विजिगीषु राजा कभी भी किसी तरह सुख नहीं पा सकता। सभी देवगण और ग्रहगण चन्द्रमा के मित्र है। इन मित्रगणों के सामने ही एकाकी शत्रु राहु चन्द्रमा को पीड़ित करता है। इसलिये शत्रु के एकाकी होने पर भी उसकी उपेक्षा कर देना उचित नहीं। शीघ्र ही उसका उच्छेद करना अवश्य कर्तव्य है।

यदि सोच लिया जाय कि शिशुपाल तुच्छ शत्रु है वह हमारा क्या अनिष्ट कर सकता है? इसके उत्तर में बलरामजी शिशुपाल की दुरुच्छेद्यता दिखाते हैं। शत्रु और मित्र हर एक तीन तीन तरह के होते हैं—कृत्रिम

शत्रु, कृत्रिम मित्र, सहज शत्रु, सहज मित्र और प्राकृति शत्रु प्राकृत मित्र। जो जिसका पहले उपकार करता है, वह उसके उपकार से उसका कृत्रिम मित्र होता है। जो जिसका पहले अपकार करता है, वह उस अपकार के कारण उसका कृत्रिम शत्रु होता है। उपकार और अपकार के कारण ही ये कृत्रिम मित्र और शत्रु होते हैं। भलाई करने वाला स्थिर मित्र एवं बुराई करने वाला स्थिर शत्रु होता है। इस मित्रता और शत्रुता का कभी भी नाश नहीं होता। इसलिये कृत्रिम मित्र और कृत्रिम शत्रु ही प्रधान होते हैं। सहज और प्राकृत शत्रु और मित्र ऐसे नहीं होते। उनका कोई उपकार करने से ही वे मित्र नहीं होते और अपकार कर देने से शत्रु नहीं होते। मौसेरा तथा फुफेरा भाई आदि सहज मित्र होते हैं। इसी तरह चचा, ताऊ तथा उनके पुत्र आदि सहज शत्रु होते हैं। अपने राष्ट्र से ठीक मिला हुआ दूसरे राष्ट्र का राजा प्राकृत शत्रु होता है एवं उससे परवर्ती राष्ट्र का राजा प्राकृत मित्र होता है। सहज और प्राकृत मित्र और शत्रु प्रयोजन के अनुसार कभी मित्र शत्रु हो सकता है और कभी शत्रु भी मित्र बन सकता है। किन्तु कृत्रिम मित्र और शत्रु इस तरह कभी मित्र और कभी शत्रु नहीं हो सकते। कृत्रिम शत्रु शत्रु ही रहेगा और कृत्रिम मित्र मित्र ही रहेगा। इसीलिये कृत्रिम मित्र और कृत्रिम शत्रु को ही सबसे गुरुतर माना है। शिशुपाल हमारा कृत्रिम शत्रु हैं। इसलिये वह भारी शत्रु है।

यदि कहा जाय कि, शिशुपाल कृत्रिम शत्रु होते हुए भी हमारा बुआ का लड़का है। इसलिये वह हमारा सहज मित्र है। सहज मित्र के साथ सन्धि करना ही संगत होगा। उसके नाश के लिए उसके राज्य पर आक्रमण करना उचित नहीं। इसके उत्तर में हमारा यही कहना है कि उपकारी शत्रु के साथ भी सन्धि कर लेना उचित है किन्तु अपकारी मित्र के साथ भी कभी सन्धि करना उचित नहीं। वास्तविक बात यही है कि जो उपकारी है वही मित्र होता है और जो अपकारी है वही शत्रु होता है। इसलिये सहज मित्र या प्राकृत मित्र दोनों ही अपकार करने पर शत्रु ही होंगे। शिशुपाल किस तरह कृत्रिम शत्रु हुआ और उसने क्या क्या बुराइयाँ की हैं इसको बताने के लिए बलदेव जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने जिस समय रुक्मिणी का हरण किया उस समय शिशुपाल ने हमारे साथ खुलकर लड़ाई की। यद्यपि उस युद्ध में वह पराजित हो गया तथापि वह उस वैर को कभी नहीं छोड़ेगा। रुक्मिणी को पाने के लिए शिशुपाल भी अत्यन्त उद्योगशील था। स्त्री भी गुरुतर वैर का कारण होती हैं। श्रीकृष्ण के रुक्मिणी के साथ विवाह कर लेने पर शिशुपाल की हमारे साथ शत्रुता बद्धमूल हो गई।

और भी एक बात है कि श्रीकृष्ण जब प्राग्ज्योतिषाधिपति नरकासुर को जीतने के लिए प्राग्ज्योतिष में गये थे, उस समय इस शिशुपाल के द्वारा हमारी द्वारका नगरी घेर ली गयी थी। शिशुपाल ने सोचा था कि इस समय कृष्ण की अनु-

पस्थिति में द्वारका नगरी को घेर लेने से वह अनायास ही द्वारका को विध्वंस कर सकेगा। दुराचारी शिशुपाल ने यदुवंशीय वभ्रु की भार्या का अपहरण किया था। इस प्रकार के जुगुप्सित कार्य का उच्चारण करना भी पाप है। इस प्रकार हमारे द्वारा शिशुपाल और शिशुपाल के द्वारा हम उत्पीड़ित हुए हैं। अतः शिशुपाल हमारा सहज मित्र होने पर भी अब कृत्रिम शत्रु हो गया है। अपकारी को ही कृत्रिम शत्रु कहते हैं। इस कृत्रिम शत्रु शिशुपाल की यदि हम उपेक्षा करेंगे, तो हमारा भारी अनिष्ट होगा। जो व्यक्ति द्वेषयुक्त और विक्रमशाली शत्रु के साथ विरोध करके उदासीन रहता है, ऐसे शत्रु के प्रति उपेक्षा करने वाला व्यक्ति, वन में आग लगा कर जिस ओर से वायु प्रवाहित हो रही है, उस ओर सोने वाले व्यक्ति की तरह अवश्यमेव मृत्यु को प्राप्त होता है।

यदि सोचा जाय कि शिशुपाल जैसे हमारा कृत्रिम शत्रु है, ऐसे ही बुआ का पुत्र होने से सहज मित्र भी होता है। इस पर यही कहना है कि क्षमाशील व्यक्ति एकबार किसी के कुछ अपकार कर देने पर उसको यदि क्षमा करना चाहे तो कर सकता है। किन्तु जो बार-बार अपकार करता ही रहे उसको तो क्षमाशील भी क्षमा नहीं कर सकता। शिशुपाल ने हमारा अनेक बार अपकार किया है। यदि समझा जाय कि सर्वदा क्षमा करते रहना ही श्रेष्ठ पुरुषों का भूषण होता है। इसलिए शिशुपाल को बार-बार अपकार करने पर भी क्षमा कर देना ही उचित है। इस पर यही कहना है कि जो कभी कोई कुछ अपराध कर दे और वह अपराध भी किसी के विनाश करने की इच्छा से न किया गया हो, तो ऐसे छोटे अपराध के अपराधी को क्षमा कर देना पुरुष का भूषण हो सकता है। किन्तु उच्छेदकारी शत्रु के प्रति तो पराक्रम दिखाना ही भूषण होता है। जो व्यक्ति शत्रु के द्वारा अधिकतर सताये जाने पर भी और शत्रु से अपमानित होने पर भी दु:खदग्ध हृदय से जीता रहता है, उस पुरुष का जन्म केवल माता को कष्ट देने के लिए ही होता है। शत्रु से अपमानित होकर भी जो उसके प्रतिशोध की व्यवस्था नहीं करता है, वह पुरुष पृथ्वी में पड़ी धूल राशि से भी निकृष्ट है। धूल राशि भी पैर मारने पर मारने वाले के सिर पर चढ़ जाती है। पुरुषार्थहीन पुरुष का जीवन ही व्यर्थ है। पर्वत और समुद्र दोनों ही अलंघ्य होते हैं। पर्वत के अलंघ्य होने का कारण होता है उसकी विपुलतम ऊँचाई और समुद्र की अलंघ्यता का कारण है उसकी अगाधता (गहराई)। पर्वत में गहराई नहीं और समुद्र में ऊँचाई नहीं। किन्तु मनस्वी पुरुष में अलंघ्यता के दोनों ही कारण वर्तमान रहते हैं। इसलिए मनस्वी पुरुष सर्वदा अलंघ्य होता है। मनस्वी पुरुष को यदि शत्रु लंघन कर सके तो उसकी मनस्विता व्यर्थ है। इसलिए हमको शिशुपाल की उपेक्षा न करके पराक्रम दिखाना ही उचित है।

केवल मृदुता घोर अनर्थ की जड़ है। चन्द्रमा और सूर्य दोनों ही राहु के समान

वैरी हैं। किन्तु मृदु होने के कारण राहु चन्द्रमा को बार-बार ग्रस लेता है और तीक्ष्ण होने से सूर्य को कभी कभी ही ग्रसता है। यह मृदुता और तीक्ष्णता का ही परिणाम है। पुरुषार्थ का भरोसा रखना असाधारण गुण है। मृदुता का अवलम्बन कर पुरुष सदा ही शत्रु से अपमानित होता रहता है। पौरुष का अवलम्बन कर सर्वत्र पूजित होता है। जैसे––कोमल चन्द्रमा मृग को सदा अंग में धारण करने से मृगलांच्छन के नाम से प्रसिद्ध हुआ और सिंह मृगों के झुण्ड को नष्ट कर देने से मृगाधिप नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दण्डरूप चतुर्थ उपाय से शान्त करने योग्य शत्रु को साम रूप प्रथम उपाय के प्रयोग से शान्त करने की चेष्टा करना सर्वथा विरुद्ध कार्य है। जो आम ज्वर पसीना देने के उपचार से शान्त किया जा सकता है, बुद्धिमान् ऐसे ज्वर में क्या जल-स्नान की व्यवस्था करता है? क्रुद्ध शत्रु के प्रति साम रूप प्रथम उपाय का प्रयोग उसको शान्त न कर उल्टा उसको उद्दीप्त करता है। तप्त घृत में जलबिन्दु डालने से उसका ताप शान्त न होकर उल्टा अधिक हो जाता है। जो मन्त्री सन्धि-विग्रह आदि छहों गुणों के विपरीत प्रयोग करने की सलाह देते हैं, वे इच्छित वस्तु के लाभ में विघ्न डालकर कार्य को बिगाड़ देते हैं। इसलिए वे यथार्थ अमात्य नहीं हो सकते। वे अमात्य चिह्नधारी होने पर भी शत्रु ही होते हैं। अतः वे निन्द्य हैं। श्रीकृष्ण जिससे मंत्री उद्धव से परामर्श न लें, इसी के लिए बलराम जी ने ऐसा कहा है। बलराम जी फिर कहते हैं कि. नीतिशास्त्रकारों में से कुछ कहते हैं कि अपना अमात्य, कोष, सैन्य आदि पूर्ण होने पर ही विजिगीषु को शत्रु के विरुद्ध युद्ध यात्रा करनी चाहिए। कुछ नीतिशास्त्रकारों का मत है कि शत्रुराष्ट्र जिस समय दुर्भिक्ष आदि आपत्तियों से पीड़ित हो, तब शत्रु के विपन्न होने पर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए। शत्रु के विरुद्ध युद्ध यात्रा करने के लिए ये दो वैकल्पिक कारण नीतिशास्त्रकारों ने बताये हैं। वे दोनों ही कारण समुच्चय रूप में हमको शत्रु के विरुद्ध युद्धयात्रा के लिए प्रोत्साहित करते हैं। यदि हम इस दशा में शत्रु के अपकार का प्रतिकार न कर निश्चेष्ट होकर बैठ भी जायँ, तो ये दोनों कारण ही हमको युद्धयात्रा के लिए प्रवृत्त कर देंगे। हमारे कोष दण्ड आदि पूर्ण रूप से समुन्नत हैं। यदुवंशीयों का सैन्य समुद्र अखिल भूमण्डल का ग्रास कर सकता है। जैसे समद्र की जलराशि पृथिवी को प्लावित करने में समर्थ होने पर भी तट भूमि के द्वारा संकुचित अवस्था में अवस्थित रहती है इसी तरह हमारा भी सैन्य-समुद्र केवल तुम्हारे (श्रीकृष्ण के) क्षमारूप तट भूमि द्वारा ही संकुचित हो अवरुद्ध हो सकता है। केवल तुम्हारी क्षमा के लिए ही हम अपनी सामर्थ्य के अनकूल कोई भी कार्य नहीं कर सके हैं।

विशेष बात यह है कि शिशुपाल के पराजय के लिए हमारे तैयार होते ही

अनायास यह काम हो जायगा। हमारी सेना ही इस काम को अनायास कर डालेगी। तुम केवल शत्रु-विजयरूप फल के भोक्ता होगे। तुमको कुछ भी न करना होगा। जैसे सांख्य सिद्धान्त में कहा है कि पुरुष की भोग-बुद्धि ही सब कार्य करती है। पुरुष को कुछ नहीं करना होता। इसी तरह तुमको भी कुछ नहीं करना होगा। हमारी शक्ति बढ़ी हुई है। केवल यही बात नहीं है, शत्रु भी विपत्ति में फँसा हुआ है। प्रबल पराक्रमी मगधराज जरासन्ध भीम से युद्ध में मारा गया है। मगधराज जरासन्ध ही शिशुपाल का असाधारण मित्र था। जरासन्ध की मृत्यु से शिशुपाल मित्रव्यसन में निमग्न है। नीतिशास्त्रकार कहते हैं कि आपत्ति में फँसे हुए शत्रु पर आक्रमण करना मानी विजिगीषु के लिए अत्यन्त लज्जा की बात है। प्रबल शत्रु पर आक्रमण करके उसका उच्छेद कर देना ही मानी विजिगीषु के लिए उचित है। देखा जाता है—पूर्णमण्डल चन्द्रमा को ही राहु ग्रसता है। चन्द्रमा जब तक अपूर्ण रहता है तब तक राहु उसको ग्रसन की इच्छा नहीं करता।

इस कथन में यही आपत्ति है कि नीतिशास्त्रकारों ने आपत्ति में फँसे हुए शत्रु पर आक्रमण करने की बात ही फिर क्यों कही? पूर्णविक्रमशील शत्रु ही यदि आक्रमण करने के लिये उपयुक्त व्यक्ति होता है, तो पूर्वोक्त नीतिशास्त्र से इसका विरोध हो जायगा। आपत्ति में फँसे शत्रु पर विजिगीषु आक्रमण करे यह बात मनु ने ही कही है—"तदायायाद् विगृह्यैव व्यसने चोत्थितेरिपोः" (मनु. ७ अध्याय १८३ श्लोक)। इसके उत्तर में बलराम जी कहते हैं कि असाधारण सामर्थ्यशाली विजिगीषु के लिए नीतिशास्त्रकारों ने यह नहीं कहा है। शत्रु की आपत्ति के समय उस पर जो आक्रमण करता है, उसका पराक्रम और तरह का होता है। अति विक्रमशाली विजिगीषु राजा के लिए नीतिशास्त्रकारों ने यह नहीं कहा है। महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सहायता करने के लिए हमको इन्द्रप्रस्थ जाने की कोई आवश्यकता नहीं। हम चेदिराज पर आक्रमण करके उसको नष्ट कर देंगे। हम शीघ्र ही चेदिराज्य की राजधानी माहिष्मती नगरी को चारों तरफ से घेर लेंगे। गोष्ठ में अवरुद्ध गायें जैसे घास जल आदि के अभाव में अत्यन्त निपीड़ित हो जाती हैं, इसी तरह माहिष्मती नगरी के घिर जाने पर चेदिराज सब प्रकार की सहायता से वंचित होकर हमारे सामने झुक जायगा। महाराज युधिष्ठिर अपने यज्ञ का सम्पादन करें, इन्द्र स्वर्ग का पालन करें, सूर्य संसार को प्रकाशित करें, हम अपने शत्रुओं का विनाश करें। सभी अपने कार्यो के सम्पादन के लिए प्रयास किया करते हैं। हम अपना स्वार्थ छोड़कर जैसे इन्द्र या सूर्य की सहायता में प्रवृत्त नहीं होते; इसी तरह युधिष्ठिर की भी सहायता करने की जरूरत नहीं है। सुतरां अति शीघ्र चेदिराज के साथ युद्ध में प्रवृत्त होना ही हमारा कर्त्तव्य है।

बलराम जी की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने वृहस्पति के शिष्य उद्धव को उनका मत जानने के लिए इशारा किया। श्रीकृष्ण का संकेत पाकर उद्धव अपना मत बतलाने के लिए अपनी उद्धतता परित्याग पूर्वक कहने लगे कि विजिगीषु राजा पहले अपनी मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति सम्पादन करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न करे। क्योंकि ये दोनों शक्तियाँ ही विजिगीषु राजा की प्रभुशक्ति की मूल हैं। जो राजा तीक्ष्ण मंत्रशक्ति का अर्थात् बुद्धिशक्ति का आश्रय लेते हैं, उनको कभी खेदयुक्त नहीं होना पड़ता। जो युक्तियुक्त बुद्धि को ही पलंग रूप में जान कर उस पर ही सदा बैठे रहते हैं, उनको कभी खेद का अनुभव नहीं करना पड़ता। अत्यन्त तीक्ष्ण कुशाग्र बुद्धि के प्रभाव से बहुत थोड़े से परिश्रम से बहुत से कार्य सम्पादन किये जा सकते हैं जो कि स्थूल बुद्धि से सम्भावित नहीं। जैसे तीखी नोक वाला वाण अपनी लक्ष्य वस्तु के सूक्ष्म मार्ग में प्रवेश कर वध्य प्राणी के अभ्यन्तर बहुत से हिस्से को नष्ट कर देता है, वैसे ही एक पत्थर का टुकड़ा लक्ष्य वस्तु के बहुत से भाग को स्पर्श करके भी अन्दर नहीं घुस पाता। इसलिये सबसे पहले प्रज्ञावल ही सम्पादन करना चाहिए। प्रज्ञाबल विवर्जित पुरुष थोड़े से काम के लिए बहुत-सा आडम्बर करता है और उसमें अत्यन्त व्यग्र हो जाता है और काम भी पूरा नहीं कर पाता।

किन्तु बुद्धि व शक्तियुक्त पुरुष बहुत से कामों को थोड़े ही परिश्रम से जरा भी व्यग्र न होकर पूरा कर लेता है। कार्यसिद्धि के लिए उपायों का प्रयोग करने पर भी कार्य सिद्धि नहीं होती। उपायों के प्रयोग करने के साथ सावधानी जरूरी है। असावधानी होने पर बुद्धिमान् पुरुष के भी साधन-प्रयोग व्यर्थ हो जाते हैं। जैसे मृग को मारने के लिए उसके रास्ते में किसी गढ़े में छिप कर बैठा हुआ व्याध मृग को मार सकता है, परन्तु वह व्याध यदि सो जाता है तो मृगको नहीं मार सकता। ऐसे ही विजिगीषु को जिस प्रकार प्रज्ञाशक्ति की जरूरत है, वैसी ही सावधानी की भी जरूरत है। ऐसी ही उत्साहशक्ति की भी आवश्यकता है। उत्साहहीन राजा कभी भी प्रभुशक्ति पाने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए उसका अभ्युदय भी कभी संभावित नहीं होता। अभ्युदय चाहने वाला विजिगीषु सर्वदा उत्साहशक्ति सम्पन्न होकर ही बारह राजमण्डलों पर अपना अधिकार कर लेता है। उत्साहशक्ति के प्रभाव से ही अर्यमा आदि द्वादश आदित्यों में भगवान् भास्कर उदित होते हैं।

विजिगीषु राजा सर्वसाधारण से विलक्षण पुरुष होता है। बुद्धि ही उसका शस्त्र, अमात्य आदि प्रकृति ही उसका अङ्ग होता है एवं मन्त्रगुप्ति (सलाह का छिपाना) ही उसका कवच और चार (गुप्तचर) उसके नेत्र एवं दूत ही उसका मुख होता है। बलरामजी ने जो कहा है कि दण्डसाध्य शत्रु के साथ साम का प्रयोग व्यर्थ है, इसके उत्तर में यही कहना है कि विजिगीषु राजा को सर्वदा

ही क्षात्र तेज या सर्वदा ही क्षमा का अवलम्बन कभी न करना चाहिए। समय को जानकर उसके अनुकूल ही कभी तेज और कभी क्षमा का अवलम्बन करना उचित है। जैसे रसज्ञ कवि हास्य आदि रस के अनुकूल ही कभी ओज गुण का और कभी प्रसाद गुण का अवलम्बन करता है।

और जो बलराम जी ने कहा है कि बार बार अपकारी के प्रति कोई भी क्षमा नहीं दिखाता, इसका उत्तर यही है कि विजिगीषु राजा शत्रु के किये अपकार से बाहर में कोई विक्रिया प्रकट नहीं होने देता, किन्तु शत्रु के अपकार को स्मरण रखकर शत्रु की कमजोरी की दशा में शत्रु के ऊपर असह्य रोष प्रकट करता है जिससे शत्रु का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। जैसे मिथ्या आहार विहार करने वाले पुरुष के दोष संचित होकर बाहर से कुछ भी विकार न दिखाने पर भी अचिकित्स्य रोग रूप में प्रकट हो जाते हैं। शत्रु ने अपकार किया है, यही समझ कर, अनुपयुक्त समय में शत्रु के विनाश के लिए प्रवृत्त नहीं हो जाना चाहिए।

जो विजिगीषु राजा अपने मण्डल की तथा परमण्डल की पूरी खबरदारी रख कर राजमण्डलों पर अपना प्रभाव जमा लेता है, वही विजिगीषु राजा अनायास शत्रु को नष्ट कर सकता है। उत्साहरूपी वृक्ष का मूल है बुद्धिबल और उसका फल है प्रभुशक्ति। सोचकर काम करने वाले विजिगीषु राजा के सिवा अन्य राजा उसके परिवार स्थानीय होते हैं। एक प्रयोजनरूप सूत्र में गुँथे हुए बारह राजमण्डलों की माला में प्रज्ञाशक्ति और उत्साहशक्ति सम्पन्न विजिगीषु राजा सुमेरु की तरह विराजमान रहता है। जो अपनी तीनों शक्तियों को समझ कर सन्धिविग्रह आदि छः गुणरूप रसायन का प्रयोग करता है, उसके अमात्य आदि अंग सुदृढ़ एवं बलवान् हो जाते हैं। अपने से असाध्य काम में जो शान्त रहता है और अपनी शक्ति के अनुरूप बल प्रयोग करता है उसके सब अंग बढ़ जाते हैं। जो असाध्य विषय में बल प्रयोग करता है, उसका क्षय अनिवार्य होता है। मेरे ध्यान से चेदिराज को तुच्छशत्रु कह कर उसकी अवज्ञा कर देना उचित नहीं। शिशुपाल एकाकी एवं असहाय है--यह समझ लेने का भी कोई कारण नहीं। राजयक्ष्मा रोग जैसे अनेक रोगों के साथ सम्बद्ध रहता है, इसी तरह चेदिराज भी हमारे अनेक शत्रुओं से सम्बद्ध है। कालयवन, रूक्मी, शाल्व, द्रुम, आदि सारा शत्रु वर्ग शिशुपाल का अनुयायी है। जैसे अन्धकार प्रदोष (दिन और रात्रि का सन्धिकाल) का अनुयायी होता है।

यह सोचना भी उचित नहीं है कि ये कालयवन आदि सारे शत्रु हमसे सन्धि कर चुके हैं। इसलिए शिशुपाल के साथ मिलकर हमारे विरुद्ध युद्ध न करेंगे। क्योंकि शिशुपाल इन सब शत्रु राजाओं में फूट डाल देगा। ये हमारे विरुद्ध हो जायेंगे। जैसे इन्धनयुक्त अग्नि वायु की सहायता से प्रज्वलित हो उठती है।

इसलिए शिशुपाल बड़ा सहाय-सम्पन्न है। अनेक सहायकों से युक्त तुच्छ व्यक्ति भी काम पूरा कर सकता है। जैसे क्षुद्र नदियाँ बड़ी नदी की सहायता से महासमुद्र तक पहुँच जाती हैं। जब क्षुद्र व्यक्ति भी बड़े सहायकों से युक्त होने पर बड़ा से बड़ा काम पूरा कर लेता है तब शिशुपाल तो स्वयं पर्याप्त शक्तिशाली है। फिर वह अनेक सहायकों की मदद मिलने पर अनायास ही सब काम पूरा कर सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। शिशुपाल के मित्र औरह मारे शत्रु राजा शिशुपाल को आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करने के साथ ही स्वयं हमारे विरोध में प्रवृत्त हो जायेंगे। यदि आज ही हम सब राजाओं को अपने साथ युद्ध करने को तैयार करने पर तुल जायेंगे तो हमारे मित्र महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ पंगु हो जायगा और हम ही युधिष्ठिर के यज्ञनष्ट करने वालों में सबसे प्रधान गिने जायेंगे। यदि कहा जाय कि युधिष्ठिर का यज्ञ अधूरा रह जाय तो क्या दोष है? इसके उत्तर में यही कहना है कि महाराज युधिष्ठिर हमारे बन्धु हैं और इस गुरुतर कार्य का भार हमारी सहायता के भरोसे ही वहन करने के लिए तत्पर हुए हैं। जो व्यक्ति हमारी सहायता से ही कार्य सम्पन्न करने को तैयार हुआ हो और हमारे द्वारा ही उसके कार्य में विघ्न हो, यह महान् अनर्थ है। महापुरुष नतशत्रु के ऊपर भी अनुग्रह दिखाया करते हैं। जैसे महानदी अपनी सपत्नीरूप छोटी नदियों को भी समुद्र से मिला देती हैं। आज हमारे युधिष्ठिर के साथ प्रतिकूल व्यवहार करने पर हम उनके साथ अपनी मित्रता की रक्षा नहीं कर सकते।

विशेष बात यह है कि कृष्ण ने अपनी बुआ श्रुतश्रवा के सामने प्रतिज्ञा की है कि मैं तुम्हारे पुत्र के सौ अपराध क्षमा कर दूँगा। इस प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए और बुआ के गौरव की रक्षा के लिए हमको शिशुपाल के अपराध सहन करने चाहिए। शिशुपाल का मृत्यु काल न आने तक उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। अर्थात् शिशुपाल के सौ अपराध बिना पूरे हुए उसको नहीं मारा जा सकता। हम केवल समय की प्रतीक्षा करने को कहते हैं; इससे शिशुपाल की उपेक्षा नहीं मानी जा सकती। शत्रुराज्य समूह में जो अठारह तीर्थ हैं उनमें कर्मकुशल गुप्तचरों को नियुक्त करके शत्रुरूपी जलराशि की थाह ले लेनी चाहिए। इन अठारह तीर्थों का विशेष परिचय हमने इस प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय के प्रायः प्रारम्भ में ही दे दिया है। जो विजिगीषु राजा चारों की सहायता नहीं लेता, उसकी नीति कभी भी सफल नहीं हो सकती। हम शत्रु-राज्य में गूढ़ पुरुषों की ऐसी व्यवस्था करेंगे कि जिससे शत्रु देशवासी उनके कामों में कभी भी सन्देह न कर सकेंगे। जो शत्रुओं के विश्वासपात्र एवं बुद्धिमान् हों ऐसे व्यक्तियों को हम दोनों राष्ट्रों से वेतन भोगी बनाकर उनके द्वारा शत्रुराष्ट्र के मंत्री आदि प्रकृतिवर्ग के प्रति शत्रुराजाओं को भेद युक्त कर देंगे, जिससे शत्रु

अपने प्रकृतिवर्ग में फूट पड़ जाने के कारण दुर्बल हो जायगा। गूढ़ पुरुषों के द्वारा ही अपने मित्रपक्षीय सब राजाओं को हम उत्साहित कर देंगे, जिससे वे महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने को सम्मत हो जायँ। गूढ़पुरुषों के द्वारा ही अपने मित्रपक्षीय राजाओं को विशेषरूप से इङ्गित कर देंगे कि वे महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ दर्शन के बहाने से अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर ही इन्द्रप्रस्थ में आयें। यज्ञ दर्शन के लिए आने में उनके प्रति किसी को सन्देह ही पैदा न होगा। गुप्तचरों द्वारा ही हम अपने मित्रपक्षीय राजाओं को यह भी जता देंगे कि तैयार होकर इन्द्रप्रस्थ में सम्मिलित होने का विशेष प्रयोजन है। इससे हमारी विशेष कार्यसिद्धि होगी। यज्ञ दर्शन के प्रसंग से चतुरंगिणी सेना के साथ आने पर हमारे मित्रपक्षीय राजाओं के विषय में शत्रु पक्ष के मन में कुछ सन्देह पैदा न होगा। हमारा मित्रपक्षीय नरपति वृन्द इन्द्रप्रस्थ में हमसे मिल जायगा।

यदि पूछा जाय कि यज्ञभूमि में सबके सम्मिलित होने पर भी वहाँ युद्ध का मौका कैसे होगा? इसके उत्तर में यही कहना है कि महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण में बहुत भक्ति रखते हैं। यज्ञभूमि में युधिष्ठिर के श्रीकृष्ण के प्रति अतिशय भक्ति दिखाने पर हमारा शत्रुपक्षीय राजवृन्द श्रीकृष्ण की पूजा को न सहन कर सकेगा; यही कलह का पहला कारण होगा। शत्रुपक्ष में जो हमको जानने वाले हैं, वे शत्रुपक्ष से परिपुष्ट होने पर भी हमारे पक्ष में सहयोग देंगे। जैसे कौओं से पाली गई कोयल भी अवस्था प्राप्त होने पर काक समुदाय को छोड़ देती है। इस तरह शत्रुपक्ष में फूट पड़ जाने पर कलह प्रारम्भ होने से शत्रुवर्ग श्रीकृष्ण की दु:सह क्रोधाग्नि में पतंग की दशा प्राप्त करेगा। मंत्री उद्धव की नीति युक्त बातें सुन कर श्रीकृष्ण तदनुसार कार्य करने को सहमत हो गये।

दशम अध्याय

प्राचीन भारत में आदर्श राष्ट्र का स्वरूप

प्राचीन भारत में जो आदर्श राष्ट्र का स्वरूप जानना चाहते हैं, उनको एक विशेष चित्र छान्दोग्य उपनिषद् में देखने को मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि विद्याप्राप्ति की इच्छा वाला विशिष्ट ब्राह्मणों का एक समुदाय एक समय केकयराज अश्वपति के पास गया। केकयराज ने आये हुए उन ब्राह्मणों के सामने अपनी निष्पापता प्रतिपादन करने के लिए अपने राष्ट्र की हालत बताई है। केकय राज ने कहा कि हे ब्राह्मणगण! मेरे राष्ट्र में कोई चोर नहीं है। कोई कदर्य भी नहीं है। धनवान् होने पर भी जो व्यक्ति दान और उपभोग में धन खर्च नहीं करता उसको कदर्य कहते हैं अर्थात् प्रसिद्ध कंजूस। जो केवल धन का संचय ही करता रहे उस पुरुष को नीतिशास्त्र में राष्ट्र-कण्टक कहा है। केकयराज कहते हैं कि मेरे राष्ट्र में कोई भी कदर्य नहीं रहता है। इसी तरह मेरे राज्य में शराबी व्यक्ति भी नहीं रहता। मेरे राज्य में ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिक सभी आहिताग्नि अर्थात् साग्निक हैं। मेरे राज्य में कोई मूर्ख नहीं है। इसी तरह मेरे राज्य में परस्त्रीगामी स्वेच्छाचारी पुरुष नहीं है। स्वेच्छाचारी पुरुष नहीं कहने से ही स्वेच्छाचारिणी स्त्री भी संभावित नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् में जो केकयराज्य का उपाख्यान वर्णित हुआ है यही उपाख्यान महाभारत के शान्तिपर्व में ७७वें अध्याय में रूपान्तर से समुपवर्णित हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में "नमेस्तेनो जनपदे" यह श्लोक कहा गया है। महाभारत के शान्तिपर्व के ७७वें अध्याय में भी केकयराज की उक्ति में यही श्लोक वर्णित देखा जाता है। उपनिषद् और महाभारत की इन उक्तियों को ध्यान से पढ़ने पर प्राचीन भारत के आदर्श राष्ट्र के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा। महाभारत के इस अध्याय में केकयराज ने अपने राष्ट्र के चारों वर्णों की अवस्था वर्णित की है। केकयराज ने कहा है कि मेरे राज्य में अविद्वान् ब्राह्मण नहीं है। ऐसा ब्राह्मण भी नहीं है जो व्रताचरण सम्पन्न न हो। मेरे राज्य के सभी ब्राह्मण सोमयज्ञ करने वाले एवं सभी आहिताग्नि तथा बहुदक्षिणा सम्पन्न अनेक यज्ञों के अनुष्ठाता हैं। सब ही अध्ययन-अध्यापन में तत्पर, यजन-याजन कर्म में निष्ठा रखने वाले तथा दान और प्रतिग्रह के अनुष्ठाता हैं। सभी ब्राह्मणगण सत्यवादी, कोमल स्वभाव तथा आश्रित एवं पोष्यवर्ग के परिपालक हैं। मेरे

राष्ट्र का क्षत्रियवर्ग दूसरों के सामने याचना करने वाला नहीं है किन्तु याचकों की प्रार्थित वस्तु सम्मानपूर्वक उनको देने वाला एवं सत्यनिष्ठ है। सभी क्षत्रियगण अध्ययन करते हैं, किन्तु अध्यापन नहीं करते। अनेक प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठाता हैं किन्तु दूसरों के यज्ञ नहीं कराते। मेरे राष्ट्र में क्षत्रियगण ब्राह्मणों के रक्षक एवं युद्ध से कभी विमुख नहीं होने वाले हैं।

मेरे राष्ट्र का वैश्य समाज छल रहित होकर कृषि, पशुपालन, वाणिज्य कर्म में तत्पर, आलस्यहीन और सत्यवादी है। अपने पोष्यवर्ग का प्रतिपालक सबके साथ सौहार्द्र रखने वाला, इन्द्रिय विजेता और पवित्र है। मेरे राष्ट्र का शूद्रगण ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों के उपकारक अनेक तरह के कर्मों को करने वाला और असूया रहित है। मैं भी निर्धन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, पीड़ित तथा स्त्रीजनों के पोषण में सदा तत्पर रहता हूँ। इसी तरह पुरुषों का भी मैं पोषण करता हूँ। मेरे राष्ट्र के रहने वाले व्यक्तियों में जिसके जो कुलधर्म देशधर्म आदि हैं, मैं उनका सदा परिपालन करता हूँ। मैं उनको नष्ट नहीं होने देता। मेरे राज्य में जो सब तपस्वी रहते हैं, मैं उनका सत्कार पूर्वक पालन करता हूँ। मैं अपने आश्रित पोष्यवर्ग में अपनी भोग्य वस्तुएँ समान रूप से बाँट देता हूँ। मैं कभी भी दूसरों की स्त्रियों में आसक्त नहीं होता। मेरे राज्य में ब्रह्मचारी के अतिरिक्त भिक्षुक नहीं हैं। वेद को न जाननेवाला व्यक्ति मेरे राज्य में ऋत्विक् कर्म नहीं करता। विद्वान्, वृद्ध और तपस्वी वर्ग का मैं कभी अपमान नहीं करता। सारा राष्ट्र जब सोता है तब भी मैं जाग्रत रहता हूँ। आत्म-ज्ञान सम्पन्न, तपस्वी, सब धर्मों को जानने वाला, बुद्धिमान् मेरा पुरोहित ही मेरे सारे राष्ट्र का मालिक है। मैं दान द्वारा विद्या-संग्रह करने में सदा उत्सुक रहता हूँ। सत्य से अर्थ संग्रह करता हूँ। मैं सुश्रूषा पूर्वक गुरु का अनुगमन करता हूँ। मेरे राष्ट्र में कभी किसी की अकाल मृत्यु नहीं होती। इसलिए मेरे राष्ट्र में विधवा स्त्री नहीं है। मैं युद्ध से कभी नहीं डरता। मेरे शरीर का दो-उँगलीपरिमित स्थान भी शस्त्राघात के चिह्नों से खाली नहीं है।

शान्तिपर्व के ५७वें अध्याय में कहा है कि जिस राजा के राज्य में सारी प्रजा पिता के घर में पुत्र की तरह निर्भय-निःशंक होकर घूमती है, उसी राजा को श्रेष्ठ राजा कहा जा सकता है। जिस राजा के राज्य में पुरवासी और जनपदवासी अपने धन रत्न आदि को छिपाने की चेष्टा न करे, उस राजा को श्रेष्ठ राजा कहा जाता है। साधारणतः लोग चोर-डाकुओं के भय से अपनी धनराशि को छिपा कर रखते हैं। इसी तरह पड़ोसियों के तथा राजा के भय से भी लोग अपना धन छिपा कर रखते हैं। जहाँ इस तरह के भय की कोई संभावना न हो वहाँ के रहने वाले लोग धन को छिपाने का प्रयत्न नहीं करते। जिस राजा के पुरवासी एवं जनपदवासी नीति और अनीति को जानने वाले होते हैं

उस राजा को श्रेष्ठ राजा कहा जाता है। न्याय और अन्याय दण्डनीतिशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। राष्ट्र का कल्याण और अकल्याण इसी दण्डनीति पर निर्भर है। जो राजा अपनी प्रजा को उनके कल्याण और अकल्याण का मार्ग अच्छी तरह समझा पाता है एवं किस कार्य से राष्ट्र का कल्याण होगा, किस कार्य से अकल्याण होगा, यह बात जिस राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति जान कर तदनुकूल आचरण करता है तथा जिस राष्ट्र के सभी लोग राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को जानते हैं, उस राष्ट्र के राजा को श्रेष्ठ राजा कहा जाता है। राजा राष्ट्र की शिक्षा का प्रबन्ध इस तरह करे कि जिससे उसके राष्ट्र का हर व्यक्ति राष्ट्र के कल्याण और अकल्याण को अच्छी तरह समझ सके और तदनुकूल कार्य करने का अभ्यस्त हो जाय।

जिस राजा के राष्ट्रवासी सर्वदा अपने-अपने कार्य में निरत रहते हैं, आलसी होकर खाली नहीं बैठते हैं, न राजा के विरुद्ध कोई अपना अलग संगठन करने का प्रयास करते हैं और न कोई हीन निन्द्य कर्म ही करते हैं—उस को श्रेष्ठ राजा कहा जाता है। राज्य की प्रजा—जब राजा से जैसा चाहिये वैसें प्रतिपालित नहीं होती है—तब वह राजा के विरुद्ध दलबन्दी करती है और हिंसादि जुगुप्सित कर्म करने में प्रवृत्त हो जाती है। प्रजापालन की सुव्यवस्था होने पर राष्ट्रवासी कभी भी राजा के विरुद्ध दलबन्दी करने का उद्योग नहीं करते और न हिंसा सरीखे गर्हित कर्म करने में ही प्रवृत्त होते हैं। जिस राज्य की प्रजा सदा राजा के अनुगत रहती है, राजा के आदेश का कभी विरोध नहीं करती, राजा के इशारे पर काम करने को तत्पर रहती है और जिस राज्य की प्रजा आपस में संघर्षशील नहीं होती उस राज्य के राजा को उत्तम कहा जाता है। जिस राजा के राज्य की सारी प्रजा विपत्ति में फँसे व्यक्तियों की रक्षा के लिए धन व्यय करने में उत्साहशील है और जिस देश का राजा ज्ञानियों के सत्कार में निरत रहता है, गुणग्राही है, प्रजा की भलाई में उद्यत रहता है तथा सज्जनोचित मार्ग का अनुगामी है—उसको उत्तम राजा कहा जाता है। जो राजा सज्जनों के संग्रह में यत्नशील है तथा प्रजावर्ग के शौर्य, कर्म-कुशलता और सत्यनिष्ठा के परिवर्द्धन के लिए सदा यत्नशील रहता है, उसको श्रेष्ठ राजा कहा है। जिस राज्य में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता, जिस राजा की प्रजा अपनी इच्छा के अनुसार घर के दरवाजे खोलकर रात्रि में सुख से सोती है। जिस राज्य की प्रजा मानवीय तथा दैवी उत्पातों से पीड़ित नहीं है, जिस राज्य में रमणियाँ अपने रक्षक पुरुष को बिना साथ लिये ही सब अलंकारों से सुसज्जित हो यथेच्छ सर्वत्र घूम फिर सकें उस राज्य के राजा को श्रेष्ठ राजा कहा जाता है। जिस राज्य का प्रजावर्ग आपस में हिंसा-विद्वेष न रखकर परस्पर प्रीति सम्पन्न होकर एक दूसरे पर अनुग्रह दृष्टि रखता हो, उस देश के राजा को उत्तम राजा कहा

जाता है। जिस राज्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनों वर्ण महायज्ञ आदि करें और विशेष यत्न से विद्याभ्यास करें उस राज्य के राजा को उत्तम राजा माना जाता है। जिस ग्राम के ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण विद्याध्ययन में यत्नशील न हों और ग्राम वासियों की सहायता से तीनों वर्णों के बालक अन्न संग्रह कर अपना जीवन चलावें, उस ग्राम के निवासियों को राजा साधारण रूप से दण्डित करे। "अव्रताह्यनधीयानाः यत्र भैक्ष्यचराद्विजाः। तं ग्रामं दण्डयेद् राजा चौर भक्त प्रदोहिसः ।।" (अत्रिसंहिता २२ श्लोक पराशर संहिता ३।४६ श्लोक।)

कृषि, पशुपालन और वाणिज्य आदि लोक रक्षक वार्ता कर्म जिस राज्य में अच्छी तरह होते रहते हैं उस राज्य के राजा को श्रेष्ठ राजा कहा जाता है। राजाओं का यह अवश्य कर्तव्य है कि चोर आदिकों से चुराये हुए प्रजा के द्रव्य को उनसे लेकर प्रजा को—जिसका जो धन है वापस देदें। यदि कहीं चोरों से वापस न लिया जा सके तो राजा अपने कोष से अपहृत धन के बराबर का धन प्रजा को अवश्य दे दे। (विष्णुसंहिता ३।४६ शांतिपर्व ७५।१०) जिस राज्य के अन्तर्गत सब गांव सर्वदा खेती से पूर्ण हों एवं गाय भैंस आदि बहु पशु समन्वित हों, जिन गाँवों की प्रजा धार्मिक हो, जिस राष्ट्र के ग्राम निवासी सभी हृष्ट-पुष्ट हों, उद्वेग रहित हों, दूसरे राष्ट्र के आक्रमणों के दुःख से अनभिज्ञ हों, और अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, महामारी आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों से अपरिचित हों, ऐसे गांवों के समूह वाला राष्ट्र सब राष्ट्रों में श्रेष्ठ समझा जाता है। (उद्योगपर्व ८४ अध्याय)। जिस राष्ट्र के दीन, अनाथ, वृद्ध और विधवा स्त्रियाँ राजा की सहायता से सुख से जीवन बिताते हों वही राजा श्रेष्ठ होता है। जिस राष्ट्र के राष्ट्रवासी शिल्पिगण अनेक तरह के शिल्प कर्म में निष्णात हों और सर्वदा अनेक कार्यों में नियुक्त रहें उस राष्ट्र का राजा श्रेष्ठ कहा जाता है।

जिस राष्ट्र के किसान राज्य के मेरुदण्ड समझें जायँ (कमर के बीच की हड्डी में ही सब हड्डियाँ जुड़ी होती हैं इसलिये उसका स्थान महत्वपूर्ण होता है), जिन किसानों से अतिरिक्त कर न लिया जाय और जिस राज्य के वणिक्‌जन राजकर के बोझ से उद्विग्न एवं पीड़ित न हों उस राज्य के राजा को श्रेष्ठ राजा कहा है। जिस राष्ट्र का शूद्रवर्ण अनेक तरह के कर्मों में निरत रह कर राष्ट्र की उन्नति का कारण होता है उस राष्ट्र के राजा को श्रेष्ठ राजा कहा है।

राष्ट्रवासी जनों की आपस में सहायता

प्राचीन भारत की राष्ट्र व्यवस्था की आलोचना करने पर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि राष्ट्रवासी जनों में आपस में एक दूसरे की सहायता करने की प्रवृत्ति को प्रबुद्ध करा देना राजा का एक प्रधानतम कार्य बतलाया गया है। मौखिक

आपस की एकता का आडम्बर दिखा कर कार्यरूप में हजारों भेद-भाव से उसको जर्जरित कर देने की व्यवस्था प्राचीन भारत की दण्डनीति में नहीं है। राष्ट्रवासी जनों में आपस में सुदृढ़ एकता बनाये रखने के लिए किसी रूप में भी राष्ट्रिय व्यवस्था हम आज वर्तमान में नहीं देखते हैं। अनेक तरह के और बहुत से नये नियमों का विधान प्रचलित करने के लिए कुछ दिन से विशेषरूप से प्रयत्न होने पर भी आपस में एक दूसरे की सहायता करने की प्रवृति को उद्बुद्ध करने जैसा कोई भी नियम चालू करने का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

मनुसंहिता के ९ वें अध्याय के २७४ श्लोक में कहा गया है कि जिस समय दुराचारी चोरगण एक दल बनाकर आग लगाना, लूटपाट करना, नर-हत्या करना तथा स्त्रियों को सताना आदि दुष्कर्मो से ग्रामों को नष्ट करने लगे उस समय इसको देखकर यदि आस पास के गाँव वाले लोग उसको रोकने के लिए आपस में सम्मिलित हो उन चोरों को रोकने का प्रयत्न न करें तो उस गाँव के आस पास वाले ग्रामवासियों को राजा राष्ट्र से निकाल दे। किसी भी राष्ट्र में रहने पर उस राष्ट्र में रहने की योग्यता सम्पादन करना प्रत्येक जन का कर्त्तव्य होता है। यह योग्यता जिनमें नहीं है, उनको किसी भी राष्ट्र में रहने का अधिकार नहीं है। इसी तरह गाँव के या देश के कल्याण के लिए स्नान-पान और खेती के काम के लिए जो सारे तालाब आदि सुरक्षित रहते हैं, दुराचारी यदि उनको नष्ट करने का प्रयत्न करे और उनको रोकने के लिए आस पास में रहने वाले लोग सम्मिलित हो प्रयत्न न करें तो उनको राष्ट्र से निर्वासित कर देना होगा। इसीतरह नदी आदि के पुल आदि को तोड़ने से जल की बाढ़ से खेती आदि को नष्ट होते देख सुनकर उसका उचित प्रतिकार करने के लिए तैयार न हों तो उनको राष्ट्र से निकाल देना चाहिये। इसीतरह रास्तों में चोर आदि यदि किसी का धन लूटते हों, उसको देखकर भी जो उसके प्रतिरोध के लिए अपनी शक्ति के अनुसार आगे नहीं बढ़ते हों, उनको राष्ट्र से निकाल देना चाहिये।

इसीतरह याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहार प्रकरण में २३४ श्लोक में कहा गया है कि कहीं भी लोग विपत्ति में फँसकर आर्तनाद करें और उसको सुनकर लोग समर्थ होते हुए भी उन विपन्न व्यक्तियों की सहायता के लिये दौड़ न पड़ें तो उनको कठोर राजदण्ड से दण्डित करना चाहिये। विष्णु-स्मृति के पंचम अध्याय के ६४ वें सूत्र में कहा गया है कि चोर-डाकुओं के उपद्रव से पीड़ित हो आर्तनाद करते रहे और उनके सहचारी लोग या उनके आसपास रहने वाले लोग उनका आर्तनाद सुनकर समर्थ होते हुए भी उनकी सहायता के लिए न दौड़ पड़े, तो उनको कठोर राजदण्ड से दण्डित करना चाहिये।

इन सब बातों को ध्यान से विचारने पर स्पष्ट मालूम हो जायगा कि जन-पदवासियों में आपस में एक दूसरे की सहायता करने की वृत्ति को उत्तेजित कर

जनपदवासियों को जनपद में निरुद्वेग रहने के लिए व्यवस्था करनी होगी। वर्तमान समय में हम सोचते हैं कि इन सब जगहों में ग्रामीणों की सहायता करने के लिए अगुआ होना गर्हित कार्य है। हम इसके लिए उद्योगशील होकर व्यर्थ तकलीफ क्यों भोगें? इन सब झगड़ों को दिखाने पर भी हम न देखेंगे, सुनाने पर भी न सुनेंगे। अंधे-बहिरे होकर रहना ही हम ठीक समझते हैं। हमारा तो इसकी उपेक्षा कर देने में कोई व्यक्तिगत अनिष्ट होता नहीं है—ये सब बातें हम चिरकाल तक विदेशियों के शासन में रहकर अपना भला करना समझने लगे हैं। आज यदि इन पूर्वप्रदर्शित विषयों का पुनः प्रवर्तन हो तो सब लोगों में एक दूसरे की सहायता की प्रवृत्ति उद्बुद्ध हो जाय और जो उक्त अवसरों में नियमानुकूल सहायता न दें तो उनके लिए समुचित दण्ड की व्यवस्था की जाय तो इस दशा में जनपद वासियों का कुछ कल्याण हो सकता है। कुछ कल्याण न होने पर भी आखिर जो दूसरों की मदद करने में प्रवृत्त होंगे उनका मनुष्यत्व तो बना रहेगा। जो यह चाहते हैं कि राष्ट्रवासी जन पशु बनकर ही रहें उनकी दृष्टि तो कभी भी इस विषय पर आकृष्ट न होगी।

दुर्बल की रक्षा

महाभारत शांतिपर्व के ६१ वें अध्याय में भगवान् उतथ्य ने राजर्षि मान्धाता को दण्डनीति का उपदेश दिया है। उसमें उन्होंने कहा है कि राजा के दुर्नीतिपरायण हो जाने पर हाथी घोड़े, गौ, भैंस आदि सभी पशुवर्ग दुःखी हो जाते हैं; यहाँ तक कि वृक्ष, लता, घास आदि भी नष्ट हो जाती हैं। तब दुर्नीतिपरायण राजा के राज्य में प्रजापुंज विपद्ग्रस्त हो जाय, इसमें कुछ संदेह नहीं। हे मान्धाता! दुर्बल की रक्षा के लिए ही विधाता ने बल की रचना की है। दुर्बल को सताने के लिए बल की रचना नहीं की गई है। दुर्बल की रक्षा करने से ही रक्षक महाबलशाली होता है। दुर्बल की रक्षा करने के समान बलवर्द्धक कर्म और कुछ नहीं है। इसीलिये दुर्बल को महद्भूत कहा है। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यही है कि आर्यशास्त्रों में ब्रह्म को ही महद्भूत कहा है। भगवान् उतथ्य ने दुर्बल को भी महद्भूत कहकर निर्देश किया है। उतथ्य ने कहा है कि समस्त विश्व दुर्बल में ही प्रतिष्ठित रहता है। ब्रह्म की तरह दुर्बल ही विश्व की प्रतिष्ठा है। कितनी दूर प्रसारिणी दृष्टि रख कर यह बात कही गई है। इसको सोचने पर चित्त विस्मय सागर में निमग्न हो जाता है।

जो दुर्बलों के प्रतिपालक हैं, जो स्वभावतः दुर्बल की रक्षा के लिए सदा तैयार रहते हैं, वे भी दुर्नीतिपरायण राजा के राज्य में रहने से अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकते हैं। इसलिये ऐसे राज्य में रहकर वे और उनका अनुयायी वर्ग

दुःख-शोक ग्रस्त रहते हैं। हे मान्धाता! दुर्बल के नेत्र, तपस्विजनों के नेत्र और अत्यंत विषैले सांप के नेत्र, ये तीनों ही नेत्र दुर्विषह्य होते हैं। दुर्बल को सताने का जो प्रयत्न करता है वह उस दुर्बल के नेत्र से दग्ध हो जायगा। तुम दुर्बल को कभी मत सताना। हे मान्धाता! दुर्बल कई तरह के होते हैं, कोई धन दुर्बल, कोई ज्ञान दुर्बल, कोई शक्ति दुर्बल, कोई मान दुर्बल। सब तरह के दुर्बलों को तुम विशेषरूप से जानते होगे। सभी तरह के दुर्बल तुम से अपमानित न होने पायें। दुर्बल समझ कर किसी को अपमानित मत करना। तुम बलवान् हो—बलवान् होकर ही दुर्बल की रक्षा करना तुम्हारा कर्तव्य है। दुर्बल को सताने पर दुर्बल के नेत्र ही तुमको सबान्धव दग्ध कर देंगे। दुर्बल की आँखों में प्रलय की अग्नि रहती है। दुर्बल को सताने पर वह प्रलयाग्नि प्रज्वलित हो उठेगी और राष्ट्र-सहित तुम को भस्मीभूत कर देगी। जो राजा दुर्बल द्वारा दग्ध होता है, उसका वंश फिर नहीं चलता। दुर्बल की आँखों में जो घोर अग्नि रहती है वह उसके सताने वाले को समूल दग्ध कर देती है। हे मान्धाता! तुम कभी भी दुर्बल.को सताने में प्रवृत्त मत होना। जो दुर्बल को सताता है उस पर दैवी दण्ड पड़ कर उसका समूल संहार कर देता है।

कर ग्रहण की रीति

राजा राष्ट्रवासी जनों से कर ग्रहण करे। राजा इस तरह कर ग्रहण करे जिससे राष्ट्र का कृषकवर्ग तथा व्यापारिवर्ग अपने कामों से लाभ उठा सके। इतना कर न हो जिसमें वे उसके भार से आक्रान्त हो अपना कर्म ही छोड़ने पर बाध्य हो जायँ। किस चीज पर किस तरह कितना कर लगाना उचित है—इसकी विस्तृत आलोचना हम मनु, याज्ञवल्क्य, महाभारत, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि में देख पाते हैं। कर निश्चय करने की मूल नीति यही है कि—"यथा फलेन युज्यते राजा तथा कर्ताच कर्मणाम्। तथापेक्ष्य नृपोराष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान्। (मनु—७।१२८ श्लोक) कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि कर्मों के कर्ता और राष्ट्र का रक्षक राजा जिसमें दोनों ही अपने अपने कर्मों का फल पा सके, इस पर दृष्टि रखते हुए कर का निर्धारण करना होगा। कृषि आदि कर्मों के कर्ता और उन कर्मों को विघ्नों से बचाने वाला दोनों ही उचित लाभ उठा सके उसके अनुसार कर का निर्द्धारण करना चाहिये। कर निर्द्धारण करने की नीति को सुस्पष्ट समझने के लिए मनुसंहिता में कहा गया है कि जिस प्रकार जोंक रुधिर पीती है, बछड़ा दूध पीता है और भौंरा पुष्पों का रस पान करता है, इसीतरह राजा थोड़ा थोड़ा कर के वार्षिक आदि कर ग्रहण करे। (मनु ७।१२९ श्लोक।)

शांतिपर्व के ८८ वें अध्याय में ४।७ श्लोक उद्धृत करके मनु के श्लोकों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस अध्याय में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि भौंरे जैसे पुष्पों से मधु दोहन करते हैं, भौंरे पुष्पों का मधु ग्रहण करते हैं, उससे पुष्प नष्ट या छिन्न नहीं होता है, पुष्प की फल देने वाली शक्ति भी नष्ट नहीं होती--इसी तरह राजा भी कर देने वाले पुरुषों को पीड़ित न करके उनसे कर ग्रहण करे। गोपालन कर्ता जैसे धेनु को दुहता है उसमें गौ का बच्चा भी परिपुष्ट हो जाता है गौ के स्तनों में भी पीड़ा नहीं होती और गौ का पालन करने वाला भी गौ के पालन-पोषण का व्यय निकाल कर लाभवान् हो जाता है। बच्चे का विनाश और गौ के स्तनों को पीड़ा देकर यदि गोप गौ को दुहता है तो गो वंश का विनाश और गौ पालने वाले की वृत्ति का उच्छेद हो जाता है। जौंक जैसे मृदु उपाय से रुधिर पान करती है, राजा भी इसी तरह कोमलता से अपने राष्ट्र से कर वसूल करे। व्याघ्री जैसे अपने बच्चों को मुँह से पकड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाती है, बच्चों को दूसरे स्थान में ले जाते समय दन्त आदि से ही उनको पकड़ती है किन्तु उनको पीड़ित नहीं करती। वही व्याघ्री जब दूसरे किसी प्राणी को दाँतों से पकड़ती है तब उस व्याघ्री के मुँह में पड़े प्राणी की मृत्यु ही हो जाती है। किन्तु व्याघ्री के बच्चे सोते रहते हैं और व्याघ्री उनको मुँह में पकड़ कर दूसरे स्थान में ले जाती है। राजा भी व्याघ्री के बच्चों की तरह राष्ट्र की प्रजा को ग्रहण करे; किन्तु कभी उनको पीड़ित न करे। तेज दाँत वाला कोई चूहा सोते मनुष्य के पैर का चमड़ा बड़ी मृदुता से काटकर खा जाता है और सोता हुआ मनुष्य थोड़ी सी तकलीफ होने से जरा पैर को हिला भर देता है, किन्तु बड़ी तकलीफ की वजह से जाग कर चूहे को हटाता नहीं। इसी तरह राजा भी मृदु उपायों के द्वारा राष्ट्र से कर संग्रह करे।

बाजारों में ख़रीदी बेची जाने वाली चीज़ों के ऊपर राजा व्यापारियों से कर वसूल करे। इन चीजों पर कर निर्धारण करने में विशेषरूप से यह ध्यान रखना होगा कि जिस चीज पर हम कर लगा रहे हैं, उस चीज के खरीदने और बेचने का मूल्य क्या है? वह चीज कितनी दूर से लाई गई है, उसके लाने में कितना खर्च हुआ है? उस चीज़ को चोर आदि से बचाने के लिए क्या खर्च हुआ है? इन सब बातों की पूरी जाँच-पड़ताल करके बेचने वाले व्यापारी का खर्चा निश्चय करके खर्च के अलावा उस चीज में जो लाभ हो, उस लब्ध धन के अनुसार उस चीज पर राजा कर ले। इस विषय की आलोचना मनुसंहिता के सातवें अध्याय के १२७वें श्लोक में और महाभारत के राजधर्म के २७वें अध्याय के १३वें श्लोक में की गई है।

शस्त्र ग्रहण

नागरिकों के शस्त्र रखने की रीति—प्राचीन भारतीय प्रजा साधारण रूप से हर समय सशस्त्र रहती थी या निरस्त्र—यह जानने के लिए बहुत लोगों का आग्रह देखा जाता है। आपत्तिकाल में शस्त्र ग्रहण करना तो सभी वर्णों के लिए कर्त्तव्य-रूप से शास्त्रों में निर्दिष्ट है। (विष्णुस्मृति ३।२६।) किन्तु स्वस्थ दशा में आर्य सशस्त्र रहते थे अथवा निरस्त्र इसकी आलोचना मनुसंहिता के आठवें अध्याय के ३४८ वें श्लोक में दीख पड़ती है। "शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यम्" यह मनु ने कहा है। इसके भाष्य में मेधातिथि कहते हैं कि जो शस्त्र ग्रहण करने में समर्थ हैं उनको साधारणतया सदा शस्त्र धारण करना चाहिए। भाष्यकार कहते हैं कि स्वस्थ दशा में पुरुष यदि निरस्त्र है और इस दशा में वह कदाचित् किसी आततायी के हाथ पड़ जाय तो सशस्त्र पुरुष के द्वारा उस निरस्त्र पुरुष का विनाश अवश्यंभावी हो जाता है। यद्यपि राजा राष्ट्र रक्षा के लिए सदा उद्यत रहता है फिर भी यह सम्भव नहीं कि कोई राजा हर समय हर एक व्यक्ति की रक्षा की व्यवस्था कर सके। दुरात्मा आततायी लोग राजपुरुषों पर भी तो आक्रमण कर देते हैं। किन्तु सशस्त्र पुरुष को देख कर डर जाते हैं; सहसा उस पर आक्रमण नहीं कर पाते। इसलिए सर्वदा शस्त्र धारण करना कर्त्तव्य है। हर हालत में शस्त्र धारण करने पर भी वह कोष-ढँका रहना चाहिए, खुला नहीं रखना चाहिए। आपत्ति आने पर ही उसको कोष से निकालना और शत्रु के आक्रमण करने पर उस शस्त्र से उसका वध भी कर देना चाहिए। इसमें कोई अपराध नहीं होगा। इस तरह मेधातिथि स्वस्थ दशा में और आपत्ति काल में शस्त्र ग्रहण करने का उपयोग बताते हैं। भाष्यकार मेधातिथि के बाद के टीकाकारों ने भाष्यकार की इस व्याख्या को ठीक कहना उचित नहीं समझा।

भाष्यकार मेधातिथि और भी कहते हैं—अपनी रक्षा के लिए और धर्म रक्षा के लिएजैसे शस्त्र का उपयोग है। इसीतरह दुराचारियों से दुर्वल की रक्षा करने में भी सशस्त्र ही समर्थ होता है। गौतमस्मृति से एक सूत्र उद्धृत करके भाष्यकार मेधातिथि ने इसका समर्थन किया है—"दुर्बलहिंसायांच विमोचने शक्तश्चेत्" (गौ० सू०)।

महाभारत के शान्तिपर्व के ७८ वें अध्याय में धर्म रक्षा के लिए सब वर्णों को शस्त्र ग्रहण करने की बात बतलाई है और धर्म रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण करके जो मौत के मुँह में चले जाते हैं, उनको उत्तम गति प्राप्त होती है, यही कहा है। जो धर्मरक्षा के लिए शत्रु के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हो देह त्याग कर देते हैं उनके सम्बन्ध में भीष्म कहते हैं कि "तेभ्योनमश्च भद्रंच येशरीराणि जुह्वते। ब्रह्मद्विषोनियच्छन्त स्तेषां नोऽस्तु सलोकता।" (शांतिप० ७८।३०)

इसका अर्थ है कि जो धर्म द्रोहियों को नष्ट करने के लिए युद्ध में जाकर अपने शरीर की आहुति दे चुके हैं, उनको हम नमस्कार करते हैं, उनका कल्याण हो गया है। ऐसे पुरुष मर कर जिन लोकों में जाते हैं हमको भी वे ही लोक प्राप्त हों। भगवान् मनु ने इन सब वीर पुरुषों को स्वर्गगामी और ब्रह्म लोक-गामी कहकर निर्देश किया है। किसी जगह धर्म ही अधर्म हो जाता है और कहीं अधर्म भी धर्म हो जाता है। देशकाल की विचित्रता से ऐसा हो जाता है।

धनिक निर्धन समस्या

विदेशी वर्णव्यवस्था या जाति-व्यवस्था को नहीं मानते हैं। किन्तु धनी और निर्धन यह दो प्रकार की जाति वा वर्ण तो बिना विचारे सभी स्वीकार करते हैं। धनिकों की प्रभुजाति और निर्धनों की शोषणीय जाति है। धनिकों की भक्षक जाति और निर्धनों की भक्ष्य जाति। धनिकों की मानी जाति और निर्धनों की निरभिमान जाति—यह सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु भाषा की कठोरता के परिहार के लिए कोमल शब्दों से इसका उपपादन करते हैं। फल यह हुआ है कि धनी जाति और निर्धन जाति आज वर्तमान समय में भक्षक और भक्ष्य रूप में परिणत हो गई है। भक्षक और भक्ष्य एक जगह पर रहने से उनका जो आपस में संघर्ष अनिवार्य होता है, वर्तमान में उसकी नग्न मूर्ति सर्वत्र दीख पड़ रही है। निर्धन जाति धनवान् का अन्न है। धनवान् जाति सोचती है कि हम सब लोग भोक्ता हैं। हम किसी के भोग्य नहीं। धनवान् लोग निर्धन जाति को अपना भोग्य बनाना न भी चाहें तो भी उनके कार्यों से निर्धन जाति धनवानों का भोग्य ही हो जाती है। हमने इसके पूर्व अनेक तरह के दुर्बलों का उल्लेख किया है। भारतीय राजनीतिशास्त्र में निर्धन भक्ष्य और धनवान् भक्षक होना संभावित नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के लिये धन के उपयोग के लिए धार्मिक और राष्ट्रिय व्यवस्थाएँ मौजूद थीं। विभाग बिना किये कोई भी धन संचय करने का अधिकारी नहीं होता था। संविभाग बिना किये जो धन संचय करता था उसको कदर्य कहा जाता था। इस कदर्य को राष्ट्र-कण्टक कह कर नीतिशास्त्रकार निर्देश करते थे। यदि कोई अपनी इच्छा से धन का विभाग नहीं करना चाहता था तो राष्ट्रिय व्यवस्था के अनुसार धनी के धन का विभाग कराना होता था। अथवा किसी सत्कार्य के लिए राजशासनानुसार राजा उसको ले लेता था।

महाभारत के आपद्धर्म के १६५वें अध्याय के १०२ श्लोक में कहा गया है कि "अदातृभ्यो हरेद्वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा। तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्याद् यथाखिलः।" जो धनवान् व्यक्ति अपनी इच्छा से धन का विभाग न करके केवल संचय करने में लगे रहते हैं ऐसे अदाता धनियों से राजा सत्कार्य के लिए उनका

धन ग्रहण कर ले। अदाताओं से धन लेकर राजा उस धन को प्रजा के कल्याण के लिए खर्च करे। इससे राजा धार्मिक कहलाता है।

जो व्यक्ति भूख से व्याकुल है वह कहीं से भी अन्न ले ले। इसमें उसका कोई अपराध नहीं समझा जायगा और उसको पाप भी न होगा और न राज-दण्ड ही होगा। मनुसंहिता के ग्यारहवें अध्याय के १७वें श्लोक में कहा है कि जिनका पोषण करना आवश्यक है, उनके पालन मात्रोपयोगी अन्न का अभाव हो जाने पर, अथवा अवश्य करणीय धर्म कार्य के लिए दान आदि कुछ भी धर्म न करने वाले धनवान् कृपण व्यक्ति के घर से, उसके खेत से अथवा उसके खलिहान् से या जहाँ कहीं से मिल सके वहीं से अन्नादि ले सकता है। खेत का मालिक यदि जानना चाहे कि तुम किसलिए इस वस्तु का अपहरण करते हो तो उसको निमित्त बता दे। न पूछे तो निमित्त न बताये। यही बात महाभारत के शान्तिपर्व के १६५ वें अध्याय १२।१३ श्लोक में कही गई है। किन्तु निर्धन या प्रसिद्ध दाता के यहाँ से इस तरह किसी वस्तु का अपहरण न करे।

मनुसंहिता में इस विषय में और भी कहा है—असद् उपायों द्वारा कृपण और असाधु के पास से धन लेकर जो व्यक्ति साधु जनों को देता है वह व्यक्ति साधु और असाधु दोनों का ही रक्षक होता है। जैसे तालाब आदिकों से छोटी-छोटी नालियों के द्वारा जल निकालकर खेत में दिया जाता है, उसी तरह असाधु धनी पुरुष से धन लेकर सज्जन को दे दे। जो व्यक्ति इसतरह धन लेकर देते हैं वे अपना धन न देने पर भी एक स्थान से दूसरे स्थान में धन के जाने के लिए स्वयं सेतुरूप होते हैं। जो व्यक्ति इसतरह सेतु स्थानीय हैं, उनको पूर्ण धर्मज्ञ कहा है। यही बात शान्तिपर्व के १३६ वें अध्याय के ७वें श्लोक में कही है। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए ही अन्नादि वस्तुएँ पैदा हुई हैं। पेट भरने से ज्यादा अन्न जो अपना कर रखता है वह चोर है। चोर की तरह उसका भी दण्डित होना उचित है।

नीतिशास्त्रकारों ने कहा है कि जो सौ गौओं का मालिक है, वह भी केवल एक दो गौओं का ही दूध पी सकता है। बहुत गौएँ हैं इसी से वह दो चार मन दूध नहीं पी सकता और न पीने की उसमें समर्थ्य ही है। जिसके पास बहुत सा अन्न है, जो प्रतिवर्ष दो चार हजार मन अन्न पैदा करता है, वह भी प्रति-दिन सेर भर अन्न ही खा सकता है। बहुतअन्न है इसी से वह प्रतिदिन दो चार मन अन्न नहीं खा सकता और न इतना भोजन करने की ही समर्थ्य उसमें है। जिस धनवान् के अनेक जगह बड़े लम्बे चौड़े महल हैं, जो बड़े महलों का मालिक है, वह भी उन सभी महलों में फैल कर नहीं बैठ सकता। बड़े मकान हैं, इससे वह सब मकानों में शरीर फैलाकर नहीं सो सकता। किन्तु उस मकान के अन्दर एक किसी कमरे के एक कोने में ही बिछी हुई चारपाई के एक भाग

में ही सोता है। दूसरे एक हिस्से में उसकी पत्नी सोती है। सुतरां देखा जाता है कि बहुत से धन का मालिक, बहुत से अन्न का मालिक, बहुत से मकानों का मालिक, जिस सम्पत्ति को अपनी समझ रहे हैं, कार्यरूप में वे उस सम्पत्ति के बहुत थोड़े से अंश के भोक्ता हैं। जिस सम्पत्ति के वे भोक्ता नहीं हैं, उस सम्पत्ति के वे वास्तविक मालिक भी नहीं हैं। इच्छा से या अनिच्छा से वे दूसरों की सम्पत्ति को ही अपनी समझ रहे हैं। उसके भोगने योग्य ऐश्वर्य से अधिक ऐश्वर्य जो दूसरों का ही भोग्य है, दूसरे ही उसका उपभोग करेंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। वस्तु के स्वभाव के कारण ही वस्तु व्यवस्थित रहती हैं—नीति शास्त्रकारों ने भी स्पष्ट रूप से यही निर्देश किया है। जो वस्तु एक के भोग्य योग्य नहीं, उसको दूसरों को न भोगने देना दुराग्रह मात्र है। "दानभोगफलं धनम्"—दान और भोग में धन का उपयोग होता है। दान और भोग से वर्जित धन पर किसी का अधिकार नहीं हो सकता। इसीलिए दान और भोग से विवर्जित धन के अधिकारी को राष्ट्र कण्टक बतलाया है। "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः" (ऋक् ८।६।२३)। इस ऋक् मंत्र में भी यही बात कही गई है। "अयंवा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः" (वृहदारण्यक १।४।१६)। यह श्रुति भारतीय हिन्दू गृहस्थ मात्र को ही लक्ष्य करके कही गई है कि देहाभिमानी गृहस्थ मात्र ही जिससे सुदृढ़ निश्चय रखें कि वे सारे देवता से लेकर कीट पतंग पर्यन्त के भोग्य होकर ही भारत भूमि में आये हैं। सारे प्राणियों में अपने को आहुत करने के लिए, समस्त प्राणियों में अपने को विसर्जित करके और सारे अभिमान को उच्छिन्न और विलीन करके सुनिर्मल होने के लिए भारत के गृहस्थ हुए हैं। गृहस्थ का यह त्याग-व्रत संन्यास की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। अपना सब कुछ सब प्राणियों में विसर्जित कर जीव शिवत्व-ब्रह्मत्व लाभ करता है।

निर्घण्ट-पत्र